

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186612

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 199.492**

Accession No **H 3462**

Author **S 75 Sp**
स्पिनोजा, बैरुक

Title **स्पिनोजा : नीति** 1962.

This book should be returned on or before the date last marked below

प्रथम संस्करण, १९६१

Checked 1968

मूल्य ६ ५० रु०

Checked 1969

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

ईश्वर क्या है, पदार्थ या द्रव्य क्या है, आत्मा-परमात्मा में अन्तर क्या है, हमारे लिए क्या कर्त्तव्य है, क्या अकर्त्तव्य आदि अनेक प्रश्नों पर मनुष्य अनन्त-काल से विचार करता रहा है। पूरब और पश्चिम, दोनों के ही चिंतकों ने अपनी अपनी पहुँच और अध्ययन-मनन के आधार पर इन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की है। पश्चिम के ऐसे विचारकों में स्पिनोज़ा का विशिष्ट स्थान माना जाता है। पाश्चात्य दार्शनिकों की लम्बी शृंखला में वह एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम करता है। 'नीति' में उसने मनुष्य के ध्येय और कर्त्तव्य की ही चर्चा नहीं की है वरन् इस प्रश्न पर भी विचार करने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर और उसकी सृष्टि में मनुष्य का स्थान क्या है और वह अपनी बुद्धि एवं चिंतन से क्या कर सकता है। इस प्रकार 'नीति' सम्बन्धी ग्रन्थ होते हुए भी इसमें तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक विवेचन भी है। पाश्चात्य दर्शन एवं नीति-विज्ञान में इसकी उपयोगिता समझकर ही हिन्दी समिति द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। इसके अनुवादक डाक्टर दीवानचन्द पश्चिमी दर्शन के भी अच्छे ज्ञाता हैं और पूर्वी के भी। आपकी लिखी तीन मौलिक पुस्तकें हम पहले प्रकाशित कर चुके हैं। अतः हिन्दी के पाठक आपकी शैली, भाषा एवं विद्वत्ता से यथेष्ट परिचित हो ही चुके हैं। ऐसी स्थिति में इस स्थल पर आपका और अधिक परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

विषय
परिचय

पृष्ठ
१

पहला भाग

ईश्वर के विषय में

१. परिभाषाएँ	१५
२. स्वयतथ्य	१६
३. साध्य (१-३६)	१७
४. परिशिष्ट	४६

दूसरा भाग

मनकी प्रकृति और स्रोत के विषय में

१. प्राक्कथन	५५
२. परिभाषाएँ	५५
३. स्वयतथ्य	५६
४. साध्य (१-४९)	५६

तीसरा भाग

उद्वेगों के स्रोत और उनकी प्रकृति के विषय में

१. प्राक्कथन	१०४
२. परिभाषाएँ	१०५
३. स्वीकृत पक्ष	१०६
४. साध्य (१-५९)	१०६
५. उद्वेगों की परिभाषाएँ	१५४
६. उद्वेगों की सामान्य परिभाषा	१६७

विषय

पृष्ठ

चौथा भाग

मानव-दासता या उद्दोगों की शक्ति

१. प्राक्कथन	१६९
२. परिभाषाएँ	१७२
३. स्वयतथ्य	१७४
४. साध्य (१-७३)	१७४
५. परिशिष्ट	२२७

पाँचवाँ भाग

बुद्धि की शक्ति या मानव-स्वाधीनता के विषय में

१. प्राक्कथन	२३५
२. स्वयतथ्य	२३८
३. साध्य (१-४२)	२३८
४. पर्यायवाची शब्द	२६४

परिचय

१. जीवन और व्यक्तित्व

सत्रहवीं शताब्दी प्रतिभा की शताब्दी समझी जाती है। जिन लोगो ने इसे यह गौरवपूर्ण पद दिलाया है, उनमें स्पिनोजा का नाम बहुत प्रसिद्ध है। बैरुक स्पिनोजा (१६३२-१६७७ ई०) एम्स्टर्डम, हालैंड में एक यहूदी परिवार में पैदा हुआ। आम यहूदी युवको की तरह उसकी शिक्षा में भी धर्म एक प्रधान विषय था। उसकी योग्यता को ध्यान में रखते हुए उसके पिता और यहूदी मंडल को उससे बड़ी आशाएँ थी, परन्तु वे पूरी न हुई। जो कुछ उसने पढ़ा, उससे उसके विश्वासों को कड़ी चोट लगी। उसने अपने सन्देशों को गुप्त नहीं रखा, और इसके फलस्वरूप २४ वर्ष की आयु में उसे यहूदी विरादरी से निकाल दिया गया। जिस समारोह में उसका बहिष्कार हुआ, उसमें आदेश दिया गया कि कोई यहूदी उसके साथ न बात करे, न पत्र-व्यवहार करे, कोई उसे किसी प्रकार की सहायता न दे, उसके साथ एक मकान में न रहे, कोई चार हाथ से अधिक उसके निकट न आये, कोई उसके लिखे या लिखाये पत्रक को न पढ़े।

स्पिनोजा को पिता का घर छोड़ना पड़ा। उसने जीवन के शेष २० वर्ष कभी यहाँ, कभी वहाँ गुजारे। यहूदी प्रथा के अनुसार हर एक विद्यार्थी को कोई हाथ का काम सीखना होता था। स्पिनोजा ने ताल (लैन्ज) रगड़ने का काम सीखा था, उसी को उसने पेशा बनाया। वह प्रायः एक कमरे में रहता, उसी में काम करता तथा उसी में मिलनेवालों से मिल लेता था। ताल रगड़ना साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त साधन था, समय का अधिक भाग ज्ञान-ध्यान और मनन में गुजरता था। उसने कुछ पुस्तकें लिखी, जिनमें चार प्रसिद्ध हैं और इनमें भी 'नीति' सबसे प्रसिद्ध है। उसके मित्रों ने यत्न किया कि आर्थिक सहायता देकर उसे मुविधा पहुँचाये। एक बार उसे हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का पद भी पेश किया गया, परन्तु वह जिस हालत में था, उसी में रहना चाहता था। उसकी स्थिति और उसकी कृति को ध्यान में रखते हुए, एनेटोले-

फ्रान्स ने कहा है—“यदि नेपोलियन में अधिक बुद्धिमत्ता होती तो वह किसी छत की कोठरी में जा रहता और चार पुस्तकें लिखता। ‘नीति’ १६६५ में समाप्त हुई, परन्तु यह स्पिनोज़ा के जीवन-काल में प्रकाशित न हो सकी, उस समय धार्मिक और राजनीतिक स्थिति बहुत प्रतिकूल थी। स्पिनोज़ा ने क्षयरोग को विरासत में पाया था। जिस वातावरण में उसका जीवन व्यतीत हुआ और जो पेशा उसने अपनाया, उनसे रोग की रोक-थाम तो क्या होती, उल्टे वे उसके सहायक हुए, और वह ४४ वर्ष की आयु में ही चल बसा।

२. पश्चिमी दर्शन में स्पिनोज़ा का स्थान

पश्चिम के आधुनिक दर्शन में दो नाम विशेष महत्त्व के हैं—बेकन और डेकार्ट। बेकन दार्शनिक न था, तो भी उसने दार्शनिकों को एक नये मार्ग पर चलने का परामर्श दिया। अनुभववाद इसका परिणाम था। डेकार्ट (१५९६-१६५० ई०) को आधुनिक दर्शन का पिता कहा जाता है। उसने यत्न किया कि दर्शन को गणित की निश्चितता प्राप्त हो। उसकी तरह स्पिनोज़ा और लाइबनिज भी गणितज्ञ थे, और यूरोपीय महाद्वीप के इन तीनों विचारकों ने सत्ता के स्वरूप को समझने का यत्न किया। तीनों ने अपने विवेचन में निगमन का प्रयोग किया, गणित इस विधि का सर्वोत्तम नमूना है। स्पिनोज़ा ने डेकार्ट को ध्यान से पढ़ा था और अनुभव किया था कि डेकार्ट के सिद्धान्त में कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिन्हें डेकार्ट दूर नहीं कर सका। स्पिनोज़ा का विवेचन अधिकतर इन कठिनाइयों से बचने का यत्न ही था। डेकार्ट ने सत्ता को चेतन और अचेतन दो सर्वथा भिन्न रूपों में देखा, पुरुष में चेतना है, विस्तार नहीं, प्रकृति में विस्तार है, चेतना नहीं। ऐसी दो वस्तुओं में कोई सबध नहीं हो सकता, परन्तु हम इस सबध को प्रतिक्षण देखते हैं। मैं लिखने का निश्चय करता हूँ, और मेरे शरीर के अंग, जो प्रकृति का भाग हैं, क्रिया करने लगते हैं, दूसरी ओर बाहर मोटर गुजरती है, और मैं उमका शब्द सुनता हूँ। यह गाँठ खुल नहीं सकती थी, तो क्या कट भी नहीं सकती थी? स्पिनोज़ा और लाइबनिज दोनों ने इसे काटने का यत्न किया, परन्तु अपने अपने ढंग पर। स्पिनोज़ा ने कहा कि कठिनाई का मूल यह है कि डेकार्ट भिन्न प्रकृति के दो द्रव्यों को मानता है, यह स्वीकृति ही निर्मूल है। सत्ता केवल एक ही द्रव्य की है; यह अनन्त है और इसके अनन्त गुण हैं। इनमें से चिन्तन और विस्तार दो गुणों से हम परिचित हैं, क्योंकि हम इनका ही

मिश्रण है। प्रत्येक मन ईश्वरीय चिन्तन का एक आकार है, और प्रत्येक भौतिक पदार्थ ईश्वरीय विस्तार का एक आकार है। वक्र रेखा एक ओर से नतोदर दीखती है, दूसरी ओर से उन्नतोदर। इन दोनों में कारण-कार्य का सबन्ध नहीं। इसी तरह चिन्तन और विस्तार एक-मात्र द्रव्य के दो पक्ष हैं; इनमें या इनके आकारों में कारण-कार्य सबन्ध हो ही नहीं सकता। स्पिनोजा ने डेकार्ट के द्वैतवाद को अस्वीकार किया और अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। लाइबनिज ने अनेकवाद को अपनाया और कहा कि सत्ता असंख्य चिद्बिन्दुओं से बनी है, परन्तु वे सब एक दूसरे से सर्वथा असंबद्ध हैं। प्रत्येक जो कुछ जानता है अपनी बाबत ही जानता है, परन्तु उन घड़ियों की तरह जो चलती अलग हैं परन्तु समय एक ही दिखाती हैं, प्रत्येक मन अपनी बाबत जानते हुए अन्य मनों की बाबत भी जानता है।

३. स्पिनोजा की विवेचन-विधि

स्पिनोजा ने अपनी पुस्तक का नाम रखा—

नीति

रेखा-गणित की विधि से उपपन्न

स्पिनोजा के सिद्धान्त पर कुछ कहने से पहले यह उचित होगा कि हम उस विधि को समझ लें जिसका उसने प्रयोग किया। रेखागणित के साथ यूक्लिड का नाम विशेष रूप से संबद्ध है, अब भी उसकी विधि मान्य है। किसी साध्य को सिद्ध करने का अर्थ क्या है? यही कि हम इसे किसी ऐसी प्रतिज्ञा से संबद्ध कर दें, जिसे सत्य स्वीकार किया जाता है। यदि इसके सबन्ध में कोई शका करे तो इससे परे किसी ऐसी प्रतिज्ञा को ढूँढते हैं जिस पर यह आधारित है और जिसमें सदेह नहीं होता। आवश्यकता हो, तो हम पीछे हटते जाते हैं और अन्त में ऐसी प्रतिज्ञाओं तक जा पहुँचते हैं जिन्हें स्वयं-सिद्ध स्वीकार करते हैं। इन्हें 'स्वयं तथ्य' कहते हैं। दृष्टान्त के लिए यूक्लिड के लिए यह स्वयं तथ्य है कि यदि क और ख दोनों ग के बराबर हैं, तो वे एक दूसरे के भी बराबर होंगे। इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, यह सिद्धि से ऊपर है। यूक्लिड ने रेखागणित में रेखा, त्रिकोण, वृत्त आदि आकारों को अपने अध्ययन का विषय बनाया और आरम्भ में ही इनकी परिभाषा की। अब कोई कह सकता है कि उसकी परिभाषा के अनुकूल कोई सीधी रेखा खींची ही नहीं जा सकती—प्रत्येक रेखा में लंबाई के साथ कुछ चौड़ाई

और मोटाई मिली होती है, और इसमें थोड़ा-बहुत टेढ़ापन भी आ जाता है। स्वयतथ्यो और परिभाषाओ के साथ यूक्लिड कुछ स्वीकृत पक्ष भी देता है, जैसे— हम सीधी रेखा खींच सकते हैं। जो मनुष्य यूक्लिड की परिभाषाओ, उसके स्वयतथ्यो और स्वीकृत पक्षो को नहीं मानता, यूक्लिड उससे कहता है—‘तुम्हारा मार्ग और है, मेरा और है; तुम मुझे एक ओर रहने दो। मैं तो कहता ही नहीं कि कोई त्रिकोण विद्यमान है; मैं इतना ही कहता हूँ कि यदि कोई है, तो उसके अमुक विशेषण होंगे।’

स्पिनोजा ने भी अपने विवेचन में इस विधि का प्रयोग किया; उसका सिद्धान्त भी अन्त में उन परिभाषाओ और स्वयतथ्यो पर खड़ा है, जिनसे वह आरम्भ करता है। परन्तु यूक्लिड और स्पिनोजा की परिभाषाओ में एक बड़ा भेद है। यूक्लिड ऐसी वस्तुओ का अध्ययन करता है जिनकी स्थिति मानवी है; स्पिनोजा तत्त्व की खोज करता है। उसकी परिभाषाएँ प्रत्ययो का विश्लेषण नहीं, सत्ता का वर्णन है। उसने गणित की विधि का प्रयोग किया, परन्तु अध्ययन का विषय तो गणित से बहुत भिन्न था।

स्पिनोजा की पुस्तक का नाम ‘नीति’ है, परन्तु इसके पाँच भागों में केवल अन्तिम दो भाग स्पष्ट रूप में नैतिक विवेचन से संबद्ध हैं, पहले दो भाग, जो ईश्वर और जीवात्मा या मन की मीमांसा हैं, तत्त्वज्ञान हैं, और तीसरा भाग उद्देगों का वर्णन होने के कारण मनोविज्ञान का एक अध्याय है। इस क्रम का एक कारण है। नीति हमें बताना चाहती है कि मनुष्य का ध्येय और कर्तव्य क्या है। इसका निश्चय करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जिस जगत् में मनुष्य रहता है, उसमें उसकी स्थिति क्या है, और यह भी कि वह कर क्या सकता है। ये दोनों तत्त्वज्ञान और मनोविज्ञान के प्रश्न हैं। अब हम इसी क्रम में ‘नीति’ की शिक्षा का सक्षिप्त शब्दों में वर्णन करेंगे।

४. द्रव्य और गुण

द्रव्य और गुण का भेद अदृष्ट और दृष्ट के रूप में भी दिखाया जाता है। मैं फूल को देखता हूँ, इसकी गन्ध लेता हूँ, इसे छूता हूँ। ज्ञानेन्द्रियाँ मुझे इसके गुणों की बाबत बताती हैं। ‘इसके गुणों की बाबत?’ मैं मान्य कर लेता हूँ कि गुणों के अतिरिक्त फूल भी कोई पदार्थ है। ऐसे पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। दर्शन-शास्त्र प्रत्येक प्रतिज्ञा को जाँचना और परखना चाहता है। दार्शनिकों में कुछ ऐसे

है जो सत्ता को गुणों या उनके बोधों तक सीमित करते हैं। अनुभव के अस्तित्व में तो सन्देह हो ही नहीं सकता, यह सन्देह स्वयं ही अनुभव है। डेकार्ट ने अनुभव के साथ अनुभवी के अस्तित्व को भी असदिग्ध तथ्य स्वीकार किया था। कुछ आलोचकों के विचार में उसे ऐसा करने का अधिकार न था। स्पिनोजा ने जो विधि अपनायी, उसने उसे इस झमेले में उलझने से बचा लिया। उसने आरम्भ में जो परिभाषाएँ दी, उनमें द्रव्य और गुण प्रमुख हैं। इस तरह वह द्रव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वीकृति के साथ चलता है। पहला साध्य यह है—

द्रव्य अपनी प्रकृति में अपने रूपभेदों से पूर्व या अग्रेसर है।

इसकी सिद्धि यह है—

‘यह परिभाषा ३ और ५ से स्पष्ट है।’

अन्य दार्शनिकों के मुकाबले में स्पिनोजा की विधि ने उसे इस जटिल समस्या के सबन्ध में कितनी सुविधा दे दी है? जो कुछ उसे अन्त में द्रव्य और गुण के सबन्ध में कहना है, वह उसे आरम्भ में ही परिभाषाओं में डाल सकता है।

स्पिनोजा द्रव्य और गुण की परिभाषा यों करता है—

‘द्रव्य से मेरा अभिप्राय वह है जो अपने आप में है और अपने द्वारा चिन्त्य होता है, अन्य शब्दों में ऐसी वस्तु जिसका चिन्तन किसी अन्य वस्तु के चिन्तन पर आधारित नहीं होता जिसमें यह अवश्य बने।’

‘गुण से मेरा अभिप्राय ऐसी वस्तु है जिसे बुद्धि एक द्रव्य के सार के रूप में देखती है।’

द्रव्य आलवन है और गुण उस पर आलबित है, द्रव्य मुख्य है, गुण गौण है। अंग्रेजी में द्रव्य के लिए ‘सब्स्टेन्स’ शब्द का प्रयोग होता है, इसका अर्थ भी सहारा, आलवन ही है। कोई द्रव्य किसी दूसरे का कारण नहीं हो सकता, यह द्रव्य की परिभाषा में ही स्पष्ट है। डेकार्ट ने मन या पुरुष को द्रव्य माना था, परन्तु ईश्वर से इसे अलगाने के लिए कहा था कि मन सर्जित द्रव्य है। स्पिनोजा ‘सर्जित द्रव्य’ में आन्तरिक विरोध देखता था, इसलिए उसने मन को और इसके साथ प्रकृति को द्रव्यत्व से वंचित कर दिया, परन्तु इन्हें अस्तित्व से वंचित नहीं किया। सारी सत्ता अन्त में एक द्रव्य की है। चूँकि इसे सीमित करनेवाला कुछ है ही नहीं, इसलिए यह अनन्त है। जब हम किसी वस्तु की बाबत कहते हैं कि वह है, तो स्वाभाविक ही और तुरन्त प्रश्न होता है कि वह क्या है। जो कुछ कोई वस्तु है, वह उसका सार है। अनन्त द्रव्य के अनन्त गुण हैं और उनमें हर एक असीम या

अनन्त है। हमे इन गुणो मे केवल दो गुणो का बोध है—चिन्तन और विस्तार। ये गुण असंख्य 'आकारो' मे व्यक्त होते है चिन्तन का आकार मन कहलाता है, विस्तार का आकार भौतिक वस्तु कहलाता है। हमे इन दोनो गुणो का ही बोध है, क्योकि हम—आप इन दोनो के आकारो का मिश्रण है।

एक मात्र द्रव्य को, जिसकी सत्ता स्वीकृत हुई है, स्पिनोजा ईश्वर या सर्ग (नेचर) का नाम देता है। ब्रह्म और ब्रह्माण्ड अभिन्न है—यह स्पिनोजा के अद्वैतवाद का मौलिक सिद्धान्त है।

दूसरे भाग के पहले दो साध्य ये है—

'चिन्तन ईश्वर का एक गुण है, अन्य शब्दो मे ईश्वर एक चिन्तन करनेवाला पदार्थ है।'

'विस्तार ईश्वर का एक गुण है, अन्य शब्दों मे ईश्वर एक विस्तृत पदार्थ है।'

ईश्वर की सारी क्रिया स्वाधीन है और वही निरपेक्ष रूप मे पूर्ण और स्वाधीन सत्ता है। उसकी सारी क्रिया उसके सार का प्रकाश है; इसमे उसे कोई प्रयोजन नही, क्योकि प्रयोजन का होना ही किसी त्रुटि का सूचक है। सर्ग या जगत् की वर्तमान स्थिति की बाबत कुछ विचारक कहते है कि असंख्य सभावित सर्गों मे जो सर्ग ईश्वर ने सर्जित करना चाहा, कर दिया। लाइबनिज ने कहा कि असंख्य सभावित सर्गों मे अपनी पूर्णता के कारण, उनमे सर्वोत्तम सर्ग की रचना की। स्पिनोजा के विचार मे ईश्वर की क्रिया के सम्बन्ध मे सभावना और वास्तविकता मे कुछ भेद नही, जो कुछ है, उसमे भिन्न कुछ हो ही नही सकता था। ईश्वर की सत्ता की तरह उसकी क्रिया भी अनिवार्य है। ईश्वर की हालत मे अनिवार्यता और स्वाधीनता मे कोई भेद नही। कुदरत मे जो कुछ होता है, वह तो निग होता है; उसमे शुभ-अशुभ का भेद नही। परन्तु हमारी प्रकृति ऐसी है कि कुछ घटनाएँ हमारे लिए सुखद होती है, कुछ दुःखद, और इस भेद की नीव पर हम पहले प्रकार की घटनाओ को शुभ और दूसरे प्रकार की घटनाओ को अशुभ कहते है। भौतिक पदार्थ एक विशेष नियम के अनुसार एक दूसरे को खींचते है; त्रिकोण के दो भुज मिलकर तीसरे से बडे होते है। यहाँ अच्छे-बुरे का प्रश्न खडा करना व्यर्थ है। स्पिनोजा के विचार मे ससार मे जो कुछ भी होता है, उसकी स्थिति ऐसी है।

५. द्रव्य के सम्बन्ध मे कुछ और विचार

तत्त्वज्ञान के इतिहास का एक अच्छा भाग द्रव्य के प्रत्यय का अनुसंधान

रहा है। आगे चलने से पहले उचित प्रतीत होता है कि हम कुछ अन्य विचारको की ओर ध्यान ले जायँ। इसके लिए हम यहाँ कणाद, प्लेटो और अरस्तू को लेंगे। इनके सम्मुख भी प्रश्न यही था कि अन्तिम सत्ता को किन किन मौलिक पक्षों में देखा जा सकता है। उसे इन्होंने परतम जातियों (कैटेगोरिज) के विषय के रूप में समझना चाहा। कणाद ने वैशेषिक दर्शन में तीन अमानवीय परतम जातियों में द्रव्य, गुण और क्रिया का वर्णन किया। उसके विचारानुसार गुण स्वयं गुणी नहीं हो सकता, क्रिया स्वयं कर्ता नहीं हो सकती, दोनों द्रव्य के विशेषण हैं। अरस्तू ने परतम जातियों में द्रव्य के साथ गुण और क्रिया को भी स्थान दिया। प्लेटो ने पाँच परतम जातियों का वर्णन किया—द्रव्य, अनन्यत्व, विभिन्नता, गति, अगति। अनन्यत्व का अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु अपनी सत्ता रखती है, यह कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती। अनन्यत्व के साथ ही युक्त विभिन्नता है। दोनों का आशय यह है कि द्रव्यों में गुण होते हैं। गति और अगति क्रिया के भाव और अभाव के ही नाम हैं। इस तरह प्लेटो की सूची कणाद के अमानवीय पदार्थों की सूची ही है। स्पिनोजा ने क्रिया को द्रव्य के गुणों में नहीं रखा, परन्तु वह इसकी उपेक्षा नहीं कर सका। गति किसी भौतिक पदार्थ का स्थान-परिवर्तन है। यदि भौतिक पदार्थ केवल विस्तार के आकार है, तो क्रिया कैसे आ घुसती है ?

दूसरे भाग के साध्य १३ में हम पढ़ते हैं—

‘जो प्रत्यय मानव-मन का उपादान है, उसका विषय शरीर है या विस्तार का एक आकार, जिसका वास्तविक अस्तित्व है, और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।’

यहाँ, जैसा अनेक अन्य स्थानों में, मनुष्य के शरीर को विस्तार का आकार मात्र कहा है। इसी साध्य में, स्वयतथ्य १ में कहा है—

‘सभी भौतिक पदार्थ या तो गति में हैं या विश्राम में।’

यदि भौतिक पदार्थ विस्तार का आकार-मात्र ही है, तो गति के लिए गुंजायश ही कहाँ है ?

इसी भाग में साध्य १३ के अन्त में कुछ स्वीकृत पक्ष दिये हैं। स्वीकृत पक्ष ६ में कहा है कि मानव-शरीर बाहरी पदार्थों को अनेक रूपों में गति दे सकता है और उन्हें अनेक रूपों में व्यवस्थित कर सकता है।

स्पिनोजा गति या क्रिया से इनकार नहीं कर सकता था, परन्तु उसने कणाद और प्लेटो की तरह इसे अपने सिद्धान्त में उचित स्थान नहीं दिया; यह विस्तार से निकल नहीं सकती।

६. मन और उसकी प्रक्रियाएँ

मेरा मन चिन्तन का एक आकार है, मेरा शरीर विस्तार का एक आकार है। चिन्तन और विस्तार एक ही द्रव्य के गुण है और सदा एक दूसरे से युक्त होते हैं; इसलिए मन और शरीर एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। शरीर पर बाहरी पदार्थों से निरन्तर आक्रमण होता रहता है और निरन्तर नये रूपभेदों का उद्भव होता है। इनका बोध मन को होता है—मन इन बोधों के समूह का ही नाम है। मन किसी बाह्य पदार्थ को उसके वास्तविक स्वरूप में नहीं जान सकता; यह उसे उसी रूप में जानता है जिसमें वह शरीर को प्रभावित करता है। यदि दो शरीरों की बनावट भिन्न हो, तो एक ही वस्तु उन्हें भिन्न रूपों में प्रभावित करेगी, और यह कहना संभव नहीं कि एक ही पदार्थ के पैदा किये हुए रूपभेदों के प्रत्यय जो दो मन अपने-अपने शरीर के रूपभेदों से बनाते हैं, समान हैं। मन अपने शरीर को भी इसके वास्तविक स्वरूप में नहीं जानता, यह उसे उसी रूप में जानता है जिसमें वह बाहरी पदार्थों से प्रभावित होता है। इसका परिणाम यह है कि जो बोध हमें शरीर और बाह्य पदार्थ के सम्पर्क के फलस्वरूप होता है, वह ज्ञान कहलाने के योग्य नहीं। स्पिनोजा ऐसे बोध को प्लेटो की परम्परा में 'सम्मति' का नाम देता है। दो मनुष्य घास को हरी कहते हैं, परन्तु यह नहीं कह सकते कि घास देखने पर जो संवेदन उन्हें अनुभूत होता है, वह दोनों की हालत में एक ही है। जब हमें इन्द्रियों के द्वारा किसी पदार्थ का ऐसा ज्ञान उपलब्ध होता है, तो वह अपने पीछे अपना चिह्न छोड़ जाता है। ऐसे चिह्न चित्र या प्रतिबिम्ब कहलाते हैं। ये कल्पना और स्मृति की सामग्री हैं। चूंकि इनका बोध इन्द्रियों से प्राप्त वस्तुज्ञान (प्रत्यक्ष) पर आधारित होता है, इसलिए स्पिनोजा इन दोनों की कृति को भी 'सम्मति' का पद ही देता है।

प्लेटो की तरह स्पिनोजा 'सम्मति' से ऊँचे स्तर पर विज्ञान को रखता है। जो ज्ञान विज्ञान कहलाता है, वह सबके लिए साझे का होता है। विज्ञान की शाखाओं में गणित का पद विशेष महत्त्व का है, और गणित में भी रेखागणित की प्रथमता है। स्पिनोजा ने इसी को अपने विवेचन में नमूना बनाया। यदि त्रिकोण के तीनों कोण मिलकर दो समकोणों के बराबर हैं, तो केवल मेरे लिए, आज और यहाँ नहीं, परन्तु हर एक बुद्धिमत् प्राणी के लिए, हर कहीं, और सदा ऐसा होता है, यह एक अनिवार्य तथ्य है।

विज्ञान से भी उत्तम एक प्रकार का ज्ञान है जिसे अन्तर्ज्योति या इत्यून

कहते हैं। 'सम्मति' में हमारे बोध का विषय कोई विशेष, यह या वह, होता है; रेखागणित में जो कुछ हम सिद्ध करते हैं वह सामान्य होता है, परन्तु सिद्धि में हम प्रयोग किसी विशेष का ही करने हैं। अन्तर्ज्योति में विशेष की इस सहायता की भी आवश्यकता नहीं होती, इसका विषय सीधा समग्र होता है। एक और भेद यह है कि विज्ञान में एक एक पग उठाकर आगे चलते हैं, अन्तर्ज्योति एक साथ साक्षात् देखती है, यह दर्शन है।

ईश्वर का सारा ज्ञान ऐसा है। स्पिनोजा प्रत्ययो में पर्याप्त और अपर्याप्त का भेद करता है। जो ज्ञान अपर्याप्त प्रत्यय से प्राप्त होता है, वह दूषित ज्ञान है, पर्याप्त प्रत्यय से पर्याप्त ज्ञान होना ही सत्य और पूर्ण ज्ञान है। जब कोई मन तीसरे प्रकार के ज्ञान से जानता है, तो तथ्य यही है कि ईश्वर, इस अंश में कि वह उस मन में व्यक्त होता है, जानता है। ऐसा ज्ञान सब मनो के लिए एक ही होता है। क्रिया में मन कर्ता होता है; उद्वेग मन की क्रिया नहीं इसमें तो मन आक्रान्त होता है।

सत्य ज्ञान एक प्रचलित विचार के अनुसार वह ज्ञान है जिसमें ज्ञाता के प्रत्यय और ज्ञान-विषय में पूर्ण अनुकूलता या समानता होती है। परन्तु इस समानता की बावत तभी कह सकते हैं जब ज्ञान-विषय को प्रत्यय का प्रयोग किये बिना किसी तरह देख सकें। यह तो नहीं हो सकता। इसलिए कुछ दार्शनिक आन्तरिक विरोधाभाव को सत्य का चिह्न मानते हैं। कोई प्रत्यय अपने आप में सत्य या असत्य नहीं, हम इसे सत्य कहते हैं यदि यह शेष ज्ञान में युक्त होकर इसका अंश बन सकता है; विपरीत अवस्था में यह असत्य है। स्पिनोजा का विचार दूसरे मत के अनुकूल है।

७ उद्वेगों का उद्भावन और उनकी प्रकृति

स्पिनोजा ने 'नीति' में सबसे लंबा भाग उद्वेगों को दिया है, और यहाँ भी साध्यों की सिद्धि में उसी विधि का प्रयोग किया है जिसका शेष भागों में किया है। यह कुछ असाधारण सा लगता है। पहले दो भागों में ब्रह्मजिज्ञासा और जीव-जिज्ञासा विचार के विषय हैं। यहाँ साध्य की सिद्धि में तर्क की निगमन विधि उचित ही है। नीति भी दर्शनशास्त्र का भाग समझी जाती है, इसमें भी यह विधि प्रयुक्त होती है। परन्तु, जैसा इसके नाम से ही प्रकट है, मनोविज्ञान विज्ञान की एक शाखा है और यह अपने अध्ययन में प्रायः वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करता है। विज्ञान का प्रमुख काम सगत तथ्यों का इकट्ठा करना और उन्हें क्रमबद्ध करना है। यहाँ रेखागणित की विधि कुछ असगत सी प्रतीत होती है। संभवतः स्पिनोजा को

भी ऐसा ख्याल आया होगा। इस भाग का पहला हिस्सा अन्य भागो के क्रम पर चलता है। इसमें ३ परिभाषाएँ, २ स्वीकृत पक्ष और ५९ साध्य हैं, यही भाग ऐसा है जिसके आरम्भ में कोई स्वयतथ्य नहीं दिया गया। इसके बाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है और ४८ उद्देश्यों की परिभाषा दी है, कही कही टीका भी की गयी है, परन्तु उपपत्ति को छोड़ दिया गया है। पहला हिस्सा रेखागणित की विधि के अनुसार उद्देश्य की परिभाषा से आरम्भ हुआ है, दूसरा वैज्ञानिक विधि के अनुसार उद्देश्यों की सामान्य परिभाषा के साथ समाप्त किया गया है।

हमारी प्रत्येक चेतना-अवस्था में तीन पक्ष प्रसिद्ध हैं—ज्ञान, भाव और क्रिया। कुछ विचारक भाव के सुख और दुःख दो भिन्न पक्ष समझते हैं, और भाव तथा क्रिया के मध्य में इच्छा और द्वेष को स्थान देते हैं। न्यायदर्शन में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न और ज्ञान आत्मा के ६ लिंग वयान किये गये हैं। स्पिनोजा ने उद्देश्य (इमोशन) की परिभाषा दो बार की है। वह कहता है—

‘उद्देश्य से मैं शरीर के ऐसे रूपभेद समझता हूँ जिनसे शरीर में क्रिया-शक्ति बढ़ती या घटती, सहायता पाती या रुकती है, और इसके साथ ही इन रूपभेदों के प्रत्यय भी।’

‘उद्देश्य, जिसे आत्मा की वशीभूतता या आक्रान्तता कहते हैं, एक अस्पष्ट प्रत्यय है जिससे मन पहले की अपेक्षा अपने शरीर या इसके किसी भाग की अस्तित्व-शक्ति के अधिक या न्यून होने की घोषणा करता है, और जिसके स्वीकृत होने पर मन उससे एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु का चिन्तन करने पर निर्णीत होता है।’

दूसरी परिभाषा में कुछ अधिक स्पष्टीकरण किया गया है। पहली बात तो यह कही गयी है कि उद्देश्य क्रिया नहीं, अपितु आक्रान्तता है। क्रिया में जो परिवर्तन हमारे अन्दर या बाहर होता है, वह पूर्णतया हमारी प्रकृति का परिणाम होता है और इसी के द्वारा समझा जा सकता है, हम आक्रान्त होते हैं जब कि ऐसा परिवर्तन अग्रे में ही हमारी प्रकृति का परिणाम होता है। जो परिवर्तन हमारे शरीर में होता है, वह और उसका प्रत्यय मिलकर उद्देश्य कहलाते हैं। नवीन काल में जेम्स-लैंग समाधान के अनुसार उद्देश्य शारीरिक परिवर्तनों का बोध या शारीरिक संवेदन ही है, स्पिनोजा इस संवेदन के साथ शारीरिक परिवर्तनों को भी जोड़ देता है। उसका मौलिक सिद्धान्त ही यह है कि चिन्तन और विस्तार एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं।

ये परिवर्तन शरीर की या इसके किसी भाग की शक्ति को पहले से अधिक या न्यून करते हैं। शक्ति के अधिक होने का बोध सुख है, इसके घटने का बोध दुःख है। इस तरह उद्वेग अनिवार्य रूप में सुख-दुःख की अनुभूति है। ज्ञान की दृष्टि में उद्वेग अस्पष्ट प्रत्यय है। स्पष्ट प्रत्यय में बुद्धि अपना काम निर्विघ्न करती है, उद्वेग में, विशेष कर दुःख में, यह क्षमता नहीं रहती। न्यायदर्शन में भी दुःख को 'बाधनालक्षण' कहा है, यह जीवन-व्यवहार में एक अडचन है।

उद्वेग निरा विघ्न ही है या जीवन-व्यवहार में इसकी कुछ कीमत भी है ? जीवन अपने आप को बाह्य वातावरण के अनुकूल बनाना है। वातावरण एकरस नहीं रहता, निरन्तर बदलता रहता है। कभी-कभी परिवर्तन इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि इसकी ओर हमारा ध्यान फेरने के लिए एक झटके की आवश्यकता होती है। उद्वेग ऐसा झटका ही है। इसके द्वारा वातावरण चेतावनी देता है कि नयी परिस्थिति में एक नयी अनुकूलता की आवश्यकता है, जो कुछ कर रहे हो वह पीछे होता रहेगा, पहले नयी स्थिति की बाबत सोचो। सामान्य परिभाषा के अन्त में स्पिनोजा ने उद्वेग के इस पहलू की ओर संकेत किया है और कहा है कि शारीरिक परिवर्तनों का ज्ञान होने पर, मन एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु का ध्यान करने लगता है।

स्पिनोजा कहता है कि मौलिक उद्वेग केवल तीन ही हैं—सुख, दुःख और इच्छा, शेष सभी उद्वेग सुख-दुःख के विशेष रूप हैं, या इच्छा से व्यक्त होते हैं।

'करुणा वह दुःख है जो किसी ऐसे प्राणी के दुःख से पैदा होता है जिसे हम अपने समान समझते हैं।'

'प्रेम वह सुख है जो किसी बाह्य कारण का फल होता है।'

'लालसा यश या सम्मान की अपरिमित इच्छा है।'

उद्वेगों पर स्पिनोजा ने इतना ध्यान दिया है, क्योंकि उसके विचारानुसार उद्वेगों के वशीभूत होना दासता है और उन्हें अपने वश में करना ही स्वाधीनता है। जीवन का नैतिक लक्ष्य यही है कि हम दासता के जुए को उतार फेंके और स्वाधीन आत्मा की स्थिति में जीवन व्यतीत करें।

अब 'नीति' की नैतिक शिक्षा की ओर देखें।

८. नीति

प्राचीन यूनान में नीति का प्रमुख काम निश्चेयस या श्रेष्ठतम भद्र के स्वरूप

का निरूपण करना था। यही प्राचीन भारत में भी नीति का लक्ष्य था। मनुष्य बुद्धिमत प्राणी है; यदि उसे कल्याण-मार्ग का पता लग जाय, तो वह अवश्य उस पर चलने का यत्न करेगा। नवीन काल में जर्मनी के दार्शनिक कांट ने कर्त्तव्य-मीमांसा को प्रमुख महत्त्व दिया और कहा कि कर्त्तव्यपालन का फल, जो कुछ भी वह हो, श्रेय है। वास्तव में ये दोनों प्रश्न युक्त हैं, सिद्धान्त व्यवहार का पथ-प्रदर्शन करता है और व्यवहार सिद्धान्त का मूल्य जाँचने में सहायक होता है। स्पिनोज़ा ने 'नीति' के दो अन्तिम भागों में प्रश्न को दोनों दृष्टिकोणों से देखा है उसने निश्चय के स्वरूप की बात कहा है और इसके साथ कर्त्तव्य का चित्र भी प्रस्तुत किया है।

मनुष्य का मन ईश्वरीय चिन्तन का आकार है, उसका शरीर ईश्वरीय विस्तार का आकार है। मन की उन्नति और शरीर का सामर्थ्य दोनों साथ साथ चलते हैं। शरीर का सामर्थ्य ही सुख और पूर्णता का बड़ा साधन है। मनुष्य के सार में अस्तित्व निहित नहीं; केवल ईश्वर के सार में यह निहित है। ईश्वर के अभाव का तो चिन्तन हो नहीं सकता, वह अनिवार्य है, परन्तु मनुष्यों का अस्तित्व अनिवार्य नहीं, आकस्मिक है। किसी विशेष व्यक्ति के होने न होने से सर्ग का भाव या अभाव नहीं होता। शरीर की रक्षा और वृद्धि के लिए बाहरी पदार्थों के प्रयोग की आवश्यकता होती है, और सभी पदार्थ जो चिन्तन के आकार नहीं, अर्थात् मनुष्य के अनिरीकृत सब कुछ, मनुष्य के लाभ के लिए साधन के रूप में बरते जाने चाहिए। डेकार्ट ने तो कहा था कि पशुओं में सुख-दुःख की अनुभूति नहीं, स्पिनोज़ा इतनी दूर नहीं जाता, परन्तु कहता है कि पशु-पक्षी बुद्धिशून्य हैं इसलिए उनके कोई अधिकार नहीं। मेरा अस्तित्व अनिवार्य न था, मुझसे पहले सर्ग था, मेरे बाद रहेगा, और मेरे बिना भी होता। मेरे जीवन की अवधि भी निश्चित नहीं। परन्तु यह तो स्पष्ट है कि चूँकि मैं जीवित हूँ, मुझे जीवन कायम रखने का, इसे निपुण बनाने का यत्न करना चाहिए। शरीर की निपुणता इसमें है कि वह अधिक से अधिक बाहरी पदार्थों के सम्पर्क में आये, उन पर प्रभाव डाले और उनसे प्रभावित हो। जितनी अधिक यह निपुणता होगी, उतना ही अधिक मन का ज्ञान होगा। यह सभी वस्तुओं की प्रकृति ही है कि वे अपने अस्तित्व को बनाये रखने का यत्न करें, मनुष्य बुद्धिमत प्राणी है, उससे तो यह आशा की ही जाती है। स्पिनोज़ा के अपने जीवन में तपस्या का अंश बहुत था, परन्तु सिद्धान्त में उसने तपस्या और वैराग्य को महत्त्व नहीं दिया।

यहाँ तक उद्देश्य वही है जिसे पीछे हर्वर्ट स्पेन्सर ने जीवन की लड़ाई और चौड़ाई का नाम दिया, परन्तु स्पिनोजा जीवन की गहराई की ओर से उदासीन नहीं हो सकता था। मनुष्य का सार चिन्तन है। मनुष्यों में भेद यह होता है कि एक के प्रत्यय अधिक विमल और स्पष्ट है और दूसरे के अपर्याप्त है। चेतना के पक्ष से देखे, तो मनुष्य का लक्ष्य पर्याप्त प्रत्ययो को प्राप्त करना है। भाव की भाषा में यही ईश्वर से बौद्धिक प्रेम है। यह निश्चय है। बौद्धिक प्रेम जो मनुष्य ईश्वर के प्रति करता है, वह दूसरी ओर से वह प्रेम है जिससे ईश्वर अपने आपको प्रेम करता है या मनुष्यों को प्रेम करता है। जितना कोई मनुष्य इस तीसरे प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है, जितना वह ईश्वर से बौद्धिक प्रेम करता है, उतना ही वह अमरत्व को प्राप्त होता है; स्मृति और कल्पना का अश तो मर्त्य है। यह पूर्णता ईश्वर में अनिवार्य रूप में विद्यमान है, मनुष्य के लिए यह एक आदर्श है। बुद्धि कहती है—‘आदर्श की ओर चलो।’ कैसे चले? और कैसे जाने कि ठीक मार्ग पर चल रहे हैं? यह नीति का व्यावहारिक पहलू है। स्पिनोजा इसके सबन्ध में क्या कहता है?

भाग ४, साध्य १८ की टिप्पणी में स्पिनोजा ने बुद्धि के आदेशों का वर्णन किया है। वे आदेश ये हैं—

१ चूँकि बुद्धि प्रकृति के विरुद्ध कुछ नहीं कहती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना चाहिए, और जो कुछ उसके लिए लाभकारी है उसकी तलाश करनी चाहिए—मेरा अभिप्राय है कि जो कुछ वास्तव में उसके लिए लाभकारी है—और ऐसी वस्तुओं की इच्छा करनी चाहिए जो वस्तुतः मनुष्य को अधिक पूर्णता की ओर ले जाती हैं, और अन्त में हर एक को यत्न करना चाहिए कि यथासंभव अपने अस्तित्व को बनाये रखे।

२ फिर चूँकि वृत्त (वर्च्यू) अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार कर्म करना ही है और कोई मनुष्य इन नियमों के अनुसार ही अपना अस्तित्व बनाये रखने का यत्न करता है, इसका परिणाम यह है कि

(१) वृत्त की नींव अपनी सम्पत्ति को बचाये रखने का यत्न है और अपनी सम्पत्ति को बचाये रखने की योग्यता ही सुख है।

(२) वृत्त या सदाचार की कामना स्वयं इसके लिए करनी चाहिए; कोई अन्य वस्तु इतनी मूल्यवान् नहीं जिसके लिए इसे साधन बना सके।

(३) आत्महत्या करनेवाले लोग अशक्त आत्मा है जो अपने आप को बाहरी पदार्थों से, जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल है, पराजित होने देते हैं।

३. हमारे जीवन के सुरक्षित रहने के लिए अनेक बाहरी पदार्थों की आवश्यकता होती है। इनमें सर्वोत्तम वे पदार्थ हैं जिनकी प्रकृति हमारी प्रकृति से मिलती है। इसलिए मनुष्य के लिए मनुष्य से बढ़ कर कोई पदार्थ हितकर नहीं। इस तरह जो लोग बुद्धि के नेतृत्व में चलते हैं, वे हितकर पदार्थों की तलाश करते हैं, अपने लिए किसी ऐसी वस्तु की इच्छा नहीं करते जिसकी अन्य मनुष्यों के लिए भी इच्छा नहीं करते, और इसलिए वे अपक्षपाती, वफादार और माननीय होते हैं।

९. नीति और अनिवार्यतावाद

ऐसे ही आदेश अन्य स्थलों पर भी 'नीति' में मिलते हैं। स्पिनोज़ा कहता है—'अलभ्य के पीछे भागो नहीं, अटल के सबंध में विलाप न करो।' यह ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि भागना या न भागना, विलाप करना या न करना हमारे वश में भी है या नहीं? स्पिनोज़ा के सिद्धान्त में मनुष्य ईश्वरीय चिन्तन और विस्तार का आकार ही है। स्वयं ईश्वर की क्रिया उसकी प्रकृति का अनिवार्य परिणाम है। वह भी यह नहीं कर सकता कि किसी त्रिकोण के तीन कोणों को दो समकोणों से अधिक या न्यून कर सके। जब ईश्वर के लिए भी सभावना का क्षेत्र वास्तविकता के क्षेत्र से अधिक विस्तृत नहीं, तो उसके आकारों के लिए स्थिति कैसे भिन्न हो सकती है? जो कुछ होता है, वह अटल है; हम उसे देख सकते हैं, और बुद्धि की मुने, तो उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर सकते हैं। स्पिनोज़ा के लिए 'स्वाधीनता अनिवार्यता की स्वीकृति ही है।' प्रतीत तो ऐसा होता है कि अद्वैतवाद में नीति के लिए कोई स्थान नहीं, जिस अभद्र के विरोध में हमें लड़ना है, वह आभास मात्र है और हमारा लड़ना भी आभास मात्र है।

दो शब्दों के साथ यह परिचय समाप्त होता है। 'नीति' का पाठ सामान्य पाठक के लिए सीधी, पक्की सड़क पर दौड़ना नहीं, अपरिचित प्रदेश में आहिस्ता चलना, शायद रेगना है। और एक पाठ पर्याप्त भी नहीं होता। मूँगफली को अँगूठे और अँगुली के बीच रखकर जरा दबाये, तो छिलका टूट जाता है; बादाम को दाँतों से तोड़े, तो कभी बादाम टूटता है, कभी दाँत। बादाम मिलते भी मंहंगे हैं। इस पर भी कुछ लोग इन्हें खरीदते ही हैं। स्पिनोज़ा की प्रतिष्ठा घटती नहीं, बढ़ती ही जाती है।

—दीवान चन्व

पहला भाग
ईश्वर के विषय में
(ब्रह्म-जिज्ञासा)
परिभाषाएँ

१ स्व-कारण से मेरा अभिप्राय वह है, जिसके सार में अस्तित्व निहित है और जिसकी प्रकृति का अस्तित्व के बिना चिन्तन ही नहीं हो सकता।

२ वह वस्तु 'अपनी जाति में सान्त' कहलाती है, जो अपनी जाति की किसी अन्य वस्तु से सीमित हो सके। उदाहरण के लिए—एक वस्तु सान्त कहलाती है, क्योंकि हम इससे बड़ी वस्तु का चिन्तन कर सकते हैं। इसी तरह एक विचार एक अन्य विचार से सीमित होता है। परन्तु एक प्राकृत पदार्थ एक विचार से सीमित नहीं हो सकता, न कोई विचार किसी प्राकृत पदार्थ से।

३ द्रव्य से मेरा अभिप्राय उससे है, जो अपने आप में है, और अपने द्वारा चिन्त्य होता है, अन्य शब्दों में, ऐसी वस्तु जिसका चिन्तन किसी ऐसी अन्य वस्तु के चिन्तन पर आधारित नहीं होता, जिससे यह अवश्य बने।

४ गुण से मेरा अभिप्राय ऐसी वस्तु से है, जिसे बुद्धि एक द्रव्य के सार के रूप में देखती है।

५ आकार से मेरा अभिप्राय एक द्रव्य के रूपभेदों से है, या उससे जो किसी अन्य वस्तु में है, जिसके द्वारा इसका चिन्तन हो सकता है।

६ ईश्वर से मेरा अभिप्राय ऐसी सत्ता से है, जो निरपेक्ष रूप में अनन्त है—अर्थात् ऐसी सत्ता जिसमें ऐसे अनन्त गुण हैं, जिनमें से हर एक अनादि और अनन्त सार को प्रकट करता है।

व्याख्या -- मैं 'निरपेक्ष रूप में अनन्त' कहता हूँ, अपनी जाति में अनन्त नहीं कहता, क्योंकि जो कुछ अपनी जाति में अनन्त है, उसके गुणों के अनन्त होने को हम अस्वीकार कर सकते हैं, परन्तु जो कुछ निरपेक्ष रूप में अनन्त है, उसका

सम्बन्ध सार व्यक्त करनेवाली प्रत्येक वस्तु के सार से है, और इसमें कोई अस्वी-कृति निहित नहीं।

७ वह वस्तु स्वाधीन कहलाती है जो अपनी प्रकृति की अनिवार्यता मात्र से अस्तित्व रखती है, और अपनी क्रियाओं में अपने आप से ही निर्धारित होती है। वह वस्तु वशीभूत या बाधित कहलाती है, जब वह अपने अस्तित्व और कर्मों में किसी अन्य वस्तु से एक विशेष नियत अनुपात में निर्धारित हो।

८. नित्यता से मेरा अभिप्राय स्वयं अस्तित्व से है, उस अंश में जिसमें यह समझा जाता है कि यह एक नित्य वस्तु की परिभाषा का अनिवार्य परिणाम है।

व्याख्या -- एक नित्य सत्य के रूप में, किसी वस्तु का अस्तित्व उसका सार ही समझा जाता है, इसलिए वह अवधि या काल से व्याख्यात नहीं हो सकता, यद्यपि अवधि का चिन्तन आरम्भ और अन्त के बिना हो सकता है।

१. स्वयत्तथ्य'

१ सभी वस्तुएँ जिनका अस्तित्व है, या तो अपने आप में है या अन्य वस्तुओं में है।

२ वह वस्तु जिसका चिन्तन किसी अन्य वस्तु के द्वारा नहीं हो सकता, अवश्य अपने द्वारा चिन्त्य होनी चाहिए।

३. एक निश्चित कारण से अवश्य कोई परिणाम निकलना है, और दूसरी ओर, यदि कोई निश्चित कारण स्वीकार न किया जाय, तो किसी परिणाम का निकलना सम्भव नहीं।

४ परिणाम का ज्ञान कारण के ज्ञान पर निर्भर होता है, और इसे अपने में निहित रखता है।

५. जिन वस्तुओं में एक-दूसरी की अपेक्षा कुछ साक्षात् नहीं, उनका एक-दूसरी के द्वारा पारस्परिक चिन्तन नहीं हो सकता, या एक के प्रत्यय में दूसरी का प्रत्यय निहित नहीं होता।

६ एक मत्त विचार को अपने विषय के अनुरूप होना चाहिए।

७. जिस वस्तु के अभाव का चिन्तन हो सकता है, उसके सार में अस्तित्व निहित नहीं होता।

1. Axiom

२. साध्य^१

साध्य १—द्रव्य अपनी प्रकृति में अपने रूपभेदों से पूर्व होता है।

उपपत्ति—यह परिभाषा ३ और ५ से स्पष्ट है।

साध्य २—दो द्रव्यों में, जिनके गुण भिन्न हों, कुछ भी साक्षात् नहीं होता।

उपपत्ति—यह भी परि० ३ से स्पष्ट है। क्योंकि दोनों में हर एक अवश्यमेव अपने आप में होगा, और अपने द्वारा चिन्तन का विषय होगा, या यों कहें कि उनमें एक के प्रत्यय में दूसरे का प्रत्यय निहित नहीं होगा।

साध्य ३—जिन दो वस्तुओं में कुछ साक्षात् नहीं, उनमें से एक दूसरी का कारण नहीं हो सकती।

उपपत्ति—यदि एक दूसरी की अपेक्षा उनमें कुछ साक्षात् नहीं, तो (स्वयं ५) वे एक दूसरी के द्वारा जानी नहीं जा सकती, और इसलिए (स्वयं ४) एक दूसरी का कारण नहीं हो सकती।

साध्य ४—दो या तीन भिन्न वस्तुओं में भेद करने की नींव द्रव्यों के गुणों की भिन्नता या उनके रूपभेदों की भिन्नता होती है।

उपपत्ति—जो वस्तुएँ भी हैं, वे या तो अपने आप में हैं, या अन्य वस्तुओं में हैं (स्वयं १), अर्थात् (परि० ३ और ५), बुद्धि के अतिरिक्त द्रव्यों और उनके रूप भेदों को छोड़कर कोई वस्तु स्वीकार नहीं की जाती। इसलिए बुद्धि के अतिरिक्त कुछ भी प्रदत्त नहीं जिससे वस्तुओं में भेद किया जा सके, सिवाय द्रव्यों के, या अन्य शब्दों में, (स्वयं ४) उनके गुणों के और आकारों के। इति सिद्धम्

साध्य ५—सत्ता के स्वभाव से ही, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि दो या दो से अधिक द्रव्यों की प्रकृति या गुण एक ही हों।

उपपत्ति—यदि कई भिन्न द्रव्य प्रस्तुत हों, तो उनमें उनके गुणों या रूपभेदों की भिन्नता की नींव पर ही भेद हो सकता है (पूर्व साध्य)। इसलिए, यदि उनमें उनके गुणों के भेद की नींव पर भेद किया जाता है, तो दो या दो से अधिक में एक ही गुण नहीं माना जा सकता। यदि उनमें अपने रूपभेदों की नींव पर भेद किया जाता हो, तो चूँकि द्रव्य अपने स्वभाव में अपने रूप भेदों से पूर्व है (साध्य १), इसलिए रूपभेदों को एक ओर रखना चाहिए और स्वयं द्रव्य पर विचार करना

1. Proposition

नी-२

चाहिए, अर्थात् (परि० ३ और ६) यथार्थ विचार करना चाहिए। ऐसा करने पर एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य में भेद नहीं हो सकेगा, अर्थात् (पूर्व साध्य) दो या अधिक द्रव्यों की एक ही प्रकृति या गुण नहीं हो सकते। इ० सि०

साध्य ६—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं हो सकता।

उपपत्ति—सत्ता के स्वभाव में ही, हम स्वीकार नहीं कर सकते कि दो द्रव्यों में एक ही गुण है (पूर्व साध्य), अर्थात् (साध्य २) उनमें कुछ साझा है, और इसलिए उनमें से एक दूसरे का कारण नहीं हो सकता, या एक दूसरे से उत्पन्न नहीं हो सकता। इ० सि०

उपप्रमेय—इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि द्रव्य किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि सत्ता के स्वभाव में ही द्रव्यों और उनके रूपभेदों के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं, जैसा कि स्वयं० १ और परि० ३ और ५ से स्पष्ट है, और यह किसी दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं हो सकता (पूर्व साध्य)। इसलिए द्रव्य किसी तरह भी किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हो सकता। इ० सि०

अन्य उपपत्ति—इसे विपरीत को अनर्थक सिद्ध करने की विधि से अधिक सहज में दर्शाया जा सकता है। क्योंकि यदि द्रव्य किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न हो सके, तो इसका ज्ञान इसके कारण के ज्ञान पर निर्भर होगा (स्वयं० ४), और इसके फलस्वरूप (परि० ३) यह द्रव्य नहीं होगा।

साध्य ७—‘अस्तित्व द्रव्य में स्वभाव से सबद्ध है।’

उपपत्ति—द्रव्य किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हो सकता (पूर्व साध्य, उपप्रमेय), इसलिए वह स्वयं अपना कारण होगा, अर्थात् (परि० १) उसके सार में अस्तित्व निहित है, या अस्तित्व उसके सार से सबद्ध है। इ० सि०

साध्य ८—‘समस्त द्रव्य अनिवार्य रूप में अनन्त है।’

उपपत्ति—किन्हीं दो या अधिक द्रव्यों में एक ही गुण नहीं हो सकता (साध्य ५), और यह द्रव्य की प्रकृति में ही है कि इसका अस्तित्व हो (साध्य ७)। इसलिए आवश्यक है कि यह सान्त या अनन्त स्थिति में हो। परन्तु यह सान्त स्थिति में हो नहीं सकता। क्योंकि (परि० २) इस हालत में यह अपनी प्रकृति के किसी अन्य द्रव्य से, जिसका अस्तित्व भी अनिवार्य होगा, सीमित होगा (साध्य ७)

और तब मानना पड़ेगा कि दो द्रव्यों का एक ही गुण है, जो अर्थहीन है (साध्य ५)। इसलिए इसका अस्तित्व अनन्त होगा। इ० सि०

टिप्पणी १—चूँकि किसी वस्तु को सान्त कहना, वास्तव में, आशिक इनकार है, और इसे अनन्त कहना इसके स्वभाव के अस्तित्व की निरपेक्ष स्वीकृति है। इसलिए परिणाम यह है (केवल साध्य ७ से) कि समस्त द्रव्य अवश्यमेव अनन्त है।

टिप्पणी २—मुझे इसमें सन्देह नहीं कि उन सब लोगों के लिए, जो वस्तुओं के विषय में अनुचित रायें बनाते हैं, और वस्तुओं को उनके प्रथम कारणों के द्वारा देखने के अभ्यस्त नहीं, सातवें साध्य की सिद्धि का चिन्तन करना कठिन हो सकता है, निस्सन्देह इसलिए कि वे द्रव्यों के रूपभेदों और स्वयं द्रव्यों में भेद नहीं करते, न यह जानते हैं कि वस्तुएँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जिस नियम को वे सामान्य वस्तुओं में देखते हैं, उसे द्रव्यों पर लागू करते हैं। क्योंकि वे लोग जो वस्तुओं के यथार्थ कारणों को नहीं जानते, सब में गड़बड़ी कर देते हैं, और बिना आशका के वस्तुओं में कभी वृक्षों की और कभी बोलते मनुष्यों की कल्पना करते हैं, और ख्याल करते हैं कि मनुष्य अभी पत्थरों से बने हैं और अभी बीजों से उगे हैं—उनके विश्वास के अनुसार एक आकृति सहज ही दूसरी आकृति में बदल जाती है। इस तरह वे लोग जो दैवी प्रकृति और मानव प्रकृति में भेद नहीं करते, सहज ही मानुषी उद्वेगों को ईश्वर में लगा लेते हैं, विशेषकर यदि उन्हें यह ज्ञान न हो कि उद्वेग मन में पैदा कैसे होते हैं। परन्तु यदि मनुष्य द्रव्य की प्रकृति पर ध्यान लायें, तो उन्हें सातवें साध्य में कम सन्देह होगा, बल्कि वे इसे अन्य स्वयत्तव्यों से अधिक स्पष्ट स्वयत्तव्य समझेंगे, और सामान्य विचारों में स्वीकार करेंगे। क्योंकि तब वे 'द्रव्य' से ऐसी वस्तु का ग्रहण करेंगे जो अपने आप में है, और अपने द्वारा चिन्त्य होती है, बल्कि ऐसी वस्तु जिसका ज्ञान किसी अन्य वस्तु के ज्ञान पर निर्भर नहीं होता, और 'रूप-भेद' से उसे ऐसी वस्तु समझेंगे जो किसी अन्य वस्तु में है, और जिसका प्रत्यय उस वस्तु के प्रत्यय से बनता है जिसमें यह स्थित है। इसलिए हमारे लिए ऐसे रूप-भेदों के यथार्थ प्रत्यय बनाना सम्भव है जिनका अस्तित्व नहीं, क्योंकि यद्यपि उनका अमानवी अस्तित्व नहीं, तो भी उनका सार एक अन्य पदार्थ के अन्तर्गत आता है, और उसके द्वारा इनका चिन्तन हो सकता है। यथार्थ द्रव्यों की यथार्थता मन से बाहर नहीं होती, सिवाय उस हालत के कि यह स्वयं उनमें वर्तमान हो, क्योंकि अपने द्वारा ही उनका चिन्तन

होता है। इसलिए यदि कोई मनुष्य कहे कि उसे द्रव्य का विमल और स्पष्ट, अर्थात् सत्य, प्रत्यय है, और साथ ही इसके अस्तित्व में सन्देह करे, तो उसकी अवस्था ऐसे मनुष्य की अवस्था के समान होगी, जो कहे कि उसे किसी सत्य का प्रत्यय है, साथ ही उसके असत्य होने का भी सन्देह है (प्रत्येक विचारवान् मनुष्य के लिए ऐसे व्यक्ति की स्थिति स्पष्ट होगी), या यदि कोई कहे कि द्रव्य की उत्पत्ति हुई, तो वह उसी समय यह भी कहेगा कि एक असत्य प्रत्यय सत्य बन सकता है, ऐसी बात से अधिक अर्थहीन अन्य किसी बात की कल्पना करना कठिन है। इसलिए यह अवश्यमेव स्वीकार करना होगा कि द्रव्य का अस्तित्व, इसके सार की तरह एक नित्य सत्य है। और इससे हम एक अन्य रीति द्वारा यह परिणाम निकाल सकते हैं कि एक ही प्रकृति के दो द्रव्य नहीं हो सकते, जो शायद अब दर्शाने के योग्य है।

परन्तु मैं इसे इसके उचित नियम में क्रमबद्ध करूँगा, इसलिए याद रखे कि—

(१) प्रत्येक वस्तु की परिभाषा में एक विशेष वस्तु के स्वभाव के अतिरिक्त न कुछ निहित होता है, न व्यक्त होता है। इसी से हम अनुमान करने हैं कि (२) चूँकि परिभाषा एक विशेष वस्तु के स्वभाव के अतिरिक्त कुछ व्यक्त नहीं करती, इसलिए किसी परिभाषा में न तो व्यक्तियों की संख्या निहित होती है, न व्यक्त होती है। उदाहरण के लिए, त्रिभुज की परिभाषा त्रिभुज की प्रकृति को ही प्रकट करती है, त्रिभुजों की संख्या की बाधन कुछ नहीं करती। फिर यह देखिए कि (३) प्रत्येक वर्तमान वस्तु का कारण बताना चाहिए, जो इसके भाव का हेतु है।

यह भी ध्यान में रखिए कि यह कारण जिसके द्वारा किसी वस्तु का भाव है, या तो वास्तविक वस्तु की प्रकृति और परिभाषा में सम्मिलित होता है (क्योंकि इसकी प्रकृति से अस्तित्व संबद्ध है), या इसके बाहर विद्यमान होता है। इन स्थितियों का परिणाम यह है कि यदि जगत् में एक प्रकार के कुछ व्यक्ति विद्यमान हैं, तो अवश्यमेव इस बात का कोई कारण होना चाहिए कि वे उतने ही क्यों हैं, अधिक या कम क्यों नहीं। उदाहरण के लिए, यदि सर्ग की प्रकृति के अनुसार, केवल बीस मनुष्यों का अस्तित्व होना होता (मरल व्याख्या के लिए मैं कहूँगा कि ये बीस एक साथ जीवित थे, और उनमें पहले कोई मनुष्य नहीं हुआ), तो इन बीस मनुष्यों के अस्तित्व के समाधान के लिए मानवजाति की प्रकृति का कारण बताना ही पर्याप्त नहीं होगा, अपितु पहले यह बताना भी आवश्यक होगा कि बीस

से अधिक या कम मनुष्य क्यों जीवित नहीं, क्योंकि (टिप्पणी ३) प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का कारण बताना चाहिए। परन्तु यह कारण मानवस्वभाव में तो सम्मिलित हो नहीं सकता (टिप्पणी २ और ३), क्योंकि मनुष्य की यथार्थ परिभाषा में संख्या २० निहित नहीं। इसलिए (टिप्पणी ४) इन बीस मनुष्यों के, और फलतः उनमें से हर एक के अस्तित्व का कारण उनमें से हर एक के बाहर होना चाहिए, और इसलिए यह असन्दिग्ध अनुमान हो सकता है कि प्रत्येक वस्तु, जिसकी प्रकृति में बहुसंख्या होना सम्मिलित है, अपने अस्तित्व के कारण, अनिवार्य रूप से, किसी बाह्य कारण का कार्य है। अब, जैसा पहले इस टिप्पणी में दिखाया जा चुका है, चूँकि अस्तित्व द्रव्य की प्रकृति से सबद्ध है, अतः इसकी परिभाषा में अस्तित्व अवश्यमेव सम्मिलित होना चाहिए, और इसलिए इसकी परिभाषा से ही इसके अस्तित्व का अनुमान हो सकता है। परन्तु चूँकि, टिप्पणी २ और ३ में हम दिखा चुके हैं कि द्रव्य की परिभाषा से अनेक द्रव्यों के अस्तित्व का अनुमान नहीं हो सकता, इसलिए इसका अनिवार्य परिणाम यह है कि दो या अधिक द्रव्यों की एक प्रकृति नहीं हो सकती, जैसा कहा गया था।

साध्य ९—जितनी अधिक मात्रा में किसी वस्तु में सत्ता है, उतने ही अधिक उसके गुण होंगे।

उपपत्ति—यह परि० ४ में स्पष्ट है।

साध्य १०—एक मात्र द्रव्य के प्रत्येक गुण का चिन्तन उसी के द्वारा होना चाहिए।

उपपत्ति—गुण वह है जिसे बुद्धि किसी द्रव्य के सार के रूप में देखती है (परि० ४), इसलिए (परि० ३) इसका चिन्तन इसी के द्वारा होना आवश्यक है। इ० सि०

टिप्पणी—इससे पता लगता है कि यद्यपि दो गुण एक दूसरे से वास्तव में भिन्न समझे जाते हैं, अर्थात् एक का चिन्तन दूसरे की सहायता के बिना होता है, तो भी हम इससे यह अनुमान नहीं कर सकते कि वे दो तत्त्व या दो भिन्न द्रव्य हैं। क्योंकि द्रव्य की प्रकृति का ही यह परिणाम है कि इसके प्रत्येक गुण का चिन्तन स्वयं इसी के द्वारा होता है, क्योंकि सभी गुण जो कभी इसमें थे, एक साथ इसमें विद्यमान थे, इनमें से कोई किसी दूसरे से उत्पन्न नहीं हो सकता था, परन्तु वह प्रत्येक द्रव्य की सत्ता को प्रकाशित करता है। इसलिए एक द्रव्य को कई गुणों से सम्पन्न बताना किसी तरह उचित नहीं कहा जा सकता। परन्तु दूसरी ओर, यह तो स्पष्ट है

कि प्रत्येक वस्तु का चिन्तन किसी गुण के परिणामो के अधीन होना चाहिए; और जितनी अधिक सत्ता इसमें है, अनिवार्यता या नित्यता और अनन्तता प्रकट करने वाले उतने ही अधिक गुण इसमें विद्यमान होते हैं। और यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि तत्त्व की परिभाषा में कहना चाहिए कि वह प्रकृत्या अनन्त है (जैसा हमने परि० ६ में लक्षित किया था), और उसमें असंख्य गुण हैं, जिनमें से प्रत्येक एक विशेष नित्य और अनन्त सार को व्यक्त करता है। परन्तु इस पर भी यदि कोई पूछे कि हम किस चिह्न से द्रव्यों के भेद को जान सकते हैं, तो वह आगामी साध्यों को पढ़े जो बता देंगे कि सत्ता की प्रकृति के अनुसार ही, केवल एक द्रव्य का अस्तित्व है, और वह पूर्ण रूप से अनन्त है, इसलिए उसका ऐसे चिह्न की बाबत पूछना व्यर्थ है।

साध्य ११—ईश्वर या ऐसा द्रव्य जिसमें असंख्य ऐसे गुण हैं, जिनमें से प्रत्येक नित्य और अनन्त सार को व्यक्त करता है, अवश्य ही विद्यमान है।

उपपत्ति—यदि तुम इसे स्वीकार नहीं करते, तो, सम्भव हो तो, चिन्तन करो कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं। तब (स्वयं ७) उसके सार में अस्तित्व निहित नहीं। परन्तु यह (साध्य ७) अर्थहीन है। इसलिए ईश्वर अवश्यमेव विद्यमान है।

और उपपत्ति—प्रत्येक वस्तु की बाबत कोई कारण या हेतु बताना चाहिए कि क्यों यह है, या नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि एक त्रिभुज विद्यमान है, तो इसके विद्यमान होने का कारण या हेतु स्वीकार करना चाहिए, परन्तु यदि यह विद्यमान नहीं, तो मानना चाहिए कि कोई ऐसा कारण है जो इसके अस्तित्व को रोकता है, या इसे अस्तित्व से वंचित कर देता है। अब यह हेतु या कारण उस वस्तु की प्रकृति के अन्तर्गत होना चाहिए, या उसके बाहर। उदाहरण के लिए, एक समकोण चतुर्भुज वृत्त के अभाव का कारण वृत्त की प्रकृति से ही प्रकट है—स्पष्ट रूप में, क्योंकि इसमें आन्तरिक विरोध मौजूद है। दूसरी ओर द्रव्य का अस्तित्व उसकी प्रकृति का ही परिणाम है, क्योंकि उसमें अस्तित्व निहित है (देखो साध्य ७)। परन्तु यह बात कि किसी त्रिभुज या वृत्त का भाव या अभाव क्यों है, उसकी प्रकृति से व्यक्त नहीं होती, अपितु व्यापक प्राकृतिक स्थिति की व्यवस्था का परिणाम है। इससे यह भी अनुमान हो सकता है कि या तो त्रिभुज का अस्तित्व अनिवार्य है, या इसका अब विद्यमान होना असम्भव है। परन्तु ये बातें अपने द्वारा व्यक्त होती हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि जिस वस्तु के अस्तित्व को रोकनेवाला कोई कारण मौजूद नहीं, उसका अस्तित्व अनिवार्य है। इस तरह, यदि कोई हेतु

या कारण स्वीकृत नहीं होता, जिसमें ईश्वर के अस्तित्व को रोकने या उसे अस्तित्व से वंचित करने की योग्यता है, तो निश्चय अनुमान करना चाहिए कि ईश्वर अनिवार्य रूप में वर्तमान है। परन्तु यदि किसी ऐसे कारण या हेतु को स्वीकार किया जाय, तो इसे या तो स्वयं ईश्वर की प्रकृति में मानना चाहिए, या उसके बाहर, अर्थात् अन्य प्रकृति के अन्य द्रव्य में। परन्तु यदि इस तथ्य से ही ईश्वर की प्रकृति को स्वीकार किया जाय, तो अनुमान करना पड़ेगा कि ईश्वर को स्वीकार किया गया है। परन्तु किसी अन्य प्रकृति के द्रव्य में किसी चीज का ईश्वर से साझा नहीं है (साध्य २), इसलिए वह न तो ईश्वर को अस्तित्व दे सकता है, न उसे अस्तित्व से वंचित कर सकता है। और चूँकि ऐसा कारण जो ईश्वर को अस्तित्व से वंचित कर देगा, ईश्वर की प्रकृति के बाहर स्वीकृत नहीं हो सकता, तो, यदि ईश्वर का भाव नहीं, इसे ईश्वर की प्रकृति में मानना पड़ेगा, और इसमें आन्तरिक विरोध होगा। परन्तु ऐसी वस्तु की बाबत, जो सभी बातों में पूर्ण रूप से अनन्त और निर्दोष है, ऐसा कहना अर्थहीन है। इसलिए न ईश्वर में, और न उसके बाहर कोई ऐसा कारण माना जाता है, जो उसे उसके अस्तित्व से वंचित कर सके, और इसलिए अवश्यमेव ईश्वर है। इ० सि०

और उपपत्ति—वर्तमान होने की अयोग्यता शक्ति का अभाव है, और दूसरी ओर, वर्तमान होने की योग्यता शक्ति है (जैसा स्वतः सिद्ध है)। और चूँकि जो कुछ अब अनिवार्य रूप में विद्यमान है, सान्त वस्तुओं से ही बना है, इसलिए सान्त वस्तुएँ ऐसी सत्ता से, जो पूर्ण रूप से अनन्त है, अधिक शक्तिमान् है, और यह, जैसा स्वतः सिद्ध है, अर्थहीन है। इसलिए या तो किसी वस्तु का भी अस्तित्व नहीं, या एक पूर्ण रूप से अनन्त सत्ता का अनिवार्य अस्तित्व है। और हम भी या अपने आप में या किसी अन्य वस्तु में, जिसकी अनिवार्य सत्ता है, वर्तमान है (देखो स्वयं० १ और साध्य ७)। इसलिए, पूर्ण रूप में अनन्त एक सत्ता, अर्थात् (परि० ६) ईश्वर, अनिवार्य रूप में विद्यमान है। इ० सि०

टिप्पणी—इस अन्तिम उपपत्ति में मैं अनुभव-अपर रीति से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना चाहता था, ताकि यह अधिक सहज में विदित हो सके, इसलिए नहीं कि ईश्वर का अस्तित्व तर्क के उसी आधार से अनुभवपूर्व रीति से अनुमित नहीं होता। क्योंकि जब अस्तित्व की योग्यता शक्ति है, तो जितनी अधिक सत्ता किसी वस्तु में है, उतनी ही अधिक शक्ति उसमें वर्तमान होने की होगी; और इस तरह पूर्ण रूप में अनन्त सत्ता या ईश्वर में अपने आप से अस्तित्व की असीम शक्ति है,

और इस कारण वह अनिवार्य रूप में विद्यमान है। इस पर भी शायद बहुत लोग इस उपपत्ति की यथार्थता को आसानी से न देख सकेंगे, क्योंकि वे अक्सर ऐसी वस्तुओं को देखते और विचारते हैं, जो बाहरी कारणों से उदय होती हैं, और इनमें भी वे देखते हैं कि जो वस्तुएँ शीघ्र बनती हैं, अर्थात् आसानी से विद्यमान रहती हैं, वे सहज ही विनष्ट हो जाती हैं, और दूसरी ओर, वे ख्याल कहते हैं कि जिन वस्तुओं में अधिक गुण दीखते हैं, वे अधिक कठिनाई से बनती हैं, अर्थात् ऐसी सुगमता से विद्यमान नहीं रहती। परन्तु, वास्तव में, उन्हें इन पक्षपातों से विमुक्त करने के लिए, मेरे लिए यहाँ यह दिखाना आवश्यक नहीं कि किस रीति से या किस हेतु से यह कथन कि 'जो कुछ शीघ्र बनता है वह शीघ्र विनष्ट होता है', सत्य है, न ही यह दिखाना आवश्यक है कि, समस्त जगत् को ध्यान में रखते हुए सभी वस्तुओं का बनना एक समान कठिन है या नहीं, इतना ही ध्यान में रखना पर्याप्त है कि मैं यहाँ ऐसी वस्तुओं का वर्णन नहीं करता जो बाह्य कारणों से बनती हैं, अपितु, उन वस्तुओं का ही करता हूँ, जो बाहरी कारण से बन नहीं सकती। क्योंकि ऐसी वस्तुएँ जो बाहरी कारणों से बनती हैं, चाहे उनके भाग अधिक हों या थोड़े, जो कुछ पूर्णता या सत्ता उनमें है, वह उनके बाहरी कारण की देन है, और इसलिए उनका अस्तित्व किसी बाहरी कारण की पूर्णता से उदय होता है, अपनी पूर्णता से नहीं। दूसरी ओर, जो पूर्णता किसी द्रव्य में है, वह किसी बाहरी कारण का परिणाम नहीं, इसके परिणाम-स्वरूप इसका अस्तित्व इसकी प्रकृति में ही उदान होना चाहिए। और चक्र प्रकृति मार ही है। इसलिए, पूर्णता किनी वस्तु से अस्तित्व ग्रहण नहीं करती, अपितु उसे अस्तित्व देती है, परन्तु, इसके विपरीत, त्रुटि अस्तित्व को छीन लेती है, और इस तरह हमें निरपेक्ष अनन्त या पूर्ण सत्ता, अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व में अधिक दृढ़ निश्चय किसी वस्तु के अस्तित्व का नहीं हो सकता। अब चूँकि ईश्वर का सार हर प्रकार की अपूर्णता का निपेक्षक है, और निरपेक्ष पूर्णता का सूचक है, यह तथ्य ही उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह के प्रत्येक कारण को दूर कर देता है और उसे असन्दिग्ध बना देता है। मेरे विचार में, जो कोई इस पर तनिक सा भी ध्यान दे, उसे यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।

साध्य १२—द्रव्य के किसी ऐसे गुण का, जिससे यह परिणाम निकले कि द्रव्य भागों में विभक्त हो सकता है, चिन्तन नहीं हो सकता।

उपपत्ति—इस प्रकार से कल्पित द्रव्य को जिन भागों में बाँटा जा सकता है, उन भागों में उसके गुण टिके रहेंगे, या नहीं रहेंगे। पहली अवस्था में (साध्य ८)

प्रत्येक भाग को अवश्य अनन्त होना चाहिए, और उसे (साध्य ६) अपना कारण स्वयं होना चाहिए, साथ ही (साध्य ५) विविध गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। इस तरह एक द्रव्य से कई द्रव्य बन सकते हैं, जो (साध्य ६) अर्थहीन हैं। इसके अतिरिक्त, भागों और समग्र में कुछ साक्षात् नहीं होगा (साध्य २) और समग्र (परि० ४ और साध्य १०) अपने भागों के अभाव में विद्यमान हो सकेगा और विचार-विषय बन सकेगा, जिसमें सब कोई अर्थहीन मानेंगे। दूसरी अवस्था में, जब कि द्रव्य का स्वभाव भागों में स्थिर नहीं रहता, द्रव्य, बराबर भागों में विभाजित होने पर, अपने स्वभाव को खो बैठेगा और विनष्ट हो जायगा। यह (साध्य ७) अर्थहीन है।

साध्य १३—निरपेक्ष रूप में अनन्त द्रव्य अभाज्य है।

उपपत्ति—यदि यह भाज्य है, तो जिन भागों में इसका विभाजन होगा, वे या तो द्रव्य की प्रकृति को स्वायत्त रखेंगे, अथवा न रखेंगे। पहली अवस्था में, एक ही प्रकृति के कई द्रव्य होंगे, किन्तु यह बात (साध्य ५) अर्थहीन है। दूसरी अवस्था में, एक ऐसे द्रव्य के लिए जो निरपेक्ष रूप में अनन्त है, विनष्ट हो जाना सम्भव होगा (जैसा ऊपर साध्य ७ से सिद्ध है)। यह बात भी अर्थहीन है (साध्य ११)।

उपप्रेम—इसका परिणाम यह है कि कोई द्रव्य, यहाँ तक कि कोई शरीर-धारी द्रव्य भी, द्रव्य होने की स्थिति में भागों में विभक्त नहीं हो सकता।

टिप्पणी—द्रव्य का अभाज्य होना अधिक सुगमता से इस तरह भी देखा जा सकता है कि द्रव्य की प्रकृति अनन्त ही समझी जा सकती है, और द्रव्य के भाग का चिन्तन एक ससीम द्रव्य के रूप में ही हो सकता है, जिसमें (साध्य ८) एक स्पष्ट आन्तरिक विरोध मौजूद है।

साध्य १४—ईश्वर के अतिरिक्त कोई द्रव्य माना नहीं जा सकता, न किसी का चिन्तन किया जा सकता है।

उपपत्ति—चूँकि ईश्वर एक निरपेक्ष रूप में अनन्त तत्त्व है, जिसमें द्रव्य के सार को प्रकट करनेवाला कोई गुण अस्वीकृत नहीं हो सकता (परि० ६), और चूँकि वह अनिवार्य रूप में विद्यमान है (साध्य ११), यदि उसके अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य विद्यमान हो, तो उसका समाधान ईश्वरके किसी गुण के द्वारा हो सकेगा, और इस तरह एक ही गुण वाले दो द्रव्य विद्यमान होंगे, जो (साध्य ५) अर्थहीन हैं। इस तरह ईश्वर के अतिरिक्त कोई द्रव्य माना नहीं जा सकता, न इसी लिए

उसका चिन्तन ही किया जा सकता है, क्योंकि यदि उसका चिन्तन हो सके, तो यह चिन्तन अवश्य ही एक वर्तमान वस्तु का चिन्तन होगा—जो इस उपपत्ति के पहले भाग के अनुसार अर्थहीन है। इसलिए ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य को माना नहीं जा सकता, न किसी का चिन्तन किया जा सकता है। इ० सि०

उपप्रमेय १—इसका परिणाम यह है कि ईश्वर एक ही है, अर्थात् कोई उसके मदृश नहीं, या, वस्तुओं के स्वभाव में ही, एक द्रव्य ही माना जा सकता है, और वह अवश्यमेव अनन्त है, जैसा हमने साध्य १० की टिप्पणी में बताया था।

उपप्रमेय २—इसका दूसरा परिणाम यह है कि विस्तार और चिन्तन या तो ईश्वर के गुण है, या ईश्वर के गुणों के रूपभेद है।

साध्य १५—जो कुछ है, ईश्वर में है, और ईश्वर के बिना न किसी वस्तु का अस्तित्व हो सकता है, न किसी का चिन्तन हो सकता है।

उपपत्ति—ईश्वर के बिना कोई द्रव्य माना नहीं जाता, न किसी का चिन्तन हो सकता है (साध्य १४), अर्थात् (परि० ३) वह कोई ऐसा पदार्थ है जो अपने आप में है और उसे अपने द्वारा ही विचारा जाता है। परन्तु रूप भेद (परि० ५) द्रव्य के बिना नहीं रह सकते, न विचार का विषय बनते हैं, इसलिए ये दैवी प्रकृति में ही हो सकते हैं, और उसके द्वारा ही इनका चिन्तन हो सकता है। परन्तु द्रव्यों और उनके रूपभेदों के बिना कुछ माना नहीं जाता (स्वयं० १)। इसलिए ईश्वर के बिना न किसी वस्तु का अस्तित्व हो सकता है, न किसी का चिन्तन हो सकता है। इ० सि०

टिप्पणी—कुछ लोग ख्याल करते हैं कि ईश्वर का मन और शरीर मनुष्य के ही समान है, और वह सभी उद्वेगों से आक्रान्त हो सकता है। परन्तु जो कुछ ऊपर प्रमाणित किया गया है, उससे यह स्पष्ट होगा कि यह विचार ईश्वर के यथार्थ प्रत्यय से कितना दूर है। मैं यहाँ उन प्रमाणों की बाबत कुछ नहीं कहूँगा। जिन लोगों ने ईश्वर की प्रकृति पर अनेक प्रकार से विचार किया है, उन्होंने ईश्वर को शरीरधारी मानने में इनकार किया है और इस बात को उत्तम रीति से इस तथ्य द्वारा सिद्ध किया है कि शरीर से हमारा अभिप्राय एक परिमाण होता है, जिसकी लम्बाई, चौड़ाई और गहराई है, और उसका विशेष आकार है। ईश्वर की बाबत, जो एक निरपेक्ष रूप में अनन्त तत्त्व है, ऐसी बात कहने से अधिक अर्थहीन कथन और क्या हो सकता है? चूँकि जिन दलीलों से उन्होंने इसे सिद्ध करने का यत्न किया है, उनमें से एक में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि शरीरधारी या

विस्तृत सत्ता दैवी प्रकृति से बहुत भिन्न है, इसलिए उन्होंने कहा है कि इसे ईश्वर ने उत्पन्न किया है। परन्तु वे किसी तरह यह नहीं बता सकते कि दैवी प्रकृति कहाँ से उत्पन्न हुई, क्योंकि वे आप स्वीकार करते हैं कि वे यह नहीं जानते। परन्तु मेरा ख्याल है कि मैंने इतना तो पर्याप्त स्पष्टता से सिद्ध कर दिया है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य से उत्पन्न नहीं हो सकता (देखो साध्य ६, उपप्रमेय, और साध्य ८, टिप्पणी २)। इसके अतिरिक्त (साध्य १५ में) हमने दिखाया है कि ईश्वर के सिवाय कोई अन्य द्रव्य माना नहीं जा सकता, न उसका चिन्तन किया जा सकता है। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विस्तृत द्रव्य ईश्वर के असंख्य गुणों में से एक है। इसका अधिक उत्तम और विस्तृत समाधान करने के लिए, मैं अपने विपक्षियों की युक्तियों का खण्डन करूँगा, क्योंकि ये सब युक्तियाँ इस बिन्दु की ओर ही आती दिखाई देती हैं।

प्रथम यह कि उनके विचार में शरीरधारी द्रव्य, जहाँ तक यह द्रव्य है, भागों से बना है, इसलिए वे इस बात को अस्वीकार करते हैं कि यह अनन्त हो सकता है, और फलतः ईश्वर से सबद्ध हो सकता है। इसे दर्शाने के लिए वे कई दृष्टान्त देते हैं, जिनमें से मैं एक या दो चुनूँगा।

वे कहते हैं, यदि शरीरधारी द्रव्य अनन्त है, तो चिन्तन करो कि यह दो भागों में बँटा है, इनमें से प्रत्येक भाग या तो सान्त होगा या अनन्त। यदि दोनों सान्त हैं तो अनन्त दो सान्त भागों से बना मानना पड़ेगा और ऐसा कहना अर्थहीन होगा। यदि वे अनन्त हैं, तो दो वस्तुओं में से एक दूसरी की अपेक्षा दुगुनी अनन्त माननी होगी। यह भी अर्थहीन है। फिर, यदि एक अनन्त अन्तर को फुटों में नापा जाय, तो इसमें अनन्त फुट होंगे। इन्चों में नापा जाय, तो वे भी अनन्त होंगे। इस तरह एक अनन्त सख्या दूसरी अनन्त सख्या से १२ गुनी बड़ी होगी। फिर, यदि तुम किसी बिन्दु से अनन्त परिमाण का चिन्तन करना चाहो, तो एक बिन्दु अ से अब और अ से दो रेखाएँ खींचो—पहले बराबर, और पीछे इन्हें असीम मात्रा में बढ़ाते

अ { ब जाओ। निश्चय ही ब और स का अन्तर बढ़ता जायगा, और निश्चित और ससीम अन्तर के स्थान में अपरिमित और असीम हो जायगा। वे समझते हैं कि ये अर्थहीन बातें अनन्त परिमाण की कल्पना का फल हैं, और
स इससे अनुमान करते हैं कि शरीरधारी द्रव्य अवश्य सीमित है, और इसलिए ईश्वर के सार से सबद्ध नहीं हो सकता।

दूसरी युक्ति ईश्वर की महान् पूर्णता से भी अनुमित होती है। वे कहते हैं कि ईश्वर सब बातों में पूर्ण होने के कारण आक्रान्त नहीं हो सकता, परन्तु शरीरधारी द्रव्य, चूँकि यह विभाज्य है, आक्रान्त हो सकता है। इसका परिणाम यह है कि यह द्रव्य ईश्वर के सार से सम्बद्ध नहीं हो सकता। ये युक्तियाँ हैं जो मैं उन बहु-तेरे लेखकों के लेखों में पाता हूँ, जो यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि शरीरधारी द्रव्य दैवी प्रकृति के योग्य नहीं और इससे सबद्ध नहीं हो सकता। परन्तु वास्तव में यदि कोई इस पर ध्यान से विचार करे, तो उसे पता लगेगा कि मैं इन युक्तियों का उत्तर दे चुका हूँ, क्योंकि इन युक्तियों का आधार यह है—वे मान लेते हैं कि शरीरधारी द्रव्य भागों से बना है, जिसे मैंने साध्य १२ और साध्य १३ के उपप्रमेय में अर्थहीन दर्शाया है। यदि कोई इस विषय पर विचार करे, तो उसे पता लगेगा कि ये सब अर्थहीन बातें (यदि ये सब अर्थहीन हैं, क्योंकि मैं अभी इन्हे अस्वीकार नहीं कर रहा), जिनसे वे विस्तृत द्रव्य के सीमित होने का अनुमान करना चाहते हैं, अनन्त परिमाण मानने का परिणाम नहीं, अपितु उनकी उस कल्पना का परिणाम है कि अनन्त परिमाण परिमित और ससीम भागों से बना है, और जो अर्थहीन बातें इससे अनुमित होती हैं, उनसे यही नतीजा निकाल सकते हैं कि अनन्त परिमाण मापा नहीं जा सकता, न वह भागों का समूह ही है। परन्तु यह नतीजा वही है, जिसे हमने साध्य १२ इत्यादि में पहले दिखाया है। इस तरह जो तीर वे हम पर चलाना चाहते थे, अब अपनी ओर छोड़ रहे हैं। इस पर भी, यदि वे अपनी इस अर्थहीन कल्पना से विस्तृत द्रव्य के सीमित होने का अनुमान करना चाहते हैं, तो उनकी दशा ऐसे पुरुष की सी दशा है, जो कल्पना करे कि वृत्त में समकोण चतुर्भुज के गुण हैं, और इससे यह परिणाम निकाले कि वृत्त में कोई केन्द्र नहीं, जिससे परिधि को जानेवाली सभी रेखाएँ बराबर हैं। क्योंकि वे शरीरधारी द्रव्य को, जिसे अनन्त, अपूर्व और अभाज्य ही विचार जा सकता है, इसे सान्त सिद्ध करने के लिए, सान्त भागों का बना हुआ, मिश्र और भाज्य समझते हैं। इसी तरह कुछ अन्य लोग रेखा को बिन्दुओं से बनी हुई कहकर यह दिखाने के लिए कई युक्तियाँ प्रस्तुत कर सकते हैं कि रेखा का अनन्त विभाजन नहीं हो सकता। तथ्य यह है कि शरीरधारी द्रव्य को वस्तुओं या भागों का बना हुआ समझना उतना ही अर्थहीन है, जितना यह समझना कि वस्तु तलों में बनी होती है, या तल रेखाओं से और रेखाएँ बिन्दुओं से बनी होती हैं। परन्तु उन लोगों को तो जो विमल बुद्धि को अभ्रान्त जानते हैं, विशेषकर शून्य स्थान की सभावना को अस्वीकार करते हैं, यह

अवश्य मानना ही चाहिए। क्योंकि यदि शरीरधारी द्रव्य इस तरह बाँटा जा सकता कि उसके भाग वास्तव में अलग-अलग होते, तो ऐसा क्यों न हो सकता कि एक भाग विनष्ट हो जाय और शेष पहले की तरह मुक्त रहे? और वे सब आपस में इस तरह व्यवस्थित हो कि कहीं शून्य स्थान न हो? क्योंकि जो चीज़ें एक दूसरे से पृथक् हों, उनमें कोई एक दूसरे के बिना बनी रह सकती है और अपनी स्थिति बनाये रख सकती है। चूँकि प्रकृति शून्य से घृणा करती है (जिसकी बाबत अधिक कहा जायगा), और सब भागों का ऐसा संयोग होना चाहिए कि शून्य बनने ही न पाये, इसका परिणाम यह है कि शरीरधारी द्रव्य के भागों में वास्तव में भेद नहीं किया जा सकता, अर्थात् शरीरधारी द्रव्य को, जहाँ तक कि यह द्रव्य है, भागों में बाँटा नहीं जा सकता।

इस पर भी यदि कोई पूछे कि हममें स्वभाव से ही परिमाण को बाँटने की प्रवृत्ति क्यों है, तो मेरा उत्तर यह है कि हम परिमाण का चिन्तन दो प्रकार से करते हैं—कल्पना से और बुद्धि से, कल्पना असाकार और बाहरी चिन्तन को जन्म देती है, बुद्धि इसे द्रव्य के रूप में देखती है। इसलिए यदि हम परिमाण को, जैसा यह कल्पना में है, देखें, तो यह सान्त, भाज्य और भागों से बना दीखेगा—हम अक्सर और मृगमता से इसे ऐसे ही देखते हैं, परन्तु यदि हम इसे देखें, जैसे यह बुद्धि में है, और द्रव्य की स्थिति में इसका चिन्तन करें, जो जटिल क्रिया है, तो, जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, यह अनन्त, अनुपम और अभाज्य दिखेगा। उन सबको जो कल्पना और बुद्धि में भेद कर सकते हैं, यह विलकुल स्पष्ट दिखेगा, विशेष करके यदि इस बात को ध्यान में रखा जाय कि प्रकृति हर कहीं अभिन्न है, और इसके भागों में भेद हो सकता है, तो इसी हद तक कि हम प्रकृति का विविध रूपभेदों में परिणत चिन्तन करते हैं, जिससे इसके भाग आकार में भिन्न दीखते हैं, परन्तु तल में नहीं। उदाहरण के लिए, हम जल की स्थिति में, जल को बँटा हुआ और इसके भागों को एक दूसरे से भिन्न समझ सकते हैं, परन्तु शरीरधारी द्रव्य की स्थिति में ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि इस स्थिति में यह न पृथक् है, न बँटा हुआ है। फिर, जल की स्थिति में यह बन सकता और नष्ट हो सकता है, परन्तु द्रव्य की स्थिति में यह न तो बन सकता है, न नष्ट हो सकता है। और इस तरह, मेरे ख्याल में मैंने दूसरी युक्ति का उत्तर दे दिया है, क्योंकि इसका आधार भी इसी पर है कि प्रकृति, द्रव्य होने की स्थिति में, भाज्य और भागों से बनी है। और यद्यपि ऐसा न हो, तो भी मैं नहीं जानता कि द्रव्य क्यों दैवी प्रकृति के अयोग्य है, क्योंकि (साध्य १४)

ईश्वर के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं हो सकती जिससे ईश्वर प्रभावित हो। मैं कहता हूँ कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर में है, और सारी वस्तुएँ जो बनी हैं, ईश्वर की अनन्त प्रकृति के नियमों से बनी हैं, और उसके सार की अनिवार्यता का अनिवार्य परिणाम हैं (जैसा मैं शीघ्र ही दिखाऊँगा)। इसलिए किसी हेतु के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर अपने सिवाय किसी अन्य वस्तु से प्रभावित होता है, या विस्तृत द्रव्य दैवी प्रकृति के अयोग्य है, यद्यपि इसे भाज्य माना जाय, जब तक कि इसे नित्य और अनन्त स्वीकार किया जाता है। परन्तु इस समय मैं इस पर पर्याप्त कह चुका हूँ।

साध्य १६—असख्य आकारों में असख्य वस्तुएँ (अर्थात् सभी वस्तुएँ जो अनन्त बुद्धि के शीर्षक के नीचे आ सकती हैं) अनिवार्य रूप से दैवी प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम होनी चाहिए।

उपपत्ति—जो कोई भी इस पर विचार करेगा, उसको यह साध्य स्पष्ट होगा कि प्रत्येक वस्तु की प्रस्तुत परिभाषा से, बुद्धि विशेष गुणों को ग्रहण करती है, जो वास्तव में अवश्य ही परिभाषा (अर्थात् वस्तु के सार) का परिणाम होते हैं, और इस तरह जितनी अधिक सत्ता किसी वस्तु की परिभाषा व्यक्त करती है, अर्थात् जितनी अधिक सत्ता किसी विशेष वस्तु के सार में विद्यमान होती है, उतने ही अधिक गुण बुद्धि ग्रहण करेगी। परन्तु चूँकि दैवी प्रकृति में पूर्णतया असख्य गुण मौजूद हैं, जिनमें से प्रत्येक अपनी जाति में अनन्त सार व्यक्त करता है, इसलिए असख्य आकारों में असख्य वस्तुएँ (अर्थात् सभी वस्तुएँ जो अनन्त बुद्धि के शीर्षक के नीचे आ सकती हैं) अनिवार्य रूप से इसकी अनिवार्यता का परिणाम होनी चाहिए। इ० सि०

उपप्रमेय १—इससे यह परिणाम निकलता है कि ईश्वर उन सब वस्तुओं का, जो अनन्त बुद्धि से जानी जाती हैं, निमित्त कारण है।

उपप्रमेय २—इससे यह परिणाम निकलता है कि ईश्वर स्वतः कारण है, न कि वस्तुतः सयोगी।

उपप्रमेय ३—इससे यह परिणाम निकलता है कि ईश्वर अनिवार्य रूप से प्रथम कारण है।

साध्य १७—ईश्वर केवल अपने नियमों के अनुसार क्रिया करता है, और किसी से विवश नहीं होता।

उपपत्ति—हम अभी दिखा चुके हैं (साध्य १६) कि असख्य वस्तुएँ दैवी

प्रकृति की अनिवार्यता से ही, या, अन्य शब्दों में, दैवी प्रकृति के नियमों से ही व्यक्त होनी चाहिए, और (साध्य १५) यह भी दिखा चुके हैं कि किसी वस्तु का ईश्वर के बिना चिन्तन नहीं हो सकता, अपितु प्रत्येक वस्तु ईश्वर में विद्यमान है। इसलिए ईश्वर के बाहर किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं हो सकता, जिससे वह अपनी क्रियाओं में नियंत्रित या विवश हो सके, इसलिए ईश्वर केवल अपने नियमों के अनुसार क्रिया करता है और किसी से विवश नहीं होता। इ० सि०

उपप्रमेय १—इससे अनुमान होता है कि ईश्वर की प्रकृति की पूर्णता के अतिरिक्त कोई ऐसा कारण नहीं दिया जा सकता, जो बाहर से या अन्दर से उसे क्रिया के लिए उत्तेजित करता हो।

उपप्रमेय २—इससे अनुमान होता है कि ईश्वर ही एक स्वाधीन कारण है। क्योंकि ईश्वर ही केवल अपनी प्रकृति की अनिवार्यता से विद्यमान है (साध्य ११ और साध्य १४, उपप्रमेय १), और केवल अपनी प्रकृति की अनिवार्यता से क्रिया करता है (पूर्व साध्य), और इसलिए (परि० ७) वह एक मात्र स्वाधीन कारण है। इ० सि०

टिप्पणी—दूसरों के विचारानुसार, ईश्वर का एक स्वाधीन कारण होना इसमें निहित है कि जो वस्तुएँ हमारे मतानुसार उसकी प्रकृति अर्थात् उसकी शक्ति का परिणाम हैं, उन्हें वह बनने से रोक सके या आप उन्हें न बनाये। परन्तु उनके कथन का आशय तो मानो यह है कि ईश्वर यह कर सकता है कि त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोणों के बराबर न हों, या किसी विशेष कारण का कोई परिणाम न हो, जो एक अर्थहीन कथन है। क्योंकि आगे चलकर, इस साध्य की सहायता के बिना, मैं यह दिखाऊँगा कि बुद्धि और सकल्प-शक्ति ईश्वर की प्रकृति से सबद्ध नहीं। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि बहुतेरे लोग यह सिद्ध करने का दावा करते हैं कि महत्तम बुद्धि और स्वाधीन सकल्प ईश्वर की प्रकृति में विद्यमान है, क्योंकि वे कहते हैं कि वे ईश्वर में उस पूर्णता की अपेक्षा, जो मनुष्यों में उच्चतम गुण है, किसी उच्चतम गुण का अध्याहार नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त, यद्यपि वे ईश्वर की बुद्धि में सक्रिय वस्तुओं के महत्तम ज्ञान का चिन्तन करते हैं, तो भी वे यह विश्वास नहीं करते कि ईश्वर जो कुछ भी अपनी बुद्धि क्रिया में देखता है, उसे वह अस्तित्व दे सकता है, क्योंकि वे समझते हैं कि ऐसा करने पर वे ईश्वर की शक्ति को नष्ट कर देंगे। वे कहते हैं कि यदि वह उन सभी वस्तुओं को जिन्हें उसकी बुद्धि जानती है, उत्पन्न कर दे, तो उसमें किसी अन्य वस्तु को उत्पन्न

करने की योग्यता नहीं रहेगी, जो उनके विचार में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के प्रतिकूल है। और इसलिए वे यह कहना पसन्द करते हैं कि ईश्वर सभी वस्तुओं के प्रति उदासीन है, और अपने स्वाधीन सकल्प से जो कुछ उत्पन्न करना चाहता है, उसे ही उत्पन्न करता है। परन्तु मेरा ख्याल है कि मैंने पर्याप्त रूप में दिखा दिया है (साध्य १६) कि ईश्वर की परम शक्ति या अनन्त प्रकृति से, असंख्य वस्तुएँ असंख्य आकारों में, अर्थात् सभी वस्तुएँ, अनिवार्य रूप से प्रकट होती हैं, या उसी अनिवार्यता से सदा प्रकट होती हैं। उसी कारण एक त्रिभुज की प्रकृति से भी यह नित्यता से नित्यता तक सत्य है कि तीनों कोण मिलकर दो समकोणों के बराबर होंगे। इसलिए ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता अनादि काल से क्रिया में लगी थी, और उसी क्रिया की अवस्था में अनन्त काल तक रहेगी। इस तरह, मेरे विचार में, ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की पूर्णता अधिक व्यक्त होती है। दूसरी ओर ईश्वर के विरोधी उसकी सर्वशक्तिमत्ता से इन्कार करते प्रतीत होते हैं (साफ़ बात तो यह है)। क्योंकि वे यह मानने पर बाधित होते हैं कि ईश्वर के ज्ञान में अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जो उत्पन्न हो सकती थीं, परन्तु जिन्हें वह कभी उत्पन्न कर नहीं सकता। क्योंकि, अन्य गद्दों में, यदि वह सब कुछ, जो उसके ज्ञान में था, उत्पन्न कर देता, तो, उनके विचारानुसार, उसकी सर्वशक्तिमत्ता समाप्त हो जाती और वह अपूर्ण हो जाता। चूँकि वे कहते हैं कि ईश्वर पूर्ण है, इसलिए इसके साथ वे यह कहने पर भी बाधित होते हैं कि वह उन सब वस्तुओं को, जो उसकी शक्ति की पहुँच में है, पूरा कर नहीं सकता। मैं तो कल्पना नहीं कर सकता कि इसमें अधिक अर्थहीन या ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की निषेधक बात का चिन्तन हो सकता है। इसके अनिरिक्त (चूँकि मैं बुद्धि और सकल्प-शक्ति की वास्तव, जिन्हें हम आम तौर पर ईश्वर की ओर निर्दिष्ट करते हैं, कुछ कहना चाहूँगा), यदि बुद्धि और सकल्पशक्ति ईश्वर के नित्य सार से सबद्ध है, तो इन दोनों को उन अर्थों से, जिनमें मनुष्य उन्हें प्रायः लेते हैं, बहुत भिन्न अर्थों में लेना चाहिए। क्योंकि वह बुद्धि और सकल्पशक्ति जो ईश्वर का सार होगी, वे हमारी बुद्धि और सकल्प-शक्ति में अवश्य सर्वथा भिन्न होगी, उनमें समानता केवल नाम की होगी, जैसे भौकनेवाले कुत्ते और नक्षत्र 'कुत्ते' में है। इसे मैं निम्न प्रकार से प्रकट करूँगा। यदि बुद्धि दैवी प्रकृति का अंश है, तो यह हमारी बुद्धि (बोध) की तरह अपनी चिन्त्य वस्तुओं से उत्तर या समकालीन नहीं हो सकती (जैसा बहुतेरे चाहेंगे), क्योंकि (साध्य १६, उपप्रमेय १) ईश्वर कारण में सब

वस्तुओं से एक समान पूर्व है। परन्तु दूसरी ओर सत्य और वस्तुओं का आकारात्मक सार इस स्थिति में है, क्योंकि वे ईश्वर की बुद्धि में इस तरह वस्तुगत विद्यमान हैं। इसलिए ईश्वर की बुद्धि, जहाँ तक हम इसे उसका सार समझ सकते हैं, वास्तव में वस्तुओं का कारण है—उनके सार और अस्तित्व दोनों का, जिसकी ओर उन लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ प्रतीत होता है, जिन्होंने ईश्वर की बुद्धि, सकल्प-शक्ति और शक्ति को अभिन्न बयान किया है। अब चूँकि ईश्वर की बुद्धि वस्तुओं का, अर्थात् उनके सार और अस्तित्व का एक मात्र कारण है, इसलिए इसे अवश्यमेव उन वस्तुओं से अपने सार और अपने अस्तित्व में भिन्न होना चाहिए। क्योंकि जो कुछ निर्मित होता है, वह अपने कारण में ठीक उसी में, जो वह कारण से प्राप्त करता है, भिन्न होता है। उदाहरण के लिए, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के अस्तित्व का कारण तो है, परन्तु उसके सार का कारण नहीं (क्योंकि सार एक अनादि सत्य है), और इस तरह उनमें निश्चय सार की समानता हो सकती है, परन्तु अस्तित्व में वे अवश्य भिन्न हैं, और इस कारण यदि एक का अस्तित्व समाप्त हो जाय, तो इसके फलस्वरूप दूसरे का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता, परन्तु एक के सार का नाश हो सके या इसे मिथ्या बनाया जा सके, तो अवश्य ही दूसरे का सार भी नष्ट हो जायगा। इसके फलस्वरूप जो वस्तु किसी परिणाम के सार और अस्तित्व का कारण है, उसे उस परिणाम से अपने सार और अपने अस्तित्व दोनों में अवश्य भिन्न होना चाहिए। अब ईश्वर की बुद्धि हमारी बुद्धि के सार और अस्तित्व का कारण है, इसलिए ईश्वर की बुद्धि, जहाँ तक इसे ईश्वर के सार का भाग समझा जा सकता है, हमारी बुद्धि से अपने सार और अपने अस्तित्व दोनों में भिन्न है, न ही नाम के अतिरिक्त इनमें किसी अन्य बात में समानता हो सकती है, यही हम सिद्ध करना चाहते थे। जैसा सहज ही देखा जा सकता है, सकल्प-शक्ति की बाबत भी तर्क इसी प्रकार चलेगा।

साध्य १८—ईश्वर सभी वस्तुओं का अन्तर्भूत कारण है, अल्पकालीन कारण नहीं।

उपपत्ति—सभी वस्तुएँ जो हैं, ईश्वर में हैं, और ईश्वर के द्वारा ही उनका चिन्तन हो सकता है (साध्य १५), इसलिए (साध्य १६, उपप्रमेय १) ईश्वर सब वस्तुओं का, जो उसमें हैं, कारण है, यह पहली बात है। फिर, ईश्वर से परे कोई द्रव्य अर्थात् (परि० ३) कोई वस्तु, जो ईश्वर के बाहर अपने आप में है, स्वीकृत

नहीं हो सकती (साध्य १४); यह दूसरी बात हुई। इसलिए, ईश्वर सभी वस्तुओं का अन्तर्भूत कारण है, अल्पकालीन कारण नहीं। इ० सि०

साध्य १९—ईश्वर और ईश्वर के सभी गुण नित्य हैं।

उपपत्ति—ईश्वर (परि० ६) एक द्रव्य है, जो (साध्य ११) अनिवार्य रूप से विद्यमान है, अर्थात् (साध्य ७), उसकी प्रकृति में अस्तित्व अज है, या (जो वही बात है) उसकी परिभाषा से अस्तित्व अनुमित होता है, इसलिए (परि० ८) वह नित्य है। फिर, ईश्वर के गुणों से उस वस्तु का ग्रहण होना चाहिए, जो (परि० ४) दैवी तत्त्व के सार को व्यक्त करती है, अर्थात् जो तत्त्व या द्रव्य से सबद्ध है, मैं कहता हूँ कि स्वयं इसमें गुण निहित होने चाहिए। परन्तु नित्यता (जैसा मैंने साध्य ७ से दिखाया है) द्रव्य की प्रकृति से सबद्ध है। इसलिए गुणों में से हर एक में नित्यता अवश्य निहित है, और इसी लिए वे सब नित्य हैं। इ० सि०

टिप्पणी—यह साध्य अति स्पष्ट रूप में उम तर्क से भी सिद्ध होता है, जिसका मैंने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रयोग किया था। उस तर्क के आधार पर मैं कहता हूँ कि यह निश्चित है कि ईश्वर का अस्तित्व, अर्थात् उसका सार, एक नित्य सत्य है। इसके अतिरिक्त, डेकार्ट के दर्शन के नियमों में (भाग १, साध्य १९) मैंने ईश्वर की नित्यता को एक अन्य प्रकार में सिद्ध किया था, परन्तु यहाँ उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं।

साध्य २०—ईश्वर का अस्तित्व और उसका सार दोनों एक ही वस्तु हैं।

उपपत्ति—ईश्वर (पूर्व साध्य) और उसके सभी गुण नित्य हैं, अर्थात् (परि० ८) उसके गुणों में से प्रत्येक गुण उसके अस्तित्व का सूचक है। इसलिए ईश्वर के जो गुण (परि० ४) उसके नित्य सार की व्याख्या करते हैं, वे ही उसके अस्तित्व की व्याख्या भी करते हैं, अर्थात् जो कुछ ईश्वर के सार का उपादान है, वह उसके अस्तित्व का भी उपादान है, इसलिए ईश्वर का अस्तित्व और उसका सार दोनों एक ही वस्तु हैं। इ० सि०

उपप्रमेय १—इसका परिणाम यह है कि ईश्वर का अस्तित्व, उसके सार की तरह, एक नित्य सत्य है।

उपप्रमेय २—इसका परिणाम यह है कि ईश्वर और उसके सभी गुण न बदलने वाले हैं। क्योंकि यदि उनमें अस्तित्व-विषयक परिवर्तन हो जाय, तो अवश्य ही उनमें (पूर्व साध्य) सार-विषयक परिवर्तन भी होगा, अर्थात् (जैसा स्वतः सिद्ध है) सत्य मिथ्या बन जायगा, जो अर्थहीन है।

साध्य २१—सभी वस्तुएँ जो ईश्वर के किसी गुण की अनिवार्य प्रकृति का परिणाम हैं, अवश्यमेव नित्य और अनन्त होनी चाहिए, अन्य शब्दों में उस गुण के द्वारा नित्य और अनन्त होनी चाहिए।

उपपत्ति—(यदि तुम वास्तव में इसे अस्वीकार करते हो तो) यह सभव हो तो कल्पना करो कि ईश्वर के किसी गुण में इसकी निरपेक्ष प्रकृति से उद्भूत होनेवाली कोई वस्तु सान्त है और उसका एक नियत अस्तित्व या एक नियत अवधि है, उदाहरण के लिए, ईश्वर का प्रत्यय चिन्तन में। परन्तु चिन्तन, चूँकि इसे ईश्वर का एक गुण अनुमान किया जाता है, अनिवार्य रूप में (साध्य ११) अपनी प्रकृति में अनन्त है। जिस अंश में उसमें ईश्वर का प्रत्यय है, उस अंश में इसे सान्त अनुमान किया गया है। परन्तु (परि० २) इसे सान्त नहीं समझा जा सकता, सिवाय इसके कि इसे चिन्तन ही सीमित करे, परन्तु जिस अंश में यह ईश्वर का प्रत्यय बनाता है, चिन्तन इसे सीमित नहीं कर सकता, क्योंकि उस हालत में यह सान्त हो जायगा, इस तरह यह चिन्तन से उस अंश में सीमित होगा, जिसमें यह ईश्वर का प्रत्यय नहीं बनाता, और यह प्रत्यय इस पर भी (साध्य ११) अनिवार्य रूप में विद्यमान होना चाहिए। इसलिए एक ऐसे विचार का अस्तित्व माना जाता है जो ईश्वर का प्रत्यय नहीं बनाता, और इसलिए इसकी प्रकृति से, जिस अंश में यह निरपेक्ष विचार है, ईश्वर का प्रत्यय अनिवार्य रूप से उद्भूत नहीं होता। इस तरह यह ख्याल किया जाता है कि चिन्तन ईश्वर का प्रत्यय बनाता है और नहीं भी बनाता, जो प्रतिज्ञा के प्रतिकूल है। इस तरह यदि चिन्तन में ईश्वर का प्रत्यय या ईश्वर के किसी गुण में कुछ भी (जिसकी कल्पना की जाय, क्योंकि उपपत्ति व्यापक है) उस गुण की निरपेक्ष प्रकृति की अनिवार्यता से उद्भूत होता है, तो यह अवश्यमेव अनन्त होगा, जो पहला विचारांश है। फिर जो कुछ किसी गुण की प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम है, वह एक सीमित अवधि नहीं रख सकता। यदि तुम इसे स्वीकार नहीं करते, तो किसी ऐसी वस्तु की, जो किसी गुण की प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम है, ईश्वर के किसी गुण में कल्पना करो। उदाहरण के लिए ईश्वर के प्रत्यय की चिन्तन में, और कल्पना करो कि यह या तो भूतकाल में किसी समय विद्यमान नहीं था, या भविष्य में कभी इसका अभाव हो जायगा। परन्तु चूँकि चिन्तन को ईश्वर का एक गुण स्वीकार किया जाता है, अवश्यमेव इसका अस्तित्व होना चाहिए, और वह भी न बदलने वाला अस्तित्व (साध्य ११, और साध्य २० का उपप्रमेय २)। इसका परिणाम यह है कि ईश्वर

के प्रत्यय की अवधि की सीमाओं के बाहर (क्योंकि हमने कल्पना की है कि एक समय था जब यह नहीं था, या एक समय आयेगा जब यह नहीं होगा), चिन्तन का, ईश्वर के प्रत्यय के अभाव में, अस्तित्व होना चाहिए, और यह प्रतिज्ञा के विरुद्ध है, क्योंकि यह फर्ज किया गया है कि ईश्वर का प्रत्यय इस चिन्तन का अनिवार्य परिणाम है। इसलिए यह संभव नहीं कि ईश्वर के प्रत्यय की, जो चिन्तन का विषय है, या किसी अन्य वस्तु की, जो ईश्वर के किसी गुण की निरपेक्ष प्रकृति का अनिवार्य परिणाम है, सीमित अवधि हो, परन्तु यह गुण के द्वारा ही नित्य है, जो दूसरा विचाराश्रय था। ध्यान में रखो कि यह प्रत्येक ऐसी वस्तु की बाबत कहा जा सकता है, जो ईश्वर के किसी गुण में ईश्वर की निरपेक्ष प्रकृति से अनिवार्य रूप में अनुमित होती है।

साध्य २२—जो कुछ ईश्वर के किसी गुण का परिणाम है, वह, जिस हद तक वह उस गुण के द्वारा अनिवार्यता और अनन्तता में अस्तित्व रखनेवाली आकृति से विशेष रूपभेद ग्रहण करता है, अनिवार्य रूप में और अनन्तता में अस्तित्व रखता है।

उपपत्ति—इस साध्य की सिद्धि उसी रीति पर चलती है, जिस पर पूर्व साध्य की सिद्धि।

साध्य २३—प्रत्येक आकार, जो अनिवार्य रूप में और अनन्तता में अस्तित्व रखता है, अनिवार्य रूप से, ईश्वर के किसी गुण की निरपेक्ष प्रकृति का, या अनिवार्यता में और अनन्तता में अस्तित्व रखनेवाली किसी आकृति के रूपभेद का अनिवार्य परिणाम होना चाहिए।

उपपत्ति—अब आकार किसी अन्य वस्तु में होता है, जिसके द्वारा इसका चिन्तन किया जाता है (परि० ५), अर्थात् (साध्य १५), यह ईश्वर में ही है, और ईश्वर के द्वारा ही चिन्तन किया जा सकता है। इसलिए, यदि आकार की बाबत ख्याल किया जाय कि यह अनिवार्य रूप में विद्यमान है और अनन्त है, तो इसकी सत्ता और अनन्तता का ईश्वर के किसी गुण के द्वारा प्रत्यक्ष या अनुमान होना चाहिए—उस मात्रा में जिसमें समझा जाता है कि यह गुण अनन्तता और अस्तित्व की अनिवार्यता को व्यक्त करता है, या (परि० ८) नित्यता को, अर्थात् (परि० ६ और साध्य १९), जहाँ तक इसे निरपेक्ष रूप में विचारा जाता है। इसलिए आकार, जो अनिवार्य रूप में और अनन्त स्थिति में विद्यमान है, ईश्वर के किसी गुण का निरपेक्ष प्रकृति का परिणाम होना चाहिए, और यह या तो प्रत्यक्ष रूप से (जिसके सबन्ध में देखो साध्य २१) या किसी रूपभेद के द्वारा, जो उस गुण की

निरपेक्ष प्रकृति का परिणाम है, अर्थात् (पूर्व साध्य), अनिवार्य और अनन्त स्थिति में विद्यमान है। इ० सि०

साध्य २४—ईश्वर की पैदा की हुई वस्तुओं के सार में अस्तित्व निहित नहीं होता।

उपपत्ति—यह परि० १ से स्पष्ट है। क्योंकि जिस वस्तु की प्रकृति (अपने आप में चिन्तन की हुई) अस्तित्व की सूचक है, वह आप अपना कारण है, और अपनी प्रकृति की अनिवार्यता के आधार पर ही उसका अस्तित्व है।

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि ईश्वर सभी वस्तुओं के भाव-आरम्भ का कारण ही नहीं, अपितु वही उनके अस्तित्व में टिके रहने का कारण भी है, या (सैद्धान्तिक परिभाषा में) ईश्वर वस्तुओं की सत्ता का कारण है। क्योंकि चाहे वस्तुओं का अस्तित्व हो, चाहे न हो, जितनी बार भी हम उनके सार का चिन्तन करें, इसमें न उनका अस्तित्व, न उनकी अवधि निहित दीखेगी, और उनका सार उनके अस्तित्व या उनकी अवधि का कारण नहीं हो सकता, केवल ईश्वर कारण हो सकता है, जिसकी प्रकृति से ही अस्तित्व सबद्ध है (साध्य १४, उपप्रमेय १)।

साध्य २५—ईश्वर वस्तुओं के अस्तित्व का ही सर्जक कारण नहीं, अपितु उनके सार का भी कारण है।

उपपत्ति—यदि तुम इसे स्वीकार नहीं करते, तो कल्पना करो कि ईश्वर वस्तुओं के सार का कारण नहीं, इसलिए (स्वयं ४) वस्तुओं के सार का चिन्तन ईश्वर के बिना हो सकता है। परन्तु यह (साध्य १५) अर्थहीन है। इसलिए ईश्वर वस्तुओं के सार का कारण है। इ० सि०

टिप्पणी—यह साध्य साध्य १६ से अधिक स्पष्ट रूप में अनुमित होता है। क्योंकि इससे यह अनुमान होता है कि ईश्वर की एक स्वीकृत प्रकृति से वस्तुओं का सार और अस्तित्व दोनों अवश्यमेव अनुमित होते हैं, और सक्षिप्त वर्णन में, जिस अर्थ में ईश्वर को अपना कारण कहा जाता है, उसी अर्थ में उसे सभी वस्तुओं का कारण भी कहना चाहिए। यह उत्तर उपप्रमेय से और भी अधिक स्पष्ट होगा।

उपप्रमेय—विशेष वस्तुएँ ईश्वर के गुणों के रूपभेद ही हैं, या वे आकार, जिनसे ईश्वर के गुण एक विशेष और निश्चित रूप में व्यक्त होते हैं। इसका प्रमाण साध्य १५ और परि० ५ से स्पष्ट है।

साध्य २६—जो वस्तु किसी क्रिया करने के लिए निर्णीत है, उसे ऐसी क्रिया के लिए अनिवार्य रूप से ईश्वर की ओर से निर्णीत किया गया था, और जो वस्तु

ईश्वर की ओर से निर्णीत नहीं होती, वह अपने आप कुछ करने का निर्णय नहीं कर सकती।

उपपत्ति—वह, जिसके द्वारा कुछ करने के लिए वस्तुएं निर्धारित होती हैं, अवश्यमेव भावात्मक सत्ता होनी चाहिए (जैसा स्वतः सिद्ध है), और इसलिए ईश्वर, अपनी प्रकृति की अनिवार्यता के कारण, इसके सार और अस्तित्व का सर्जक कारण है (साध्य २५ और १६)। यह पहला विचारांश था। इससे स्पष्ट रूप में दूसरी प्रस्तावित बात अनुमित होती है। क्योंकि यदि कोई वस्तु जो ईश्वर से निर्णीत नहीं हुई, अपने आप को निर्णीत कर सकती, तो इस उपपत्ति का पहला भाग असत्य होगा, जो अर्थहीन होगा, जैसा हम दिखा चुके हैं।

साध्य २७—जो वस्तु किसी क्रिया के लिए ईश्वर की ओर से निर्णीत हुई है, उसमें यह शक्ति नहीं कि अपने आप को अनिर्णीत कर सके।

उपपत्ति—यह तीसरे स्वयंतथ्य से स्पष्ट है।

साध्य २८—प्रत्येक विशेष वस्तु, या कोई वस्तु, जो सान्त है और निर्णीत अस्तित्व रखती है, न अस्तित्व रख सकती है न निर्णीत हो सकती है, सिवाय इसके कि वह क्रिया और अस्तित्व में किसी अन्य कारण से, जो आप भी सान्त है और निर्णीत अस्तित्व रखता है, निर्णीत हुई हो, और फिर, यह कारण भी न अस्तित्व रख सकता है, न क्रिया के लिए निर्णीत होता है, सिवाय इसके कि इसे अस्तित्व और क्रिया के लिए किसी अन्य कारण ने निर्णीत किया हो, जो आप भी सान्त है और निर्णीत अस्तित्व रखता है, और यह क्रम अनन्त काल तक जारी रहता है।

उपपत्ति—जो कुछ अस्तित्व या क्रिया के लिए निर्णीत है, वह ईश्वर की ओर से ऐसे निर्णीत हुआ है (साध्य २६ और साध्य २४ का उपप्रमेय)। परन्तु जो कुछ सान्त है और निर्णीत अस्तित्व रखता है, ईश्वर के किसी गुण की निरपेक्ष प्रकृति से सजित नहीं हो सकता, क्योंकि जो कुछ ईश्वर में किसी गुण की निरपेक्ष प्रकृति का परिणाम है, वह अवश्य ही अनन्त और नित्य होता है (साध्य २१)। इसलिए इसे या तो ईश्वर का परिणाम होना चाहिए, या उसके किसी गुण का, जिसका चिन्तन किसी आकार के रूप में होता है, क्योंकि द्रव्य और आकारों के बिना कोई वस्तु स्वीकृत नहीं (स्वयं १ और परि० ३ और ५), और आकार (साध्य २५, उपप्रमेय) ईश्वर के गुणों के रूपभेदों के अतिरिक्त कुछ नहीं। परन्तु यह भी संभव नहीं कि यह ईश्वर या उसके किसी गुण से प्रकट हुआ हो, क्योंकि यह एक नित्य और अनन्त रूपभेद से रूपान्तरित हुआ है (साध्य २२)। इसका परिणाम यह है

कि क्रिया या अस्तित्व के लिए इसकी निर्णीतता ईश्वर से हुई है, या इसके किसी गुण से, जिस हद तक यह किसी सान्त और निर्णीत अस्तित्व वाले रूपभेद से रूपान्तरित हुआ है। यह पहला विचाराग था। फिर, यह कारण का रूपभेद भी (उसी हेतु से जिससे हमने पहले भाग को प्रमाणित किया है) अवश्य किसी अन्य कारण से निर्णीत होना चाहिए, जो भी सान्त है और निर्णीत अस्तित्व रखता है, और फिर यह कारण भी (उसी हेतु से) किसी अन्य कारण से निर्णीत हुआ होगा, और यह क्रम अनन्त काल तक चलेगा। इ० सि०

टिप्पणी—चूँकि कुछ वस्तुएँ, जैसे वे जो उसकी निरपेक्ष प्रकृति का अनिवार्य परिणाम हैं, ईश्वर से इन प्रथम कारणों के द्वारा तुरन्त सृजित होती हैं, जो इस पर भी ईश्वर के बिना न विद्यमान रह सकती हैं, न विचार-विषय बन सकती हैं। इसका परिणाम यह है कि ईश्वर इन अनन्तर-सृजित वस्तुओं का निरपेक्ष रूप में समीपस्थ कारण है, न कि अपनी जाति में, जैसा कुछ लोगों का विचार है। क्योंकि ईश्वर के कार्य अपने कारण के बिना न विद्यमान हो सकते हैं, न चिन्तन किये जा सकते हैं (साध्य १५, और २४ साध्य का उपप्रमेय)। फिर यह अनुमान भी होता है कि ईश्वर को वास्तव में विशेष वस्तुओं का दूरवर्ती कारण नहीं कह सकते, सिवाय इसके कि हम इस तरह इन वस्तुओं को उन वस्तुओं से भिन्न करें, जो ईश्वर से तुरन्त सृजित होती हैं, या यो कहो कि उसकी निरपेक्ष प्रकृति का परिणाम है। क्योंकि दूरवर्ती कारण से हमारा अभिप्राय ऐसे कारण से है, जो अपने कार्य से किसी प्रकार सबद्ध नहीं। परन्तु सभी वस्तुएँ जो विद्यमान हैं, ईश्वर में हैं, और उस पर इस तरह आधारित है कि उसके बिना न वे रह सकती हैं, न उनका चिन्तन हो सकता है।

साध्य २९—प्रकृति की स्थिति में कुछ भी आकस्मिक रूप से स्वीकृत नहीं, परन्तु सब वस्तुएँ अपने अस्तित्व और किसी विशेष प्रकार में क्रिया करने के लिए दैवी प्रकृति की अनिवार्यता से निर्णीत होती हैं।

उपपत्ति—जो कुछ है, ईश्वर में है (साध्य १५)। परन्तु ईश्वर को आकस्मिक पदार्थ नहीं कह सकते, क्योंकि (साध्य ११ से) वह आकस्मिकता से नहीं, अपितु अनिवार्यता से अस्तित्व रखता है। फिर, दैवी प्रकृति के आकार इससे आकस्मिक रूप में प्रकट नहीं होते, अपितु अनिवार्य रूप में प्रकट होते हैं (साध्य १६), और यह या तो इस अंश में कि दैवी प्रकृति का निरपेक्ष रूप में चिन्तन किया जाय, या किसी विशेष क्रिया के लिए निर्णीत रूप से (साध्य २७)। अब ईश्वर

इन आकारों का कारण है, न केवल इस अंश में कि उनका अस्तित्व है (साध्य २४, उपप्रमेय), परन्तु इस अंश में भी कि उन्हें किसी क्रिया के करने के लिए निर्णीत समझा जाता है (साध्य २६)। क्योंकि यदि वे ईश्वर से निर्णीत नहीं होते, तो यह आकस्मिक ही नहीं, असंभव है कि वे अपने आप को निर्णीत करें, और दूसरी ओर, यदि वे ईश्वर से निर्णीत होते हैं, तो यह आकस्मिक ही नहीं, अपितु असंभव है कि वे अपने आप को अनिर्णीत कर दें। इसलिए सभी वस्तुएँ अस्तित्व के लिए ही नहीं, परन्तु अपने अस्तित्व और क्रिया के विशेष रूप के लिए भी दैवी प्रकृति की अनिवार्यता से निर्णीत होती हैं, और कुछ भी आकस्मिक स्वीकृत नहीं। इ० सि०

टिप्पणी—आगे बढ़ने से पहले मैं यह बताना चाहूँगा, यही नहीं, तुम्हें स्मरण भी कराना चाहूँगा, कि हमें कर्मशील और वशीभूत या आक्रान्त प्रकृति (सर्जक सर्ग और सृजित सर्ग) से क्या समझना चाहिए, क्योंकि मेरे विचार में पूर्व साध्यों से हम इस पर सहमत होंगे कि कर्मशील प्रकृति से ऐसी सत्ता अभिप्रेत है जिसका अपने आप में भाव है और जो अपने द्वारा चिन्तन की जाती है, या द्रव्य के ऐसे गुण जो अनादि और अनन्त सार को प्रकट करते हैं, अर्थात् (साध्य १४, उपप्रमेय १, और साध्य १७, उपप्रमेय २) ईश्वर को, जिस अंश में कि उसे एक स्वाधीन कारण समझा जाता है। परन्तु वशीभूत या आक्रान्त प्रकृति से मैं ऐसी सभी वस्तुएँ समझता हूँ जो ईश्वर की प्रकृति की अनिवार्यता से या उसके गुणों में से किसी से प्रकट होती हैं, अर्थात् ईश्वर के गुणों के सभी आकार, जहाँ तक उन्हें ऐसी वस्तुएँ समझा जाता है जो ईश्वर में हैं, और ईश्वर के बिना जिनका न अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन हो सकता है।

साध्य ३०—ससीम या असीम बुद्धि को जब यह कर्मशील हो, ईश्वर के गुणों और ईश्वर के आकारों का समझना आवश्यक है, और केवल ये ही इसका बोध-विषय हैं।

उपपत्ति—एक सत्य प्रत्यय को अवश्यमेव अपने विषय के अनुरूप होना चाहिए (स्वयं ६), अर्थात् (जैसा स्वतः सिद्ध है), जो कुछ चित्र-रूप में बुद्धि में विद्यमान है, वह अनिवार्य रूप में जगत् में भी स्वीकृत होना चाहिए। परन्तु जगत् में (साध्य १४, उपप्रमेय १) केवल एक द्रव्य ही स्वीकृत हो सकता है, और वह ईश्वर है, और केवल ऐसे आकार स्वीकृत हो सकते हैं, (साध्य १५) जो ईश्वर में हैं और (वही साध्य) ईश्वर के बिना जिनका न अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन हो सकता है। इसलिए ससीम या असीम बुद्धि को, जब यह विद्यमान हो, ईश्वर

के गुणों और आकारों का समझना आवश्यक है, और ये ही इसका बोध-विषय हैं।

साध्य ३१—विद्यमान बुद्धि, चाहे यह ससीम हो या असीम, सकल्प, इच्छा, प्रेम आदि की तरह, कर्मशील प्रकृति की ओर नहीं, अपितु आक्रान्त प्रकृति की ओर निर्दिष्ट होनी चाहिए।

उपपत्ति—अब बुद्धि से (जैसा स्वतः सिद्ध है) हमारा अभिप्राय निरपेक्ष चिन्तन से नहीं, अपितु चिन्तन के एक विशेष आकार से है, जो इच्छा, प्रेम आदि अन्य आकारों से भिन्न है, और इसलिए जिसका विचार (परि० ५) निरपेक्ष चिन्तन के द्वारा होना चाहिए; इसके अतिरिक्त (साध्य १५ और परि० ६) ईश्वर के किसी ऐसे गुण से, जो चिन्तन के अनादि और अनन्त सार को प्रकट करता है, इसका विचार इस तरह करना चाहिए कि इस गुण के बिना न इसका अस्तित्व हो सकता है न चिन्तन हो सकता है। इस कारण (साध्य २९, टिप्पणी) चिन्तन के अन्य आकारों की तरह बुद्धि को कर्मशील प्रकृति की ओर नहीं, अपितु आक्रान्त प्रकृति की ओर निर्दिष्ट होना चाहिए। **इ० सि०**

टिप्पणी—मैं यहाँ विद्यमान बुद्धि का जिक्र इसलिए नहीं करता कि मैं संभव या शक्य बुद्धि को मान्यता देने पर उद्यत हूँ, अपितु इसलिए कि मैं हर भ्रम से बचना चाहता हूँ, और केवल ऐसी वस्तु का जिक्र करना चाहता हूँ जिसे हम आसानी से देख सकते हैं, अर्थात् स्वयं ज्ञान-शक्ति, क्योंकि कोई वस्तु हमें ऐसी स्पष्ट नहीं दिखाई देती, जैसी यह। क्योंकि हम जब कुछ भी देखते हैं तो इससे हमारा ज्ञान-शक्ति का ज्ञान बढ़ जाता है।

साध्य ३२—सकल्प केवल अनिवार्य कारण कहला सकता है। स्वामीन कारण नहीं।

उपपत्ति—बुद्धि की तरह सकल्प चिन्तन का एक विशेष आकार ही है, और इसलिए (साध्य २८) कोई विशेष सकल्प न विद्यमान हो सकता है, न कुछ करने के लिए निर्धारित हो सकता है, सिवाय इसके कि कोई अन्य कारण इसे निर्धारित करे, और इस कारण को कोई अन्य कारण, और इसी तरह अपारता तक। अब यदि सकल्प को असीम माना जाय तो यह अवश्य अस्तित्व और क्रिया के लिए ईश्वर से निर्णीत होगा—ईश्वर के अनन्त द्रव्य होने की स्थिति में नहीं, अपितु इस लिए कि उसमें एक गुण है, जो चिन्तन के अनन्त और नित्य सार को व्यक्त करता है (साध्य २३)। इस तरह, चाहे इसे ससीम चिन्तन कहे, चाहे असीम, यह एक

कारण की माँग करता है, जिससे यह अस्तित्व या क्रिया के लिए निर्णीत होता है, और इसलिए (परि० ७) यह स्वतन्त्र कारण नहीं, अपितु अनिवार्य कारण ही कहला सकता है। इ० सि०

उपप्रमेय १—इसका परिणाम यह है कि ईश्वर सकल्प की स्वाधीनता से क्रिया नहीं करता।

उपप्रमेय २—इसका यह भी परिणाम है कि ईश्वर की प्रकृति में सकल्प और बुद्धि की स्थिति वही है, जो गति और विश्राम की है, और यह निरपेक्ष रूप में, जैसी सभी प्राकृत वस्तुओं की हालत है, जो (साध्य २९) अस्तित्व और क्रिया के लिए अवश्य किसी विशेष रूप में निर्णीत होती है। क्योंकि अन्य वस्तुओं की तरह, सकल्प को एक कारण की आवश्यकता है, जिससे यह अस्तित्व और सकल्प के लिए विशेष रीति में निर्णीत होता है। और यद्यपि किसी प्रस्तुत सकल्प या बुद्धि के अनन्त परिणाम होते हैं, तो भी इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर सकल्प की स्वाधीनता से क्रिया करता है, जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि चूँकि गति और विश्राम के अनन्त परिणाम निकलते हैं (क्योंकि इनसे भी अनन्त परिणाम निकलते हैं), ईश्वर गति और विश्राम की स्वाधीनता से क्रिया करता है। इसलिए सकल्प उतना ही ईश्वर की प्रकृति से असंबद्ध है, जितनी अन्य प्राकृत वस्तुएँ, ईश्वर की प्रकृति में इसकी स्थिति वही है, जो गति और विश्राम की है, या अन्य सब वस्तुओं की, जिनकी बाबत हम दिखा चुके हैं कि वे दैवी प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम हैं, और अस्तित्व और क्रिया के लिए विशेष रीति में इससे निर्णीत होती हैं।

साध्य ३३—जिस रीति या क्रम में वस्तुएँ ईश्वर में सर्जित हुईं, उससे भिन्न रीति या क्रम में उनका मर्जन संभव ही न था।

उपपत्ति—सभी वस्तुओं का सर्जन अनिवार्य रूप में ईश्वर की विशेष प्रकृति से हुआ होगा (साध्य १६), और वे अस्तित्व या क्रिया के लिए दैवी प्रकृति की अनिवार्यता से एक विशेष रूप में निर्णीत हुई थी (साध्य २९)। और इस तरह यदि वस्तुएँ किसी भिन्न प्रकृति की हो सकती, या क्रिया के लिए किसी अन्य रीति में निर्णीत हो सकती, और सृष्टि का क्रम भिन्न होता, तो ईश्वर की प्रकृति भी उसकी वर्तमान प्रकृति से भिन्न ही हो सकती थी। उस हालत में (साध्य ११) ईश्वर की एक अन्य प्रकृति अवश्य होनी चाहिए, और इसके परिणामस्वरूप दो या अधिक ईश्वर स्वीकृत हो सकते, पर यह (साध्य १४, उपप्रमेय १) अर्थहीन है।

इसलिए वस्तुएँ किसी भिन्न रीति या क्रम में सृजित नहीं हो सकती थी, इत्यादि।
ई० सि०

टिप्पणी १—यद्यपि मैं मध्याह्न के सूर्य से भी अधिक स्पष्ट कर चुका हूँ कि वस्तुओं में कोई अंश भी ऐसा नहीं जिसके लिए उन्हें आकस्मिक कहा जा सके, तो भी मैं यहाँ थोड़े शब्दों में यह कहना चाहूँगा कि आकस्मिकता का अर्थ क्या है, परन्तु इसमें पहले अनिवार्य और असंभव के अर्थ की बातें कहूँगा। कोई वस्तु अपने सार या अपने कारण के आधार पर अनिवार्य कहलाती है। क्योंकि किसी वस्तु का अस्तित्व अनिवार्य रूप से या तो उसके अपने सार या लक्षण का परिणाम होता है, या किसी प्रस्तुत सर्जक कारण का परिणाम। इन्हीं कारणों में कोई वस्तु असंभव कहलाती है। स्पष्टतः या तो इसके सार या परिभाषा में कोई विरोध मौजूद है, या कोई ऐसा बाहरी कारण नहीं दिया जा सकता, जो इसके सर्जन के लिए निर्णीत हो। परन्तु कोई वस्तु हमारे ज्ञान की अपूर्णता के प्रसंग के अतिरिक्त, आकस्मिक नहीं कहला सकती। क्योंकि जब हमें यह ज्ञान नहीं होता कि किसी वस्तु के सार में एक विरोध निहित है, या हमें पूर्ण विश्वास होता है कि इसमें विरोध निहित नहीं, और इस पर भी हम इसके अस्तित्व की बाबत निश्चयपूर्वक कुछ कह नहीं सकते, क्योंकि कारणों का क्रम हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ है, तो हमें ऐसी वस्तु न अनिवार्य प्रतीत होती है, न असंभव, और इसलिए हम इसे आकस्मिक या संभव का नाम देते हैं।

टिप्पणी २—ऊपर की चर्चा का परिणाम यह है कि वस्तुएँ ईश्वर की परम पूर्णता से सृजित हुईं, क्योंकि वे अनिवार्य रूप से एक परम पूर्ण प्रकृति से प्रकट हुईं। इस विवरण से ईश्वर की अपूर्णता का अनुमान नहीं होता, क्योंकि उसकी पूर्णता ने ही हमें यह कहने पर बाधित किया है। और इस साध्य की प्रतिकूल मान्यता का परिणाम तो यह होता (जैसा मैंने अभी बताया है) कि ईश्वर परम पूर्ण न था, क्योंकि यदि वस्तुओं का सर्जन किसी अन्य प्रकार से होता, तो ईश्वर में किसी ऐसी प्रकृति का संकेत करना पड़ता, जो उस प्रकृति से भिन्न होती, जिसे हम पूर्ण सत्ता के चिन्तन से उसमें निदिष्ट करने पर बाधित होते हैं। इस पर भी, मुझे इसमें संदेह नहीं कि बहुतेरे लोग इस विचार को अर्थहीन समझकर इस पर हँसेंगे, और अपना विचार त्याग कर, इस पर विचार करना भी नहीं चाहेंगे, केवल इसलिए कि वे ईश्वर में ऐसी स्वाधीनता का निर्देश करने के आदी हैं, जो उस स्वाधीनता से बहुत भिन्न है, जिसका हमने प्रतिपादन किया है (परि० ६)। वे ईश्वर में

निरकुश स्वाधीनता की सज्ञा मानते हैं। परन्तु मुझे इसमें सन्देह नहीं कि यदि वे इस विषय पर उचित विचार चरना चाहें, और हमारी साध्यमाला के हर एक साध्य की यथार्थ जाँच करें, तो वे उस स्वाधीनता को, जिसकी वे अब ईश्वर में सज्ञा मानते हैं, व्यर्थ ही नहीं, अपितु ज्ञान के मार्ग में असन्दिग्ध बाधा समझकर त्याग देगे। जो कुछ मैं साध्य १७ की टिप्पणी में कह चुका हूँ, उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। परन्तु, उनके लाभ के लिए इतना दिखाऊँगा कि यद्यपि यह मान भी लिया जाय कि सकल्प ईश्वर के सार से सम्बद्ध है, तो भी यह परिणाम तो निकलता है कि वस्तुओं की रचना जिस रीति और क्रम में हुई, उससे भिन्न रीति और क्रम में नहीं हो सकती थी; और यह दिखाना मुगम होगा, यदि पहले हम उस बात पर विचार कर लें, जिसे वे आप मानते हैं। अर्थात् यह केवल ईश्वर के आदेश और सकल्प पर निर्भर है कि प्रत्येक वस्तु वही है जो वह है, क्योंकि विपरीत स्थिति में ईश्वर सब वस्तुओं का सर्जक न होगा। वे यह भी मानते हैं कि ईश्वर के सभी आदेश अनादि काल से अनन्त काल तक निश्चित हुए हैं, क्योंकि ऐसा न हो तो ईश्वर में अस्थिरता और अपूर्णता सिद्ध होगी। परन्तु चूंकि नित्यता में 'कब,' 'पूर्व,' 'उत्तर' आदि का भेद विद्यमान नहीं, इससे ईश्वर की पूर्णता का ही परिणाम है कि जो कुछ उसका आदेश हुआ है, उसमें भिन्न आदेश वह न दे सकता है, न दे सकता था, या यह कि अपने आदेशों के पूर्व ईश्वर का अस्तित्व नहीं था, न उनके अभाव में उसका अस्तित्व हो सकता था। परन्तु वे कहते हैं कि यद्यपि हम मान लें कि ईश्वर ने वस्तुओं की प्रकृति को भिन्न बनाया, या आदि काल से सृष्टि और उसके क्रम को भिन्न बनाया, तो भी इसमें यह परिणाम नहीं निकलता कि ईश्वर अपूर्ण है। अब यदि वे यह कहें, तो उन्हें यह भी स्वीकार करना होगा कि ईश्वर आदेशों को बदल सकता है। क्योंकि यदि ईश्वर ने सर्ग और इसकी व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ और निश्चय किया होता, अर्थात् सर्ग की बाबत उसका सकल्प और चिन्तन भिन्न होता, तो अवश्यमेव उसका सकल्प और बुद्धि उसके वर्तमान सकल्प और बुद्धि से भिन्न होते। और यदि वर्तमान सकल्प और बुद्धि से भिन्न सकल्प और बुद्धि उसके सार या पूर्णता में किसी परिवर्तन के बिना, ईश्वर के गुण बताये जा सकते, तो सर्जित वस्तुओं की बाबत अपने आदेशों को बदलने पर भी, अपनी पूर्णता बनाये रखने में उसके लिए क्या रोक हो सकती है? क्योंकि सर्जित वस्तुओं और उनकी व्यवस्था के प्रति उसकी बुद्धि और सकल्प, उसके सार और पूर्णता की दृष्टि से, अभिन्न रहेंगे, चाहे किसी रूप में उनका चिन्तन किया जाय।

इसके अतिरिक्त मैंने देखा है कि सभी दार्शनिक मानते हैं कि ईश्वर की बुद्धि सर्वथा वास्तविक है, और शक्य या सम्भव बुद्धि नहीं। परन्तु चूँकि वे ईश्वर की बुद्धि और सकल्प और उसके सार में कोई भेद नहीं करते और इसमें सभी एकमत हैं, इसका परिणाम यह है कि यदि ईश्वर के कोई अन्य वास्तविक बुद्धि और सकल्प होते, तो अवश्य ही उसका सार भी भिन्न होता, और इससे, जैसा मैंने आरम्भ में अनुमान किया है, परिणाम निकलता है कि यदि वस्तुओं की रचना वर्तमान प्रकार से किसी भिन्न प्रकार में होती, तो ईश्वर की बुद्धि और सकल्प, अर्थात्, जैसा मान लिया गया है, उसका सार भी उसके वर्तमान सार से भिन्न होता, जो अर्थहीन है।

अब चूँकि वस्तुओं का सर्जन जिस प्रकार और व्यवस्था में हुआ, उससे भिन्न प्रकार और व्यवस्था में हो ही नहीं सकता था, और चूँकि यह ईश्वर की परम पूर्णता का परिणाम है, इसलिए यह मानने के लिए कोई युक्त हेतु नहीं कि ईश्वर ने उन सभी वस्तुओं को जो उसकी बुद्धि में है, उत्पन्न करने की इच्छा नहीं की, और यह भी उसी पूर्णता में कि जिसमें उसकी बुद्धि ने इनका चिन्तन किया। परन्तु वे कहते हैं कि स्वयं वस्तुओं में पूर्णता और अपूर्णता जैसा कोई गुण नहीं, परन्तु जो हमें उन्हें पूर्ण या अपूर्ण, शुभ या अशुभ कहने पर बाधित करता है, वह सर्वथा ईश्वर के सकल्प पर आधारित है, इसके अतिरिक्त यह भी कि यदि ईश्वर चाहता, तो वह यह कर सकता था कि जो कुछ अब पूर्णता है, वह सबसे बड़ी अपूर्णता होती, और इसके विपरीत भी। परन्तु इसका अर्थ सिवाय इस स्पष्ट कथन के क्या है कि ईश्वर जो अवश्यमेव अपनी इच्छाओं की बाबत जानता है, अपने सकल्प से यह कर सकता था कि उसकी बुद्धि वस्तुओं का चिन्तन वर्तमान स्थिति से भिन्न रूप में करे? यह (जैसा मैंने अभी दिखाया है) विवेकहीनता का चरम-बिंदु है। इसलिए मैं उनके तर्कों को उनके विरुद्ध निम्न रूप में फेर सकता हूँ कि सभी वस्तुएँ ईश्वर की शक्ति पर निर्भर हैं। इस बात के लिए कि वस्तुएँ जो कुछ अब हैं, उससे भिन्न हो, ईश्वर के सकल्प में परिवर्तन होना आवश्यक होगा, और ईश्वर के सकल्प में परिवर्तन होना सम्भव नहीं (जैसा हमने अति स्पष्ट रूप में ईश्वर की पूर्णता से दिखाया है), इसलिए वस्तुएँ जो कुछ वे हैं, उससे भिन्न हो नहीं सकती थीं। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि जो सिद्धान्त सभी वस्तुओं को उदासीन ईश्वर के सकल्प पर आधारित करता है, और उन्हें उसके शुभ सकल्प पर निर्भर बताता है, सत्य के बहुत निकट है; बनिस्वत उस सिद्धान्त के, जिसके अनुसार ईश्वर जो कुछ करता है, शुभ या भद्र के बढावे के लिए करता है। क्योंकि इस दूसरे

सिद्धान्त के समर्थक ऐसा मानते प्रतीत होते हैं कि कोई वस्तु ऐसी है, जो ईश्वर से परे है, जो ईश्वर पर निर्भर नहीं, और जिसकी ओर ईश्वर अपनी क्रियाओं में एक नमूने के लिए देखता है, या जिसे अन्तिम उद्देश्य के रूप में सिद्ध करना चाहता है। अब यह तो ईश्वर को भाग्यपरायण करना है, जिससे अधिक अर्थहीन बात ईश्वर के सम्बन्ध में, जिसे हमने सभी वस्तुओं के सार और अस्तित्व का प्रथम और एकमात्र स्वाधीन कारण दिखाया है, कठिन है। इसलिए मुझे ऐसी व्यर्थ की दलीलो का खण्डन करने में समय खोना नहीं चाहिए।

साध्य ३४—ईश्वर की शक्ति उसके सार से अभिन्न है।

उपपत्ति—ईश्वर के सार की अनिवार्यता का ही यह परिणाम है कि ईश्वर अपना कारण आप है (साध्य ११) और (साध्य १६ और इसका उपप्रमेय) सब वस्तुओं का कारण है। इसलिए ईश्वर की शक्ति, जिससे वह और सभी वस्तुएँ हैं और क्रिया करती हैं, उसका सार ही है। **इ० सि०**

साध्य ३५—हम जो कुछ ईश्वर की शक्ति के अन्तर्गत समझते हैं, वह अनिवार्य रूप में अस्तित्व रखता है।

उपपत्ति—अब जो कुछ ईश्वर की शक्ति में है, अवश्यमेव (अपूर्व साध्य) उसके सार में इस तरह चिन्तित किया जाना चाहिए कि यह अनिवार्य रूप में सार का परिणाम है, और इस तरह अनिवार्य रूप में अस्तित्व रखता है। **इ० सि०**

साध्य ३६—ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नहीं, जिसकी प्रकृति से कोई कार्य या परिणाम नहीं निकलता।

उपपत्ति—जो कुछ अस्तित्व रखता है, किसी विशेष और निश्चित प्रकार से (साध्य २५, उपप्रमेय) ईश्वर की प्रकृति को या उसके सार को प्रकट करता है, अर्थात् (साध्य ३४), जो कुछ अस्तित्व रखता है, एक विशेष और निश्चित प्रकार से ईश्वर की शक्ति को प्रकट करता है, जो सब वस्तुओं का कारण है, और इसलिए (साध्य १६) यह आवश्यक है कि इससे कोई कार्य व्यक्त हो। **इ० सि०**

परिशिष्ट

इन साध्यों में मैंने ईश्वर की प्रकृति और उसके गुणों की व्याख्या की है—
कि वह अनिवार्य रूप में विद्यमान है,
कि वह एक अकेला है,

कि उसका अस्तित्व और उसकी क्रिया उसकी प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम है,

कि वह सब वस्तुओं का स्वाधीन कारण है, और किस प्रकार से,

कि सभी वस्तुएँ ईश्वर में हैं, और उस पर इस तरह निर्भर हैं कि उसके बिना न उनका अस्तित्व हो सकता था, न उनका चिन्तन हो सकता था, और अन्त में,

कि सभी वस्तुएँ आरम्भ में ईश्वर द्वारा निर्णीत थीं, उसके स्वतन्त्र या शुभ सकल्प द्वारा नहीं, अपितु उसकी निरपेक्ष प्रकृति या अनन्त शक्ति द्वारा।

इसके अतिरिक्त, जहाँ कही अवसर ने प्रेरणा दी, मैं उन मतिभ्रमों को दूर करने का भी यत्न किया है, जो मेरे माध्यो के समझने में बाधक हो सकते थे। परन्तु चूँकि बहुतेरे मतिभ्रम अभी ऐसे शेष रहने हैं, जिन्होंने वस्तुओं की व्यवस्था के उस समाधान का, जो मैंने प्रस्तुत किया है, स्वीकृत होने नहीं दिया और अब भी बाधक बने हैं, मैंने उचित समझा है कि इनकी बौद्धिक परीक्षा करूँ। चूँकि ये सब मतिभ्रम जिन्हें मैं प्रकाश में लाना चाहता हूँ, इस एक विचाराग पर आधारित हैं कि मनुष्य सामान्यतः फर्ज करते हैं कि सभी प्राकृत वस्तुएँ, उनकी तरह, किसी प्रयोजन को समक्ष रखकर किया करती हैं, और चूँकि वे विश्वास के साथ कहते हैं कि ईश्वर सभी वस्तुओं को एक विशेष लक्ष्य की ओर चला रहा है (क्योंकि उनके कथनानुसार ईश्वर ने सब वस्तुओं को मनुष्य के लिए बनाया और मनुष्य को इसलिए कि वह ईश्वर की पूजा कर सके)। मैं पहले इसी पर विचार करूँगा, और प्रथम पूछूँगा कि क्यों इतने मनुष्य इस भ्रम में पड़ते हैं, और क्यों सभी स्वभावतः इसे स्वीकार करने की ओर झुकते हैं। इसके बाद मैं इसके मिथ्यात्व को दिखाऊँगा, और अन्त में यह कि किस तरह यह मतिभ्रम शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप, प्रशंसा और निन्दा, व्यवस्था और अव्यवस्था, सौन्दर्य और कुरूपता, और इस प्रकार की अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में उदय हुआ है। परन्तु मनुष्य के मन की प्रकृति से इन बातों में अनुमान करने का यह उचित स्थान नहीं। यहाँ मेरे लिए इतना ही पर्याप्त होगा कि ऐसी प्रतिज्ञा को तर्क की नींव बनाऊँ जिसे सब मानते हैं, अर्थात्, सब मनुष्य वस्तुओं में अवोध जन्मते हैं, सब चाहते हैं कि जो कुछ लाभकारी है उसे प्राप्त करें, और उन्हें इसका ज्ञान भी होता है। इन आधार-वाक्यों से पहला निष्कर्ष तो यह निकलता है कि मनुष्य जिस मात्रामें अपने सकल्पों और इच्छाओं का ज्ञान रखते हैं, वे अपने आप को स्वाधीन समझते हैं, और चूँकि उन्हें उन कारणों का बोध नहीं होता जिनसे वे अपने सकल्पों और इच्छाओं में प्रेरित होते हैं, उन्हें इन कारणों के

अस्तित्व का ख्याल तक नहीं आता। दूसरा परिणाम यह है कि मनुष्य जो कुछ करते हैं, किसी प्रयोजन से करते हैं, अर्थात् जो कुछ लाभकारी है, उसे प्राप्त करना चाहते हैं। इसका परिणाम यह है कि वे सदा कार्यों का प्रयोजनात्मक कारण जानना चाहते हैं, और ऐसे कारण का पता लग जाय, तो वे खोज करना बन्द कर देते हैं, क्योंकि अब अधिक सन्देह का हेतु ही नहीं रहा। यदि उन्हें इन कारणों का किसी दूसरे से पता न लगे, तो वे यही कर सकते हैं कि अपनी ओर मुड़े और सोचें कि स्वयं उन्हें ऐसी वस्तु के सर्जन में कैसे प्रेरणा मिल सकेगी, और इस तरह वे अन्य प्रकृतियों की जाँच अनिवार्य रूप में अपनी प्रकृति से करते हैं। इसके अतिरिक्त चूँकि उन्हें अपने अन्दर और बाहर बहतेरी ऐसी वस्तुएँ दिखाई देती हैं जो लाभकारी वस्तुओं की खोज में उन्हें पर्याप्त मात्रा में सहायता देती हैं, जैसे, उदाहरण के लिए, आँख देखने के लिए, दाँत चबाने के लिए, वनस्पति और पशु खाने के लिए, सूर्य प्रकाश देने के लिए, समुद्र मछलियाँ पालने के लिए। वे ख्याल करते हैं कि ये वस्तुएँ सभी प्राकृत वस्तुओं की तरह उनके प्रयोग के लिए बनी हैं, और चूँकि वे जानते हैं कि उन्होंने इन वस्तुओं को पाया है, स्वयं बनाया नहीं, उन्हें यहाँ यह विश्वास करने के लिए हेतु मिल जाता है कि किसी दूसरे ने इन्हें उनके प्रयोग के लिए बनाया है। अब चूँकि उन्होंने वस्तुओं को साधनों के रूप में देखा है, वे यह विश्वास नहीं कर सकते कि इन वस्तुओं ने अपना सर्जन आप किया है, परन्तु जिन साधनों को वे आप बनाते हैं, उनसे वे यह अनुमान करने पर बाधित हो जाते हैं कि मानव-स्वाधीनता में सपन्न कोई ऐसा शासक है, या है, जो उनके लिए सभी वस्तुओं का ध्यान रखते हैं और उनके प्रयोग के लिए सभी वस्तुओं को बनाते हैं। वे स्वभावतः ही इन शासकों की प्रकृति का चित्र अपनी प्रकृति से बनाते हैं, क्योंकि उन्हें इनकी बावत कोई मूचना तो मिलती नहीं, इसलिए वे कहते हैं कि देवता सभी वस्तुओं को मनुष्यों के प्रयोग के लिए व्यवस्था में रखते हैं, ताकि मनुष्य अपने आप को उनके ऋणी समझे और उनका अधिकाधिक सत्कार करें। इसका परिणाम यह हुआ है कि हर एक ने अपने मन में ईश्वर-पूजा की एक विशेष विधि तैयार की है, ताकि ईश्वर उसे दूसरों से अधिक प्यार करे, और सारे सर्ग को उसकी विवेकहीन लालसा और असीम लोभ को तृप्त करने के लिए चलाये। इस तरह यह मतिभ्रम एक अन्धविश्वास बन गया और मन की गहराई में स्थिर हो गया, और यही कारण था, जिससे सब सभी वस्तुओं के प्रयोजनात्मक कारणों के समझने में लग गये। परन्तु जहाँ उनकी इच्छा यह दिखाने की रही है कि प्रकृति का कोई काम व्यर्थ नहीं होता

(अर्थात् जिसमें मनुष्य को लाभ न हो), जो कुछ वे दिखा सके हैं, वह तो यही है कि देवता और मनुष्य सब पागल हैं। मैं निवेदन करता हूँ कि देखिए, इससे क्या स्थिति प्रस्तुत हो गयी है। कुदरत की बहुत-सी सुविधाओं में मिली हुई अमुविधाएँ भी उन्हें अवश्य दिखाई देनी चाहिए थी—जैसे तूफान, भूकम्प, रोग आदि—जिनके विषय में उन्होंने कहा कि ये आपत्तियाँ इस कारण विद्यमान हुई कि देवता मनुष्यों से उनके किसी कुकर्म या पूजा में हुई भूल-चूक के कारण कुपित हो गये; और यद्यपि अनुभव ने प्रतिदिन इस ख्याल को झुठलाया, और अगणित उदाहरणों से बताया कि सुविधाएँ और अमुविधाएँ भले और बुरे मनुष्यों पर बिना भेद किये आती हैं, तो भी उन्होंने अपने दृढ़ पक्षपात को नहीं छोड़ा। क्योंकि उनके लिए यह अधिक सुगम था कि वे इसे भी अन्य अज्ञात वस्तुओं में, जिनके उपयोग की बावत उन्हें ज्ञान न था, रख दें, और अपनी अज्ञान की वर्तमान और स्वाभाविक अवस्था को स्थिर रखें, वनिस्वत इसके कि अपने सिद्धान्त की समस्त रचना को गिरा दें, और फिर से इसका निर्माण करें। इसके फलस्वरूप उन्होंने प्रबल निश्चय से कहा कि ईश्वर की प्रतिज्ञाएँ मनुष्य की समझ से बहुत ऊपर हैं। और यही एक कारण था जो सदा के लिए सत्य को मनुष्य-ज्ञान से ओझल रख सकता था, यदि गणित, जो प्रयोजनात्मक कारणों को नहीं, अपितु वस्तुओं के सार और गुणों को विचार का विषय बनाता है, मनुष्यों के समक्ष सत्य की एक भिन्न कसौटी न रख देता। गणित के अतिरिक्त और कारण भी हैं (जिनकी गणना यहाँ आवश्यक नहीं) जिन्होंने मनुष्यों को इस योग्य बनाया कि वे इन सामान्य मिथ्या विचारों को देखें, और वस्तुओं के सत्य ज्ञान की ओर चले।

अब जिस प्रथम समाधान का मैंने निश्चय किया था, वह हो चुका। अब मेरे लिए यह दिखाना आवश्यक नहीं कि कुदरत की दृष्टि में कोई नियत उद्देश्य नहीं, और सारे प्रयोजनात्मक कारण मनुष्यों की रचना ही हैं। क्योंकि मेरे विचार में निम्न बातों से यह काफी स्पष्ट है—इस मिथ्या विचार के मूलों और कारणों से, जिनसे मैंने इसके उद्भव को दर्शाया है, साध्य १६ और साध्य ३२ के उपप्रमेयों से, और सबसे बढ़कर उन साध्यों से जिनमें मैंने दिखाया है कि सर्ग में सभी वस्तुएँ अनादि काल से और अति अधिक पूर्णता के साथ व्यक्त होती हैं। इस पर भी यहाँ मैं प्रयोजनात्मक कारण के बुद्धिविहीन सिद्धान्त को पूर्णतया समाप्त करना चाहता हूँ। क्योंकि यह सिद्धान्त कारण को कार्य और कार्य को कारण के रूप में देखता है, और इस तरह जो कुछ प्रकृति से प्रथम है, उसे अन्तिम बताता है, और

इसके अतिरिक्त, जो कुछ सर्वोच्च और परम पूर्ण है उसे अपूर्ण बना देता है। चूँकि ये दोनों प्रश्न स्पष्ट हैं, हम इन्हें छोड़ दें। साध्य २१, २२ और २३ से यह अनुमित होता है कि जो परिणाम ईश्वर से तत्काल व्यक्त होता है, वह अति पूर्ण है, और जिस परिणाम की उत्पत्ति के बीच आनेवाले अधिक कारणों की आवश्यकता होती है, उतना ही वह अपूर्ण होता है, परन्तु यदि वे वस्तुएँ जिनका सर्जन ईश्वर के अनन्तर हुआ है, किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए बनायी गयी है, तो इसका अनिवार्य परिणाम यह है कि अन्तिम वस्तुएँ, जिनके लिए प्रथम वस्तुएँ बनायी गयी थी, अन्य वस्तुओं से अधिक श्रेष्ठ हैं। इसलिए यह सिद्धान्त ईश्वर की पूर्णता को विनष्ट कर देता है, क्योंकि यदि ईश्वर किसी उद्देश्य की पूर्ति चाहता है, तो वह अनिवार्य रूप से कोई ऐसी वस्तु प्राप्त करना चाहता है जो उसके पास नहीं है। और यद्यपि परमार्थ-शास्त्री और दार्शनिक दो प्रकार के लक्ष्यों—ब्रुटि की पूर्ति और परिपाक—में भेद करते हैं, तो भी वे यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर अपने स्वभाव में क्रिया करता है, न कि वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए, क्योंकि उत्पत्ति से पहले वे ईश्वर के अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु बता नहीं सकते, जिसके कारण ईश्वर ने क्रिया की, और इस तरह उन्हें अवश्य मानना पड़ता है कि जिन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए ईश्वर ने साधन तैयार करना चाहा, वे उसके पास न थी और उन्हें वह चाहता था, जैसा स्वतः स्पष्ट है। यहाँ मैं यह कहें बिना भी नहीं रह सकता कि इस सिद्धान्त के माननेवालों में से कुछ ने, जिन्होंने वस्तुओं के प्रयोजनात्मक कारण बताने में चतुराई दिखायी चाही है, अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए एक नये प्रमाण का आविष्कार किया है—अर्थात् असंभाव्य का नहीं, अपितु अज्ञान का सहारा लिया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे अपने सिद्धान्त को किसी अन्य प्रकार से सिद्ध करने में समर्थ नहीं। दृष्टान्त के लिए, यदि किसी छत से एक पत्थर गिर कर किसी राह चलते मनुष्य के सिर पर आ लगता है और उसकी मृत्यु हो जाती है, तो वे अपने तर्क से यह दिखायेंगे कि पत्थर उस मनुष्य को लगने और मारने के लिए गिराया गया था, क्योंकि यदि वह, ईश्वर के सकल के अनुसार, उस पर न गिरता, तो संयोग या इत्तिफाक से इतनी स्थितियों का मिलन कैसे हो जाता (क्योंकि कई बार अनेक घटनाएँ एक साथ घटती हैं) ? शायद तुम उत्तर में कहोगे—‘हवा चल रही थी, और उस मनुष्य को उधर से गुजरना था, इसलिए ऐसा हो गया।’ परन्तु वे प्रत्युत्तर देगे—‘उस समय ही हवा क्यों चल रही थी, और वह मनुष्य उस समय ही उधर से क्यों गुजर रहा था?’ यदि तुम फिर उत्तर दो—‘पहले दिन

समुद्र अशान्त होने के कारण हवा चली थी, और उससे पहले दिन मौसम शान्त रहा था, और वह मनुष्य एक मित्र के निमन्त्रण पर उधर से गुजर रहा था, तो चूँकि उनके प्रश्नों का कोई अन्त नहीं, वे फिर प्रत्युत्तर देगे—‘समुद्र अशान्त क्यों था, और वह मनुष्य उसी समय क्यों निमन्त्रित हुआ था?’ और इस तरह एक कारण से दूसरे कारण तक वे तुम्हारा पीछा करेंगे, जब तक कि तुम ईश्वर के सकल्प में आश्रय लेने के लिए उद्यत न हो जाओ, अर्थात् अज्ञान के शरणस्थान में। इस तरह फिर, जब वे मानव शरीर को देखते हैं, तो वे हैरान हो जाते हैं, और चूँकि वे इतनी अधिक कला का कारण नहीं जानते, वे अनुमान करते हैं कि इसकी रचना यान्त्रिक कला से नहीं हुई, अपितु दैवी या अलौकिक कला से हुई है, और इसे ऐसी रीति से बनाया गया है कि एक भाग दूसरे भाग की हानि न कर सके। इसका फल यह होता है कि जो लोग चमत्कारों की जाँच करना चाहते हैं, और जो प्राकृत पदार्थों को विद्वानों की तरह समझना चाहते हैं, और मूर्खों की तरह उन पर आश्चर्य से टकटकी नहीं लगाते, उन्हें धर्मविरोधी और अधर्मी समझा जाता है, और उन लोगों की ओर से, जिन्हें भीड़ प्रकृति और देवताओं के व्याख्याता मानते हैं, ऐसा घोषित भी किया जाता है। क्योंकि ये लोग जानते हैं कि ज्यों ही अविद्या दूर हुई, वह हैरानी, जो उनके अधिकार को सुरक्षित किये हुए है, उनसे छिन जायगी। परन्तु मैं अब इस विचाराश को छोड़ता हूँ, और उस विषय की ओर चलता हूँ, जिसे मैंने तीसरे स्थान में विचाराधीन करने का निश्चय किया था।

ज्यों ही मनुष्यों ने यह मान लिया कि सारी सृष्टि वस्तुएँ उनके लिए बनी थी, उनके लिए यह मानना अनिवार्य सा ही था कि वस्तुओं में जो कुछ उनके लिए अधिकाधिक लाभकर है, वह उनका सर्वोत्तम गुण है, और वस्तुओं में वह वस्तु सर्वोत्तम है, जिससे उन्हें अधिकतम लाभ होता है। इस तरह उन्होंने वे प्रत्यय बनाये होंगे, जिनसे वे प्रकृति की वस्तुओं का समाधान करते हैं, अर्थात्, शुभ, अशुभ, व्यवस्था, अव्यवस्था, गर्म, सर्द, सौन्दर्य, कुरूपता, आदि, और चूँकि वे अपने आपको स्वाधीन कर्ता ख्याल करते थे, प्रशंसा, अप्रशंसा, पाप और पुण्य के प्रत्यय उद्भूत हुए। इनमें दूसरी श्रेणी के प्रत्ययों पर मैं पीछे विचार करूँगा, जब मानव प्रकृति की बाबत लिखूँगा, परन्तु पहली श्रेणी के प्रत्ययों की बाबत अभी कहना है। उन लोगों के विचार में, जो कुछ स्वास्थ्य और ईश्वर-पूजा के लिए सहायक है, वह शुभ है, और जो इनके प्रतिकूल बढ़ावा देता है, वह अशुभ है। और चूँकि जो लोग प्रकृति की वस्तुओं को नहीं समझते, उन्हें इनकी बाबत कोई निश्चय नहीं

होता, अपितु वे इनकी कल्पना ही करते हैं और कल्पना को बुद्धि समझ लेते हैं, उन्हें दृढ़ विश्वास होता है कि वस्तुओं में व्यवस्था है, और उन्हें न वस्तुओं का और न अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है। जब वस्तुओं की स्थिति ऐसी होती है कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उन्हें जानकर हम सहज ही उनकी कल्पना कर सकते हैं, और इसके परिणामस्वरूप सहज ही उन्हें याद रख सकते हैं, तो हम कहते हैं कि वे अच्छी व्यवस्था में हैं, दूसरी ओर, जब हम ऐसा नहीं कर सकते, तो उन्हें अव्यवस्थित या अनियमित कहते हैं। अब चूँकि जिन वस्तुओं की हम सुगमता से कल्पना कर सकते हैं, वे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सुखद होती हैं, मनुष्य व्यवस्था को अव्यवस्था से श्रेष्ठ समझते हैं, मानो व्यवस्था हमारी कल्पना से असबद्ध प्रकृति में कुछ वस्तु होती। और वे कहते हैं कि ईश्वर ने सभी वस्तुओं को नियम में उत्पन्न किया है, और अनजाने ईश्वर में कल्पना निर्दिष्ट करते हैं, सिवाय इसके कि वे यह कहें कि ईश्वर ने मानवकल्पना का सर्जन करके सभी वस्तुओं को ऐसा त्रमबद्ध किया कि वे हमारी कल्पना के लिए सुगमतर हो। शायद उन्हें अपने मिथ्यान्त के सम्बन्ध में इस कठिनाई का ख्याल नहीं आयेगा कि ऐसी असंख्य वस्तुएँ हैं जो हमारी कल्पना की पहुँच से परे हैं, और बहुतेरी ऐसी हैं जो उसे उनकी निर्वलता के कारण व्याकुल कर देती हैं। परन्तु इस पर मैं पर्याप्त कह चुका हूँ। अन्य प्रत्यय भी कल्पना के आकार ही हैं, जिनमें कल्पना विविध रूपों में प्रभावित होती है, और इस पर अज्ञानी मनुष्य इन्हीं पदार्थों के महत्त्वपूर्ण गुण समझते हैं, क्योंकि जैसा हमने कहा है, वे ख्याल करते हैं कि सभी वस्तुएँ उनके लिए वनी थी, और वे उनकी प्रकृतियों को अच्छा या बुरा, स्वस्थ या गला-भरा, और भ्रष्ट उसी प्रकार कहते हैं, जैसे वे आप उनमें प्रभावित होते हैं। दृष्टान्त के लिए, यदि वह गति, जो तन्तु बाह्य पदार्थों से आँवों के द्वारा ग्रहण करते हैं, स्वास्थ्य के लिए लाभकर है, तो ऐसी गति देनेवाले पदार्थ गुन्दर कहलाते हैं, पर यदि ऐसा न हो, तो इसके विपरीत होने के कारण वे कुम्प कहलाते हैं। जो वस्तुएँ तन्तुओं को नासिका द्वारा प्रभावित करती हैं, वे मुग्धिन या बदबूदार कहलाती हैं, त्रिह्वा द्वारा ज्ञान वस्तुएँ मीठी या कटुवी, स्वादिष्ट या वैस्वाद, स्पर्श द्वारा ज्ञान कठोर या कोमल, खुरखुरी या हमवार कहलाती हैं, इत्यादि। जो कुछ कान को प्रभावित करता है, शब्द कहलाता है, और यह कर्कश या सुग्रीला होता है, दूसरे प्रकार के शब्द ने तो मनुष्यों को गालगलन की सीमा तक प्रयत्नता दी है और उन्होंने विश्वास किया है कि मधुर स्वर ईश्वर को भी प्रसन्न करता है। ऐसे दार्शनिक भी हुए हैं, जो कहते हैं कि

नक्षत्रों की गति में राग उत्पन्न होता है। इस सबसे स्पष्ट है कि प्रत्येक मनुष्य अपने मन की बनावट के अनुसार वस्तुओं की वादत निर्णय करता है, या यो कहे कि अपनी कल्पना के रूपभेदों को ही वस्तुएँ समझ लेता है। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं (जैसा हम यों ही चलते कह सकते हैं) कि इतने विवाद जितने हम देखते हैं, मनुष्य में प्रस्तुत हुए हैं, और अन्त में सन्देहवाद हुआ है। क्योंकि यद्यपि मनुष्यों के शरीरों में बहुत-सी समानताएँ हैं, इनके साथ कई असमानताएँ भी हैं, और सम्भव है कि जो कुछ एक को शुभ प्रतीत होता है, दूसरे को अशुभ प्रतीत हो, जो एक को व्यवस्था प्रतीत होती है, दूसरे को अव्यवस्था प्रतीत हो; जो एक के लिए सुखद है, वह दूसरे के लिए दुःखद हो, इत्यादि। इसकी बाबत अधिक कहना आवश्यक नहीं, क्योंकि इसकी विस्तृत व्याख्या का यह उचित स्थान नहीं, और यो भी यह सबके लिए स्पष्ट है। क्योंकि प्रत्येक की जिह्वा पर ये शब्द होने हैं, 'जितने मनुष्य, उतने ही मन', 'प्रत्येक अपनी रीति से बुद्धिमान है, जैसे रस लेने में भेद है, वैसे मन में भी।' ये सभी कहावतें स्पष्ट रीति से बताती हैं कि मनुष्य पदार्थों की वादत अपनी रुचियों के अनुसार निर्णय करते हैं, और वस्तुओं को समझने के स्थान में उनकी कल्पना करना पसन्द करते हैं। क्योंकि यदि वे वस्तुओं को समझने, तो मेरी दलीले उन्हें गणित की तरह कायल तो कर ही देती, यद्यपि उन्हें आकृष्ट न कर सकती।

इस तरह हमने देखा है कि सारी युक्तियाँ, जिनसे अवोध लोग कुदस्त का समाधान किया करते हैं, कल्पना के आकार की हैं, और वास्तव में किसी वस्तु की प्रकृति को प्रकट नहीं करती, वे केवल कल्पना की रचना हैं, और यद्यपि उनके नाम हैं, मानो वे कल्पना के बाहर की सत्ताएँ हो, परन्तु मैं उन्हें वास्तविक सत्ताएँ नहीं, अपितु काल्पनिक सत्ताएँ कहता हूँ। और इस तरह सारी युक्तियाँ, जो ऐसे प्रत्ययों द्वारा हमारे विरुद्ध दी जाती हैं, सहज ही लौटायी जा सकती हैं। क्योंकि बहुत लोग इस तरह तर्क करेंगे—यदि सभी वस्तुएँ ईश्वर की पूर्णतम प्रकृति की अनिवार्यता से प्रकट हुई हैं, तो सर्ग में इतनी अधिक अपूर्णताएँ कहाँ से आ गयी? उदाहरण के लिए, वस्तुओं का विकार जो गलने-सड़ने तक जा पहुँचता है, अव्यवस्था, बुराई, पाप आदि। परन्तु जैसा मैं अभी कह चुका हूँ, वे सहज ही खण्डित हो जाती हैं, क्योंकि वस्तुओं की पूर्णता की जाँच उनकी प्रकृति और शक्ति से होती है; उनकी पूर्णता का अधिक-न्यून होना इस पर निर्भर नहीं होता कि वे मानव-इन्द्रियों में प्रसन्नता उत्पन्न करती हैं या घृणा, या मनुष्यों के लिए हितकर हैं या हानि-

कारक। परन्तु उन लोगो के लिए, जो पूछते हैं—‘ईश्वर ने सभी मनुष्यों को ऐसी रीति से क्यों नहीं बनाया कि वे केवल बुद्धि के शासन में रहते?’ मेरा उत्तर इतना ही है—क्योंकि श्रेष्ठतम पद से निकृष्टतम पद तक सभी वस्तुओं के सर्जन के लिए सामग्री की उसे कमी न थी, या, अधिक शुद्ध रूप में कहा जाय तो, क्योंकि उसकी प्रकृति के नियम इतने समावेशक थे कि उनमें हर एक वस्तु को, जिसका अनन्त बुद्धि चिन्तन कर सकती है, सर्जन करने की योग्यता थी, जैसा मैंने साध्य १६ में दिखाया है। ये भ्रम है, जिन्हें प्रकट करने के लिए मैं यहाँ कुछ रुका था। यदि उन भ्रमों के कुछ कण अभी रह गये हैं, तो वे तनिक मनन से सहज ही दूर किये जा सकते हैं।

दूसरा भाग

मन की प्रकृति और स्रोत के विषय में

[जीव-जिज्ञासा]

प्राक्कथन

अब मुझे ऐसी वस्तुओं के समाधान की ओर चलना आवश्यक है, जो अवश्य-मेव ईश्वर या एक नित्य और अनन्त सत्ता में सार का अनिवार्य परिणाम है, सब परिणामों की बाबत नहीं (क्योंकि जैसा हम पहले भाग के साध्य १६ में दिखा चुके हैं, ये अनन्त सख्या में और असंख्य आकारों में व्यक्त होते हैं), अपितु केवल ऐसे परिणामों की बाबत कहना है जो हमें मानो हाथ से पकड़ कर, मनुष्य के मन और उसकी पूर्ण आप्तकामना के ज्ञान तक ले जायँ।

परिभाषाएँ

१ शरीर से मेरा अभिप्राय ऐसे आकार से है जो एक विशेष निर्णीत रूप में ईश्वर के सार को प्रकट करता है, उस हद तक जहाँ तक ईश्वर का एक विस्तृत अभिव्यक्ति की स्थिति में चिन्तन किया जाता है।

२ किसी वस्तु के सार में, मेरे विचारानुसार, वह सम्मिलित है जिसकी स्वीकृति में उस वस्तु की स्वीकृति अनिवार्य रूप में निहित है, और जिसके हटाये जाने पर वह वस्तु भी अवश्य हटायी जाती है, अन्य शब्दों में, ऐसा अंश जिसके अभाव में वस्तु का न भाव और न चिन्तन हो सकता है, और दूसरी ओर, वस्तु के अभाव में जिसका न भाव हो सकता है, न चिन्तन हो सकता है।

३ प्रत्यय से मेरा अभिप्राय मन के ऐसे विचार से है, जो मन चिन्तक होने के कारण करता है।

टीका—मैं 'प्रत्यक्ष' के स्थान में 'विचार' का प्रयोग करता हूँ, क्योंकि प्रत्यक्ष शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि मन विषय से आक्रान्त है, जहाँ कि विचार मन की क्रिया का सूचक प्रतीत होता है।

४ पर्याप्त प्रत्यय से भेरा अभिप्राय ऐसे प्रत्यय से है जो विषय से असम्बद्ध विचारित होने पर, एक सत्य प्रत्यय के सभी लक्षणों या चिह्नों से सम्पन्न है।

टीका—मैं आन्तरिक इसलिए कहता हूँ कि जो कुछ वाहरी है, वह सम्मिलित न हो जाय, अर्थात् प्रत्यय और विषय का मेल (देखो स्वयं० ६, भाग १)।

५ अवधि अस्तित्व की सीमारहित निरन्तरता है।

टीका—मैं 'सीमा रहित' कहता हूँ, क्योंकि यह किसी वर्तमान वस्तु की प्रकृति से निश्चित नहीं होती, न किसी सर्जक कारण से होती है, जो अनिवार्य रूप से वस्तु को अस्तित्व देता तो है, परन्तु इसे छीन नहीं सकता।

६ सत्ता और पूर्णता को मैं एक ही चीज समझता हूँ।

७ विशेष वस्तुओं से मेरा अभिप्राय ऐसी वस्तुओं से है, जो ससीम हैं और एक निर्णीत अस्तित्व रखती हैं, परन्तु यदि उनमें कुछ एक किसी क्रिया में इस तरह संयोगी हो कि उनमें हर एक एक साथ एक फल का कारण हो, तो मैं उन सबको इस सीमा तक एक विशेष वस्तु समझता हूँ।

स्वयतथ्य

१ मनुष्य के सार में अनिवार्य अस्तित्व निहित नहीं, अर्थात् सर्ग (कुदरत) की व्यवस्था में इस या उस मनुष्य का होना या न होना एक समान सम्भव है।

२ मनुष्य चिन्तन करता है।

३ चिन्तन के आकार, जैसे प्रेम, इच्छा, या कोई और आकार जिगकी मन के रूप भेदों में गणना होती है, स्वीकृत नहीं होते, सिवाय इसके कि उसी व्यक्ति में प्रेम, इच्छा आदि के विषय का प्रत्यय भी स्वीकृत हो। परन्तु चिन्तन के किसी आकार के स्वीकृत न होने की हालत में भी, प्रत्यय स्वीकृत हो सकता है।

४ हम अनुभव करते हैं कि एक विशेष भौतिक पदार्थ अनेक प्रकार से प्रभावित होता है।

५ भौतिक पदार्थों और चिन्तन के आकारों के अतिरिक्त हम न किन्हीं विशिष्ट वस्तुओं को अनुभव करते हैं न देखते हैं।

स्वीकृत पक्षों के लिए साध्य १३ के अन्त में देखो।

साध्य १—चिन्तन ईश्वर का एक गुण है, या ईश्वर एक चिन्तन करनेवाली सत्ता है।

उपपत्ति—विशेष विचार या यह और वह विचार ऐसे आकार हैं, जो ईश्वर

के सार का एक विशेष ओर निर्णय रूप में प्रकट करने है (भाग १, साध्य २५, उपप्रमेय)। वह गुण जिसका प्रत्यय सभी विशेष विचारों में निहित है, और जिसके द्वारा उनका चिन्तन होता है, ईश्वर में विद्यमान है (भाग १, परि० ५)। इसलिए, चिन्तन ईश्वर के उन असंख्य गुणों में है, जो ईश्वर के नित्य और अनन्त सार को प्रकट करते हैं (देखो भाग १, परि० ६), या ईश्वर एक चिन्तन करने वाला पदार्थ है। **इ० सि०**

टिप्पणी—यह साध्य इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि हम एक अनन्त चिन्तन करनेवाली सत्ता का चिन्तन कर सकते हैं। क्योंकि जितना अधिक कोई विचार करनेवाला प्राणी विचार करता है, उतनी ही अधिक सत्ता और पूर्णता हमारे विचारानुसार उमने होती है, इसलिए जो सत्ता अनन्त वस्तुओं का अनन्त आकारों में चिन्तन कर सकती है, वह चिन्तन के सबन्ध में अवश्यमेव अनन्त है। इसलिए चूँकि, केवल विचार के ख्याल से, हम एक अनन्त सत्ता का चिन्तन कर सकते हैं, इसलिए अनिवार्य रूप से (भाग १, परि० ४) चिन्तन ईश्वर के अनन्त गुणों में एक है, जैसा हम मिश्र करना चाहते थे।

साध्य २—विस्तार ईश्वर का एक गुण है, या ईश्वर एक विस्तृत पदार्थ है।

उपपत्ति—यह उपपत्ति उमी रीति में चलती है, जिसमें पूर्व साध्य की उपपत्ति चली है।

साध्य ३—ईश्वर में उसके सार का प्रत्यय ही स्वीकृत नहीं, परन्तु उन सब वस्तुओं का प्रत्यय भी, जो अनिवार्य रूप में उसके सार का परिणाम हैं।

उपपत्ति—ईश्वर असंख्य वस्तुओं का असंख्य आकारों में चिन्तन कर सकता है (भाग २, साध्य १), या (जो भाग १, साध्य १६ के अनुसार एक ही बात है) वह अपने सार का प्रत्यय और सभी वस्तुओं का, जो उससे उद्भूत होती है, प्रत्यय बना सकता है। अब जो कुछ भी ईश्वर की शक्ति में है, अनिवार्य रूप से अस्तित्व रखता है (भाग १, साध्य ३५)। इसलिए इस प्रकार का प्रत्यय स्वीकृत है, और वह भी केवल ईश्वर में ही (भाग १, साध्य १५)। **इ० सि०**

टिप्पणी—साधारण मनुष्यों के लिए ईश्वर की शक्ति का अभिप्राय, ईश्वर का स्वाधीन सकल्प और समस्त वर्तमान वस्तुओं पर अधिकार है, और इन वस्तुओं को आकस्मिक समझा जाता है। क्योंकि वे कहते हैं कि ईश्वर में प्रत्येक वस्तु को विनष्ट करने और शून्य बनाने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त वे बहुधा ईश्वर की शक्ति की राजाओं की शक्ति से तुलना करते हैं। परन्तु हम भाग १, साध्य

३२ के उपप्रमेय १ और २ में इसका खडन कर चुके हैं, और भाग १, साध्य १६ में हमने दिखाया था कि ईश्वर उसी अनिवार्यता से क्रिया करता है, जिससे वह अपने आप को समझता है। अर्थात् यह दैवी प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम है (जैसा सभी एकमत से स्वीकार करेंगे) कि ईश्वर अपने आप को समझता है, और उसी अनिवार्यता का यह परिणाम है कि ईश्वर असंख्य क्रियाएँ असंख्य रूपों में करता है। फिर भाग १, साध्य ३४ में हमने दिखाया कि ईश्वर की शक्ति ईश्वर के सक्रिय सार से भिन्न नहीं, और इसके फलस्वरूप हमारे लिए ईश्वर को क्रियाविहीन चिन्तन करना वैसा ही असंभव है, जैसा उसे अवर्तमान चिन्तन करना। और यदि मैं इस विषय पर अधिक विचार करूँ, तो यह दिखा सकता हूँ, कि जिस शक्ति को साधारण मनुष्य ईश्वर का गुण बताते हैं, वह मानुषी शक्ति ही नहीं (यह दिखाकर कि वे ईश्वर का चिन्तन मनुष्य के रूप में या मनुष्य जैसे प्राणी के रूप में करते हैं), अपितु शक्ति का अभाव भी उसमें निहित है। परन्तु मैं इस विषय की ओर इतनी बार लौटना नहीं चाहता। मैं पाठक से बारम्बार इतना ही कहना चाहता हूँ कि जो कुछ मैंने इस विषय पर भाग १ में साध्य १६ से अन्त तक लिखा है, वह उस पर मनन करे और फिर मनन करे। क्योंकि कोई मनुष्य मेरे अभिप्राय को ठीक समझ नहीं सकता, सिवाय इसके कि वह ईश्वर की शक्ति को राजाओं की मानुषी शक्ति या अधिकार से भिन्न रखने में पूरी सावधानी बरते।

साध्य ४—ईश्वर का प्रत्यय जिससे असंख्य वस्तुएँ असंख्य आकारों में उद्भूत होती हैं, एक ही हो सकता है।

उपपत्ति—अनन्त बुद्धि ईश्वर के गुणों और आकारों को ही जान सकती है (भाग १, साध्य ३०)। ईश्वर एक है (भाग १, साध्य १४, उपप्रमेय १)। इसलिए ईश्वर का प्रत्यय, जिससे असंख्य वस्तुएँ असंख्य आकारों में उद्भूत होती हैं, एक ही हो सकता है। **इ० सि०**

साध्य ५—प्रत्ययों की आकारात्मक सत्ता ईश्वर को अपना कारण स्वीकार करती है, परन्तु उसी स्थिति में जिसमें उसे एक चिन्तन करनेवाला पदार्थ समझा जाता है, किसी अन्य गुण से प्रकाशित होने की स्थिति में नहीं। अर्थात् ईश्वर के गुणों के प्रत्यय ही नहीं, अपितु विशेष वस्तुओं के प्रत्यय भी अपने विषयों को अपना सर्जक कारण नहीं मानते, केवल ईश्वर को, चिन्तन करनेवाला पदार्थ होने की स्थिति में, मानते हैं।

उपपत्ति—इस भाग के साध्य ३ से यह स्पष्ट है। क्योंकि वहाँ हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ईश्वर अपने सार का प्रत्यय और उन सब वस्तुओं का प्रत्यय बना सकता है, जो उसके सार का अनिवार्य रूप से परिणाम है, और यह केवल इस कारण कि वह एक चिन्तन करने वाला पदार्थ है, और इसलिए नहीं कि वह अपने प्रत्यय का विषय है। इसलिए प्रत्ययों की आकारात्मक सत्ता उसके चिन्तन करने वाले पदार्थ होने की स्थिति में ईश्वर को अपना कारण स्वीकार करती है। परन्तु इसे एक अन्य रीति से भी दिखाया जा सकता है। प्रत्ययों की आकारात्मक सत्ता चिन्तन का एक आकार है (जैसा स्वतः सिद्ध है), अर्थात् (भाग १, साध्य २५, उपप्रमेय), ऐसा आकार जो एक विशेष रूप में ईश्वर की प्रकृति को, जहाँ तक कि वह एक चिन्तन करने वाला पदार्थ है, व्यक्त करता है, और इसलिए (भाग १, साध्य १०) इसमें ईश्वर के किसी और गुण का प्रत्यय निहित नहीं, और इसके फलस्वरूप (भाग १, स्वयं, ०४) किसी अन्य गुण या विचार का परिणाम नहीं। इसलिए प्रत्ययों की आकारात्मक सत्ता चिन्तन करने वाले पदार्थ की स्थिति में ईश्वर को अपना कारण स्वीकार करती है, इत्यादि। इ० सि०

साध्य ६—ईश्वर के किसी गुण के आकारों का ईश्वर कारण है, केवल इस हद तक कि उस गुण के द्वारा उसका चिन्तन किया जाता है, और जहाँ तक किसी अन्य गुण के द्वारा उसका चिन्तन किया जाता है, वह कारण नहीं।

उपपत्ति—प्रत्येक गुण का चिन्तन इसके अपने द्वारा, किसी अन्य की सहायता के बिना, होता है (भाग १, साध्य १०)। इसलिए प्रत्येक गुण के आकारों में उनके अपने गुण का प्रत्यय निहित होता है, किसी अन्य गुण का प्रत्यय नहीं, और इस तरह (भाग १, स्वयं ०४) ईश्वर के किसी गुण के आकारों का ईश्वर इसी हद तक कारण होता है कि उस गुण के द्वारा उसका चिन्तन किया जाता है; किसी अन्य गुण के द्वारा चिन्तन किये जाने की स्थिति में नहीं। इ० सि०

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि जो वस्तुएँ चिन्तन के आकार नहीं, उनकी आकारात्मक सत्ता दैवी प्रकृति का परिणाम इसलिए नहीं होती कि यह उन्हें उससे पहले जानती है; परन्तु चिन्त्य वस्तुएँ अपने गुणों से उसी रूप में और उसी अनिवार्यता से उद्भूत और अनुमित होती हैं, जिस तरह, जैसा हमने दिखाया है, प्रत्यय अपने चिन्तन के गुण से होते हैं।

साध्य ७—प्रत्ययों का क्रम और सबन्ध वही है जो वस्तुओं का क्रम और सबन्ध है।

उपपत्ति—यह भाग १, स्वयं ४ से स्पष्ट है। क्योंकि प्रत्येक सर्जित वस्तु का प्रत्यय उस कारण के ज्ञान पर निर्भर होता है, जिसका यह कार्य या परिणाम है।

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि ईश्वर की चिन्तन की शक्ति उसकी क्रिया की वास्तविक शक्ति के बराबर है, अर्थात् जो कुछ ईश्वर की अनन्त प्रकृति से आकारात्मक रूप में उद्भूत होता है, वह सदा वस्तुगत रूप में ईश्वर के प्रत्यय से उसी क्रम और सबन्ध में व्यक्त होता है।

टिप्पणी—आगे चलने से पहले, जो कुछ हमने ऊपर दिखाया है, उसे स्मरण कर ले, यह कि जो कुछ अनन्त बुद्धि को द्रव्य का सार दीख सकता है, वह सदा एक ही द्रव्य में विद्यमान होता है, और इसलिए चिन्तन करने वाला द्रव्य और विस्तृत द्रव्य एक ही पदार्थ है, जिनका चिन्तन एक समय एक गुण के द्वारा होता है, और दूसरे समय दूसरे गुण के द्वारा। इसी तरह विस्तार का आकार और उस आकार का प्रत्यय भी एक ही वस्तु है, परन्तु वे दो रूपों में व्यक्त होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ यहूदियों ने इसे देखा था, परन्तु अस्पष्ट रूप में, क्योंकि उन्होंने कहा कि ईश्वर और उसकी बुद्धि उन वस्तुओं में, जिनका वह बुद्धि चिन्तन करती है, अभिन्न है। उदाहरण के तौर पर, कुदरत में वर्तमान एक वृत्त और एक वर्तमान वृत्त का प्रत्यय, जो ईश्वर में भी है, दोनों एक ही वस्तु है, यद्यपि उनका समाधान भिन्न गुणों के द्वारा होता है। और इस तरह, हम समार को चाहे विस्तार के गुण के तले विचारें, चाहे चिन्तन के गुण के तले, या किसी और गुण के तले, हम एक ही क्रम और एक से ही कारणों का सबंध पायेंगे, अर्थात् दोनों हालतों में परिणाम एक ही होगा। मैंने कहा था कि ईश्वर चिन्तन करने वाले पदार्थ की स्थिति में एक प्रत्यय का कारण है, और विस्तृत पदार्थ होने की स्थिति में एक वृत्त का कारण है। ऐसा कहने में मेरा हेतु यही था कि एक वृत्त के प्रत्यय की आकारात्मक सत्ता चिन्तन के किसी अन्य आकार के द्वारा ही एक निकट दीख सकती है, फिर वह किसी और के द्वारा, और इसी तरह अनन्त काल तक। परिणाम यह कि जब तक हम वस्तुओं को चिन्तन के आकारों के रूप में विचारते हैं, हमें समस्त ससार के क्रम या इसके कारणों के सबंध का समाधान केवल चिन्तन के गुण से करना चाहिए, और जहां तक वस्तुओं को विस्तार के आकारों के रूप में विचारा जाता है, समस्त ससार की व्यवस्था का समाधान भी केवल विस्तार गुण के द्वारा होता चाहिए, और अन्य वस्तुओं की वास्तविकता भी मेरा विचार ऐसा ही है। इसलिए,

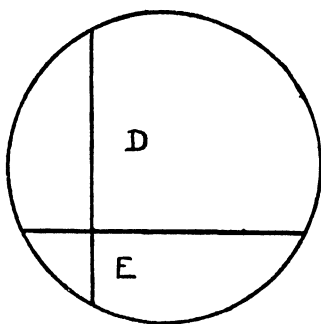
वस्तुएँ, जैसी वे अपने आप में हैं, ईश्वर वस्तुतः। उनका कारण है, क्योंकि उसमें असंख्य गुण विद्यमान हैं। अभी मैं इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकता।

साध्य ८—जो विशेष पदार्थ या आकार विद्यमान नहीं। उनके प्रत्ययो को ईश्वर के अनन्त प्रत्यय में उन्नी तरह समझना चाहिए, जिस तरह विशेष पदार्थों या आकारों के आकारात्मक सार ईश्वर के गुणों में समाविष्ट हैं।

उपपत्ति—यह साध्य पूर्व टिप्पणी से स्पष्ट है।

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि जब तक विशेष पदार्थ केवल इसी रूप में विद्यमान हैं कि वे ईश्वर के गुणों के अन्तर्गत आते हैं, उनका वस्तुगत अस्तित्व या प्रत्यय उसी सीमा तक विद्यमान है, जिस तक ईश्वर का अनन्त प्रत्यय विद्यमान है, और जब विशेष पदार्थों की वास्तविकता कहा जाता है कि वे इसी स्थिति में विद्यमान नहीं कि वे ईश्वर के गुणों के अन्तर्गत हैं, परन्तु इस अर्थ में भी कि उनको स्थिर कहा जाता है, तो उनके प्रत्ययो में भी अस्तित्व निहित है, जिसके द्वारा उन्हें स्थिर कहा जाता है।

टिप्पणी—यदि इस पर भी कोई इस विषय की बेहतर व्याख्या के लिए किसी दृष्टान्त की माँग करे, तो तथ्य यह है कि मैं कोई ऐसा दृष्टान्त न दे सकूँगा,



जो विषय को पर्याप्त रूप में व्याख्या कर दे, क्योंकि यह विलक्षण है। तो भी जहाँ तक संभव है, मैं दृष्टान्त से इसे स्पष्ट करने का यत्न करूँगा। अब वृत्त प्रकृति से ही ऐसा है कि यदि सीधी रेखाओं की कोई संख्या इसमें एक दूसरी को काटे तो उसके खंडों से जो समकोण चतुर्भुज बनेंगे, वे सब एक दूसरे के बराबर होंगे। इसलिये किसी वृत्त में असंख्य समकोण चतुर्भुज

विद्यमान हैं, जो एक दूसरे के बराबर हैं। इस पर भी इनमें से कोई चतुर्भुज भी उन्नी सीमा तक विद्यमान कहा जा सकता है, जिस तक वृत्त विद्यमान है, इनमें से किसी का प्रत्यय भी विद्यमान नहीं कहा जा सकता, सिवाय इस स्थिति के कि यह एक वृत्त के प्रत्यय के अन्तर्गत आता है। चिन्तन करे कि इन असंख्य रेखाओं में केवल दो रेखाओं E और D का अस्तित्व है। अब इन

दोनो के प्रत्ययो का अस्तित्व इसी अंश में नहीं होगा कि वे एक वृत्त के प्रत्यय में समाविष्ट हैं, अपितु इसमें भी कि उनमें समकोण चतुर्भुजों का अस्तित्व निहित है, जिसका परिणाम यह है कि उनमें और शेष समकोण चतुर्भुजों के शेष प्रत्ययो में भेद किया जाता है।

साध्य ९—किसी वास्तविक अस्तित्व रखनेवाली विशेष वस्तु के प्रत्यय का कारण ईश्वर है, अनन्त होने की स्थिति में नहीं, अपितु इस हद तक कि उसे एक और वास्तविक अस्तित्व रखनेवाली वस्तु के प्रत्यय से प्रभावित समझा जाता है, जिसका भी ईश्वर कारण है, जहाँ तक कि वह एक तीसरे प्रत्यय से प्रभावित होता है, और इसी तरह अनन्तता तक।

उपपत्ति—किसी वास्तविक अस्तित्व रखनेवाली वस्तु का प्रत्यय चिन्तन का एक विशेष आकार है, और अन्य सबसे भिन्न है (भाग २, साध्य ८, उपप्रमेय और टिप्पणी), और इसलिए (भाग २, साध्य ६) ईश्वर उसका कारण है, उसी हद तक कि वह एक चिन्तन करनेवाला पदार्थ है। परन्तु इस स्थिति में नहीं (भाग १, साध्य २८) कि वह निरपेक्ष चिन्तन करनेवाला पदार्थ है, अपितु इस हद तक कि उसे चिन्तन के एक और आकार से प्रभावित समझा जाता है, और वह दूसरे का कारण है, जहाँ तक कि वह तीसरे से प्रभावित होता है, और इसी तरह अनन्तता तक। और प्रत्ययों का क्रम और सबन्ध वही है (भाग २, साध्य ७) जो कारणों का क्रम और सबन्ध है। इसलिए किसी विशेष वस्तु का कारण या तो कोई और प्रत्यय है, या ईश्वर, जहाँ तक कि उसे दूसरे प्रत्यय से प्रभावित समझा जाता है, और इस प्रत्यय का ईश्वर कारण है, जहाँ तक कि यह किसी अन्य प्रत्यय से प्रभावित होता है, और इसी तरह अनन्तता तक। **इ० सि०**

उपप्रमेय—किसी प्रत्यय के विशेष विषय में जो कुछ भी होता है, उसका ज्ञान ईश्वर में अपना ज्ञान रखता है, परन्तु उसी हद तक कि वह उस विषय का प्रत्यय रखता है।

उपपत्ति—किसी प्रत्यय के विषय में जो कुछ होता है, उसका प्रत्यय ईश्वर में है (भाग २, साध्य ३), उसके अनन्त होने की स्थिति में नहीं, अपितु इसी हद तक कि उसे विशेष वस्तु के एक और प्रत्यय से प्रभावित समझा जाता है (पूर्व साध्य), परन्तु (भाग २, साध्य ७) प्रत्ययों का क्रम और सबन्ध वही है, जो वस्तुओं का क्रम और सम्बन्ध है। इसलिए जो कुछ किसी विशेष वस्तु में घटता है, उसका ज्ञान ईश्वर में है, उसी हद तक जिस तक उसे उस वस्तु का प्रत्यय है। **इ० सि०**

साध्य १०—द्रव्य की सत्ता मनुष्य के सार से सबद्ध नहीं, या फिर, द्रव्य मनुष्य के आकार का उपादान नहीं।

उपपत्ति—द्रव्य की सत्ता में अनिवार्य अस्तित्व निहित है (भाग १, साध्य ७)। इसलिए यदि द्रव्य की सत्ता मनुष्य के सार से सबद्ध हो, तो चूँकि द्रव्य स्वीकृत है, मनुष्य भी अनिवार्य रूप से स्वीकृत होगा (भाग २, परि० २), और इसके फलस्वरूप मनुष्य का अस्तित्व अनिवार्य होगा, जो (भाग २, स्वयं १) अर्थहीन है। इसलिए, इत्यादि। इ० सि०

टिप्पणी—यह साध्य भाग १, साध्य ५ से भी सिद्ध किया जा सकता है, अर्थात् एक ही प्रकृति रखनेवाले दो द्रव्य स्वीकृत नहीं हो सकते। क्योंकि चूँकि अनेक मनुष्य विद्यमान हो सकते हैं, इसलिए जो कुछ मनुष्य के आकार का उपादान है, वह द्रव्य की सत्ता नहीं। फिर, द्रव्य के अन्य गुणों से यह साध्य स्पष्ट है याने द्रव्य स्वप्रकृति से ही अनन्त, अभग्य, अविभाज्य इ० है, जैसा कि कोई भी सरलता से देख सकता है।

उपपत्ति—अतः ईश्वर के गुणों के थोड़े-बहुत रूप भेद में ही मनुष्य का सार है। क्योंकि द्रव्य की सत्ता मनुष्य के सार से सम्बद्ध नहीं है (पूर्व साध्य)। इसलिए यह सार ईश्वर में विद्यमान है, और ईश्वर के बिना न विद्यमान हो सकता है, न चिन्तन किया जा सकता है, चाहे यह एक रूपभेद या आकार ही हो, जो ईश्वर की प्रकृति को एक विशेष निर्णीत रूप में प्रकाशित करता है।

टिप्पणी—सभी इस बात को तो स्वीकार करेंगे कि ईश्वर के बिना किसी वस्तु का न अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन हो सकता है। क्योंकि सभी इसमें सहमत होंगे कि ईश्वर ही सभी वस्तुओं का, उनके सार का और उनके अस्तित्व का, एक मात्र कारण है, अर्थात् ईश्वर वस्तुओं का उनकी उत्पत्ति के सबंध में ही कारण नहीं, अपितु उनकी सत्ता के सबन्ध में भी है। परन्तु बहुतेरे लोग कहते हैं कि किसी वस्तु के सार से वह सम्बद्ध है, जिसके बिना वस्तु का न अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन हो सकता है, और इसलिए वे विश्वास करते हैं कि या तो ईश्वर की प्रकृति सृजित वस्तुओं के सार से सबद्ध है, या सृजित वस्तुएँ ईश्वर के बिना विद्यमान हो सकती हैं और उनका चिन्तन हो सकता है, या, जो अधिक निश्चित है, वे कारण की बाबत कोई उचित विचार नहीं बना सकते। मेरे विचार में इसका कारण यह है कि उन्होंने दार्शनिक तर्क के क्रम की ओर ध्यान नहीं दिया।

क्योंकि दैवी प्रकृति को जिसे उन्हें सबसे पहले ध्यान में रखना चाहिए था, क्योंकि यह ज्ञान और प्रकृति में प्रथम है, उन्होंने ज्ञान के क्रम में सबसे पीछे समझा है, और उन वस्तुओं को जो इन्द्रियों के विषय कहलाती हैं, उन्होंने सबसे प्रथम स्वीकार किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जब उन्होंने जगत् की वस्तुओं की वास्तव विचार किया, तो उन्होंने दैवी प्रकृति की ओर ध्यान नहीं दिया, और फिर अन्त में जब उन्होंने अपने ध्यान को दैवी प्रकृति की ओर फेरा, तो वे अपनी उन रचनाओं को जिनसे उन्होंने प्राकृत पदार्थों के अपने ज्ञान को ढक दिया था, कोई महत्त्व न दे सके, क्योंकि ये वस्तुएँ दैवी प्रकृति के ज्ञान में कोई सहायता नहीं देती। इस स्थिति में इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनके विचारों में कही कही विरोध प्रस्तुत हो गया। परन्तु मैं इस पर ध्यान नहीं दूँगा। यहाँ मेरा आशय इतना ही बनाना था कि क्यों मैंने यह नहीं कहा कि किसी वस्तु के सार के अन्तर्गत वह आता है जिसके बिना उस वस्तु का न अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन हो सकता है, स्पष्टतः इसलिए कि ईश्वर के बिना विशेष वस्तुओं का न अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन, और इस पर भी ईश्वर उनके सार से सबद्र नहीं। परन्तु मैंने कहा कि वह किसी वस्तु का अनिवार्य रूप में सार है, जिसकी स्वीकृति पर वस्तु भी स्वीकृत होती है, और जिसके अविद्यमान होने पर वस्तु भी अविद्यमान हो जाती है, या वह जिसके बिना वस्तु का और वस्तु के बिना जिसका न अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन हो सकता है। परि० २ में मिलाओ।

साध्य ११—वह प्रथम भाग जो मनुष्य के मन की वास्तविक सत्ता का उपादान है, किसी वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले विशेष पदार्थ का प्रत्यय ही है।

उपपत्ति—मनुष्य का सार (पूर्व साध्य का उपप्रमेय) ईश्वर के गुणों के विशेष आकारों से बना है, अर्थात् (भाग २, स्वयं० २) चिन्तन के विशेष आकारों में, जिन सबसे (भाग २, स्वयं० ३) प्रकृति में प्रत्यय अग्रिम है, और यह प्रत्यय स्वीकृत होने पर, बाकी आकार (अर्थात् वे आकार जिनमें प्रत्यय प्रकृति में अग्रिम है) अवश्य उसी व्यक्ति में होने चाहिए (भाग २, स्वयं० ४)। और इसलिए प्रत्यय पहला भाग है, जिससे मानुषी मन की सत्ता बनती है, परन्तु अविद्यमान वस्तु का प्रत्यय नहीं, क्योंकि तब (भाग २, साध्य, उपप्रमेय) कह ही नहीं सकते कि उस प्रत्यय का अस्तित्व है। इसलिए यह किसी वास्तव में अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ का प्रत्यय होना चाहिए, परन्तु अनन्त पदार्थ का नहीं। क्योंकि अनन्त पदार्थ (भाग १, साध्य २१ और २३) को अवश्यमेव सदा विद्यमान होना

चाहिए। परन्तु यह (भाग २, स्वयं १) अर्थहीन है। इसलिए प्रथम भाग जो मानुषी मन की वास्तविक सत्ता का उपादान है, ऐसी विशेष वस्तु का प्रत्यय है, जो वस्तुतः विद्यमान है। इ० सि०

उपप्रमेय—इससे यह परिणाम निकलता है कि मनुष्य का मन ईश्वर की अनन्तबुद्धि का एक भाग है, और इस तरह जब हम कहते हैं कि मनुष्य का मन इस या उस वस्तु को देखता है, तो हम इससे भिन्न कुछ नहीं कहते कि ईश्वर में यह या वह प्रत्यय विद्यमान है—उसके अनन्त होने की स्थिति में नहीं, परन्तु इस अंश में कि वह मानुषी मन की प्रकृति के द्वारा व्याख्यात होता है, या इस अंश में कि वह मानुषी मन के सार का उपादान कारण है, और जब हम कहते हैं कि ईश्वर में यह या वह प्रत्यय है, केवल इस स्थिति में नहीं कि वह मानुषी मन के सार का उपादान है, अपितु इस अंश में भी कि मनुष्य के मन के साथ-साथ उसमें एक अन्य वस्तु का प्रत्यय भी है, तब हम कहते हैं कि मनुष्य का मन वस्तु को अपूर्ण या अपर्याप्त रूप में देखता है।

टिप्पणी—यहाँ नि सन्देह पाठक झझट में पड़ जायेंगे और बहुतेरी बातों को याद करेंगे जो उन्हें अचल बना देगी, और इसलिए मैं उनसे सहानुभूति की प्रार्थना करता हूँ और चाहता हूँ कि वे इन विषयों पर कोई निर्णय न करें, जब तक कि सब पढ़ न लें।

साध्य १२—मानुषी मन जिस प्रत्यय का बना है, उसके विषय में जो कुछ होता या घटता है, मानुषी मन को उसका ज्ञान अवश्य होना चाहिए, या उसका प्रत्यय अवश्यमेव मनुष्य के मन में विद्यमान होना चाहिए, अर्थात्, यदि जिस प्रत्यय से मनुष्य का मन बना है, उसका विषय शरीर है, तो शरीर में कोई घटना नहीं घट सकती जिसका मन को ज्ञान न हो।

उपपत्ति—अब जो कुछ किसी प्रत्यय के विषय में होता है, उसका ज्ञान अनिवार्य रूप से ईश्वर में स्वीकृत है (भाग २, साध्य ९, उपप्रमेय), इतने अंश में कि ईश्वर को उस वस्तु के प्रत्यय से प्रभावित ख्याल किया जाता है, अर्थात् (भाग २, साध्य ११), इस अंश में कि वह किसी वस्तु के मन का उपादान है। इसलिए मानुषी मन के उपादान प्रत्यय के विषय में जो कुछ भी घटता है, ईश्वर में उसका ज्ञान अवश्य स्वीकृत होना चाहिए, इस अंश में कि ईश्वर मानुषी मन की प्रकृति का उपादान है, अर्थात् (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय), इस घटना का ज्ञान अवश्य ही मन में होगा, अन्य शब्दों में मन इसे जानेगा। इ० सि०

टिप्पणी—यह साध्य स्पष्ट है और भाग २, साध्य ७ की टिप्पणी से अधिक स्पष्टता से समझ में आ जाता है। टिप्पणी देखो।

साध्य १३—जिस प्रत्यय से मनुष्य का मन बना है उसका विषय शरीर या विस्तार का एक विशेष आकार जिसका वास्तविक अस्तित्व है, और इर अतिरिक्त कुछ नहीं।

उपपत्ति—अब यदि शरीर मानुषी मन का विषय नहीं है, तो शरीर के र भेदों के प्रत्यय ईश्वर में विद्यमान नहीं होंगे (भाग २, साध्य ९, उपप्रमेय), अश में कि ईश्वर हमारे मन या किसी अन्य वस्तु के मन का उपादान है, अश (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) शरीर के रूपभेदों के प्रत्यय हमारे मन में होंगे। परन्तु (भाग २ स्वयं ४) शरीर के रूपभेदों के प्रत्यय हमारे मन में इसलिए जिस प्रत्यय से मनुष्य का मन बना है, उसका विषय शरीर है, और (भाग २, साध्य ११) वास्तविक अस्तित्व रखने वाला। इसके अतिरिक्त शरीर के अतिरिक्त मन का कोई अन्य विषय भी होता, तो, चूँकि (भाग १, स ३६) प्रत्येक विद्यमान वस्तु का कुछ परिणाम होता है, इसलिए (भाग २, स ११) अनिवार्य रूप से हमारे मन में ऐसा प्रत्यय होना चाहिए, जो उस विषय परिणाम है। परन्तु (भाग २, स्वयं ५) इसका कोई प्रत्यय मिलता नहीं। इसलिए हमारे मन का विषय विद्यमान शरीर है, और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। १० सि०

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि मनुष्य मन और शरीर से बना और मनुष्य का शरीर उसी स्थिति में विद्यमान है, जिसमें हम इसे अनु करते हैं।

टिप्पणी—इन बातों से हम यही नहीं समझते कि मनुष्य का मन शरीर साथ संयुक्त है, अपितु यह भी कि मन और शरीर के संयोग का अभिप्राय क्या परन्तु तथ्य यह है कि कोई इसे पर्याप्त या स्पष्ट रूप में समझ नहीं सकेगा, वह पहले हमारे शरीर की प्रकृति की वास्तविक पर्याप्त जानकारी प्राप्त न कर क्योंकि जो कुछ अभी तक हमने बताया है, वह पूर्णतया सामान्य है, वह म पर उससे अधिक लागू नहीं होता, जितना अन्य विशेष वस्तुओं पर लागू होता जो सभी जानदार हैं, यद्यपि विविध पदों में। क्योंकि ईश्वर में सभी पदार्थों प्रत्यय अवश्यमेव स्वीकार करना होता है, जिस प्रत्यय का ईश्वर कारण जिस तरह मनुष्य के शरीर का प्रत्यय स्वीकृत होता है, और इस तरह जो

हम मानुष शरीर के प्रत्यय की बाबत कहते हैं, वही अवश्य किसी और वस्तु के प्रत्यय की बाबत कहना चाहिए। इस पर भी हम इससे इन्कार नहीं कर सकते कि विषयो की तरह प्रत्ययो में भी एक दूसरे से भेद होता है—एक दूसरे से उत्कृष्ट होता है और अधिक सत्ता रखता है, जिस तरह एक प्रत्यय का विषय दूसरे प्रत्यय के विषय से उत्कृष्ट होता है या उससे अधिक सत्ता रखता है। और इस तरह यह जानने के लिए कि मनुष्य का मन अन्य वस्तुओं से किन बातों में भिन्न है और किन में उत्कृष्ट है, हमें इसके विषय अर्थात् मनुष्य के शरीर की प्रकृति को जानना चाहिए। यह प्रकृति क्या है? मैं इसकी व्याख्या यहाँ करने में समर्थ नहीं, परन्तु जो कुछ मुझे दिखाना है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं। तो भी इतना मैं सामान्य रूप में कहूँगा कि जिस मात्रा में कोई पदार्थ अन्य पदार्थों की अपेक्षा एक साथ अनेक क्रियाएँ करने की, या एक साथ की गयी अनेक क्रियाओं को ग्रहण करने की अधिक क्षमता रखता है, उसी मात्रा में मन दूसरों की अपेक्षा एक साथ बहुत-सी वस्तुओं को जानने की अधिक क्षमता रखता है, और जिस मात्रा में किसी शरीर की क्रियाएँ स्वयं उसी पर निर्भर होती हैं, और अन्य पदार्थ जो इसकी क्रिया में योग देते हैं, सख्या में कम होते हैं, उसी मात्रा में मन में स्पष्ट ज्ञान की क्षमता अधिक होती है। और इस तरह हम जान सकते हैं कि किस तरह एक मन दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, और यह भी जान सकते हैं कि क्यों अपने शरीर की बाबत हमारा ज्ञान बहुत अस्पष्ट होता है, और अन्य कई बातें भी जिनका मैं इनसे अनुमान कहूँगा। इसलिए मैंने उचित समझा है कि इन वयानों को अधिक शुद्ध रूप में व्याख्यात और प्रमाणित करूँ, जिस प्रयोजन के लिए प्राकृत पदार्थों के विषय में प्रस्तावना रूप में मुझे कुछ प्रतिज्ञाएँ करना आवश्यक है।

स्वयं० १—सभी भौतिक पदार्थ या तो गति में हैं, या अचल हैं।

स्वयं० २—प्रत्येक भौतिक पदार्थ कभी मंद गति से और कभी तेज गति से क्रियाशील किया जाता है।

प्रमेयिका १—भौतिक पदार्थों में एक दूसरे से भेद चल या अचल होने में, तीव्रता या मंदता में होता है, द्रव्य के सम्बन्ध में नहीं होता।

उपपत्ति—मेरे विचार में इस साध्य का पहला भाग तो आप ही स्पष्ट है। परन्तु यह बात कि भौतिक पदार्थों में द्रव्य के लिहाज से कोई भेद नहीं होना चाहिए, पहले भाग के साध्य ५ से और साध्य ८ से भी स्पष्ट है, और इससे भी अधिक स्पष्ट उससे है जो भाग १, साध्य १५ की टिप्पणी में कहा गया था।

प्रमेयिका २—सभी भौतिक पदार्थ कुछ बातों में एक दूसरे से मिलते हैं।

उपपत्ति—सभी भौतिक पदार्थ इसमें समान हैं कि उनमें एक ही गुण का प्रत्यय निहित है (भाग २, परि० १), और फिर इसमें भी कि वे अधिक तीव्र या अधिक मंद गति से चलाये जा सकते हैं, या निरपेक्ष रूप में चल या अचल हो सकते हैं।

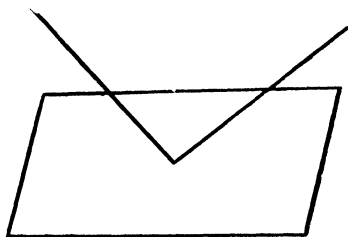
प्रमेयिका ३—जो भौतिक पदार्थ गति में है या अचल है, वह अपनी गति या अचलता के लिए अवश्य किसी अन्य पदार्थ से निर्णीत हुआ होगा, जो पदार्थ भी गति या अचलता के लिए किसी दूसरे पदार्थ से निर्णीत हुआ होगा, और यह किसी तीसरे पदार्थ से, और इसी तरह अनन्तता तक।

उपपत्ति—भौतिक पदार्थ (भाग २, परि० १) विशेष वस्तुएं हैं, जो (प्रमेयिका १) एक दूसरी से गति या अचलता में भिन्न हैं, और इसलिए (भाग १, साध्य २८) हर एक अवश्य ही गति या अचलता के लिए किसी अन्य विशेष वस्तु से निर्णीत हुई होगी, अर्थात् (भाग २, साध्य ६) किसी अन्य वस्तु से जो (स्वयं १) भी या गति में है या अचल है। परन्तु यह भी, उसी तर्क से, गति में या अचल नहीं हो सकती, सिवाय इसके कि यह गति या अचलता के लिए किसी अन्य वस्तु से निर्णीत हुई हो, और फिर यह भी (उसी हेतु के कारण) किसी और से, और इसी तरह अनन्तता तक। इ० सि०

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि जो वस्तु गति में है, वह गति में टिकी रहती है, जब तक कि कोई अन्य वस्तु इसे स्थिर न कर दे; और जो वस्तु अचल है, वह अचल रहती है, जब तक कि कोई अन्य वस्तु इसे गति में न कर दे। यह स्वतः सिद्ध है। क्योंकि यदि मैं किसी वस्तु अ को अचल फर्ज करूँ और अन्य गति करती हुई वस्तुओं की ओर ध्यान न दूँ तो मैं वस्तु अ की वास्तविकता यही कह सकता हूँ कि यह अचल है। और यदि पीछे वस्तु अ गति में हो जाय, तो स्पष्ट है कि इसकी गति का कारण यह नहीं हो सकता कि यह अचल थी, क्योंकि इसका परिणाम तो यही हो सकता था कि यह अचल रहे। दूसरी ओर यदि, वस्तु अ की गति में फर्ज किया जाय, तो जब तक हम केवल इसी की ओर ध्यान दें, हम यही कह सकते हैं कि यह गति में है। और यदि पीछे यह अचल हो जाय, तो स्पष्ट है कि यह अचलता उस गति का परिणाम नहीं हो सकती, जो पहले इसमें थी; क्योंकि इसका परिणाम तो यही हो सकता है कि अ गति में रहे। इसलिए यह परिवर्तन किसी ऐसे कारण से होता है जो अ में विद्यमान न था, अर्थात् एक बाहरी कारण से कि वस्तु अचलता के लिए निर्णीत हो गयी।

स्वयं० १—सभी आकार जिनमे कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु से प्रभावित होती है, प्रभावित वस्तु और प्रभावक वस्तु दोनों की प्रकृति का फल होते हैं, इसके फलस्वरूप एक ही वस्तु गति देनेवाली वस्तुओं की प्रकृतियों के भेद के कारण विविध रूपों में गति ग्रहण करती है, और दूसरी ओर अनेक वस्तुएँ एक ही वस्तु से अनेक रूपों में गतिशील की जा सकती हैं।

स्वयं० २—जब कोई हरकत करती हुई वस्तु किसी अन्य स्थिर वस्तु से टकराती है जो गति ग्रहण नहीं कर सकती, तो टकराने वाली वस्तु पीछे ठमकती है, ताकि गति को जारी रख सके, और स्थिर वस्तु के तल पर टकराने वाली वस्तु पीछे ठमकने में जो कोण बनाती है, वह उस कोण के बराबर होता है, जो ठमकने की रेखा ने उसी तल के साथ बनाया था।



अभी तक हम अति सरल वस्तुओं की बात कहते रहे हैं, जो एक दूसरी से केवल गति या अचलता में, तीव्रता या मन्दता में, भिन्न हैं, अब हम मिश्रित पदार्थों की ओर चलते हैं।

परिभाषा—जब समान या असमान परिमाण की कई वस्तुएँ इस प्रकार एक साथ धकेली जाती हैं कि वे एक दूसरी से युक्त रहती हैं, या वे एक ही या भिन्न वेग से इस तरह चलित की जाती हैं कि अपनी गतियों को एक विशेष अनुपात में एक दूसरी को प्रदान करती हैं, तो ये वस्तुएँ एक दूसरी के सम्बन्ध में संयुक्त वस्तुएँ कहलाती हैं, और हम कहते हैं कि वे सब मिलकर एक वस्तु या व्यक्ति बनाती हैं, जो अन्य वस्तुओं से इस वस्तुओं के संयोग द्वारा अन्तर्गुह्य या भिन्न होता है।

स्वयं० ३—जिस मात्रा में किसी व्यक्ति या मिश्रित वस्तु के भाग अधिक या

थोड़ी सतह पर सयुक्त होते हैं, उतनी ही कठिनाई या सुविधा उन्हें अपनी स्थिति बदलने पर विवश करने में आवश्यक होती है, और इसके परिणामस्वरूप उतनी ही अधिक कठिनाई से ऐसा होता है कि वे एक नयी आकृति को ग्रहण करें। और मैं उन वस्तुओं को जिनके भाग एक बड़ी सतह पर सयुक्त होते हैं, ठोस कहूँगा, और जिन वस्तुओं के भाग थोड़ी सतह पर सयुक्त होते हैं, वे कोमल या लचीली कहलाती हैं, और वे जिनके भाग एक दूसरी में गतिमान होते हैं, तरल कहलाती हैं।

प्रमेयिका ४—यदि किसी ऐसी वस्तु में से जो कई वस्तुओं की बनी है, कुछ भाग अलग कर दिये जायँ, और उसी समय उसी प्रकृति के उतने ही भाग उनका स्थान ले लें, तो वह वस्तु पहले की तरह अपनी प्रकृति को, अपनी आकृति में किसी परिवर्तन के बिना, कायम रखेगी।

उपपत्ति—अब वस्तुएँ (प्रमेयिका १) द्रव्य में एक दूसरी से भिन्न नहीं होती। परन्तु किसी वस्तु की आकृति का मूल वस्तुओं का संयोग है (पूर्व परि०), परन्तु यह संयोग (प्रतिज्ञा के अनुसार), वस्तुओं के परिवर्तन पर भी, कायम रहता है, इसलिए व्यक्ति द्रव्य और आकार दोनों के लिहाज से, पहले की तरह अपनी प्रकृति कायम रखेगा। **इ० सि०**

प्रमेयिका ५—यदि किसी व्यक्ति के भाग मात्रा में अधिक या कम हो जायँ, परन्तु ऐसे समानुपात में कि वे गति और अचलता के संबन्ध में अपने दरमियान पहले अनुपात कायम रखते हैं, तो व्यक्ति, आकृति के किसी परिवर्तन के बिना, पहले की तरह अपनी प्रकृति कायम रखेगा।

उपपत्ति—यह उपपत्ति वही है, जो पूर्व प्रमेयिका की है।

प्रमेयिका ६—यदि कुछ वस्तुएँ जो किसी व्यक्ति का भाग हैं, अपनी गति को जो वे एक दिशा में रखती थी, भिन्न दिशा में करने पर बाधित हो, परन्तु इस रीति में कि वे अपनी गति को जारी रख सकें और एक दूसरी के संबन्ध में गति और अचलता का पहला अनुपात बनाये रखें, तो व्यक्ति आकार में किसी परिवर्तन के बिना अपनी प्रकृति कायम रखेगा।

उपपत्ति—यह स्वतः सिद्ध है। क्योंकि जो कुछ इसकी परिभाषा में इसका आकार बताया गया था, ख्याल किया जाता है कि यह उसे कायम रखता है।

प्रमेयिका ७—इसके अतिरिक्त, व्यक्ति जो इस तरह मिश्रित हुआ है, अपनी प्रकृति को कायम रखता है, चाहे समग्र स्थिति में इसे गतिमान किया जाय या

ह अचल रहे, चाहे इस दिशा में या उस दिशा में गतिमान किया जाय, इस शर्त पर कि प्रत्येक भाग पहले की तरह अपनी गति को कायम रखे और प्रदान करे।

उपपत्ति—यह व्यक्ति की परिभाषा से स्पष्ट है, जो देखो पूर्व, प्रमेयिका ४।

टिप्पणी—इन उदाहरणों से हम इस तरह देखते हैं कि एक मिश्रित व्यक्ति केस तरह अनेक प्रकार से प्रभावित हो सकता है, और ऐसा होने पर भी अपनी प्रकृति को कायम रख सकता है। परन्तु यहाँ तक हमने व्यक्ति को ऐसी वस्तुओं से बना समझा है, जो एक दूसरी से गति या अचलता में, तीव्रता या मन्दता में, पृथक् है, अर्थात् सरलतम वस्तुओं से बना समझा है। यदि अब हम किसी अन्य व्यक्ति का चिन्तन करें, जो भिन्न प्रकृति के अनेक व्यक्तियों से बना है, तो हम देखेंगे कि यह अनेक अन्य रीतियों से प्रभावित हो सकता है, और इस पर भी अपनी प्रकृति को सुरक्षित रखता है। क्योंकि चूँकि इसका प्रत्येक भाग कई व्यक्तियों से बना है, इसलिए प्रत्येक भाग (पूर्व प्रमेयिका) इस योग्य होगा कि अपनी प्रकृति में किसी परिवर्तन के बिना, अब धीरे और फिर तेज गति ग्रहण करे, और इसके फलस्वरूप जल्दी या देर बाद दूसरों को अपनी गति दे सके, तब यदि हम व्यक्तियों की एक तीव्र श्रेणी का चिन्तन करें जो दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों से बनी है, तो हम देखेंगे कि इस श्रेणी का व्यक्ति, अपने आकार के किसी परिवर्तन के बिना, अनेक अन्य प्रकारों में प्रभावित हो सकता है। और यदि इस तरह हम अनन्तता तक आगे बढ़ते जायें, तो हम सहज ही यह चिन्तन कर सकते हैं कि समस्त सर्ग या ससार एक व्यक्ति है, जिसके भाग, अर्थात् सभी पदार्थ, अनन्त रूपों में एक दूसरे से भिन्न रूप धारण करते हैं, और इस पर भी समग्र की स्थिति में व्यक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि मेरा उद्देश्य शरीर की व्याख्या करना होता, तो मुझे अधिक व्योरे में इसे स्पष्ट करना और प्रमाणित करना चाहिए, परन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह मेरा अभिप्राय नहीं, जो कुछ मैंने कहा है, इसलिए कहा है कि इन बातों से मैं अपने ऋक्ष को अधिक सुगमता से सिद्ध कर सकता हूँ।

स्वीकृत पक्ष'

१ मनुष्य का शरीर (विविध प्रकृति के) अनेक व्यक्तियों का बना है, जिनमें हर एक भी बहुत भागों का मिश्रण है।

२ जिन व्यक्तियों से मनुष्य का शरीर बना है, उनमें कुछ तरल हैं, कुछ कोमल या लचकीले हैं, और कुछ ठोस।

३ वे व्यक्ति जिनसे मनुष्य का शरीर बना है, और इसके फलस्वरूप मनुष्य का शरीर आप भी बाहरी पदार्थों से बहुत प्रकार से प्रभावित होता है।

४. मनुष्य के शरीर को अपनी रक्षा के लिए बहुत-से अन्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, जिनसे मानो यह पुनर्जीवित होता है।

५ जब मनुष्य के शरीर का तरल भाग किसी बाहरी पदार्थ से इस तरह निर्णीत होता है कि यह बार-बार कोमल भाग से टकराता है, तो यह उसके तल को बदल देता है, और बाहरी उत्तेजक पदार्थ के चिह्नों-जैसे चिह्न उस पर अंकित कर देता है।

६. मनुष्य का शरीर बाह्य पदार्थों को अनेक प्रकार से संचल कर सकता है, और उन्हें अनेक प्रकार से क्रम में रख सकता है।

साध्य १४—मनुष्य के मन में बहुत-सी वस्तुओं को जानने की योग्यता है; और यह योग्यता अधिक होती है यदि इसका शरीर अनेक रूपों में स्थित हो सके।

उपपत्ति—अब मनुष्य का शरीर (स्वीकृत पक्ष ३ और ६) बाहरी वस्तुओं से अनेक प्रकारों में प्रभावित होता है, और बाहरी वस्तुओं को अनेक प्रकार से प्रभावित करने की स्थिति में होता है। परन्तु मनुष्य के मन के लिए (भाग ३, साध्य १२) अनिवार्य है कि जो कुछ मानुष शरीर में होता है, उसे जाने। इसलिए मनुष्य के मन में बहुत-सी वस्तुओं को जानने की योग्यता है, और यह योग्यता अधिक होती है, इत्यादि। इ० सि०

साध्य १५—जो प्रत्यय मनुष्य के मन की आकारात्मक सत्ता का उपादान है, वह सरल प्रत्यय नहीं, अपितु अनेक प्रत्ययों का मिश्रण है।

उपपत्ति—जो प्रत्यय मनुष्य के मन की आकारात्मक सत्ता का उपादान है, वह शरीर का प्रत्यय है (भाग २, साध्य १३), जो (स्वी० पक्ष १) अनेक व्यक्तियों का बना है, जिनमें प्रत्येक के कई भाग हैं। परन्तु शरीर में जो कोई व्यक्ति भी शरीर का अंग है, उसका प्रत्यय अनिवार्य रूप से ईश्वर में स्वीकृत है (भाग २, साध्य ८, उपप्रमेय)। इसलिए (भाग २, साध्य ७) मानुष शरीर का प्रत्यय अंगभूत भागों के अनेक प्रत्ययों का बना है। इ० सि०

साध्य १६—प्रत्येक आकार, जिसमें मनुष्य का शरीर बाहरी वस्तुओं से

प्रभावित होता है, अपने प्रत्यय में अनिवार्य रूप से मानुष शरीर की प्रकृति और इसके साथ बाहरी वस्तु की प्रकृति को निहित रखता है।

उपपत्ति—सभी आकार, जिनमें कोई वस्तु प्रभावित होती है, प्रभावित वस्तु को प्रकृति और इसके साथ प्रभावक वस्तु की प्रकृति का परिणाम होते हैं (प्रमेयिका ३, उपप्रमेय के पीछे, स्वयं १)। इसके फलस्वरूप, उनके प्रत्यय में (भाग १, स्वयं ० ४) अनिवार्य रूप से प्रत्येक वस्तु की प्रकृति निहित होनी चाहिए। इसलिए, प्रत्येक आकार, जिसमें मनुष्य का शरीर किसी बाहरी वस्तु से प्रभावित होता है, अपने प्रत्यय में अनिवार्य रूप से मानुष शरीर की प्रकृति और बाहरी वस्तु की प्रकृति को निहित रखता है। इ० सि०

उपप्रमेय १—इसका परिणाम प्रथम तो यह है कि मनुष्य का मन अपने शरीर की प्रकृति के साथ अनेक अन्य पदार्थों की प्रकृति की वास्तव भी जान सकता है।

उपप्रमेय २—इसका दूसरा परिणाम यह है कि जो प्रत्यय हम बाहरी पदार्थों के बनाते हैं, वे बाहरी पदार्थों की प्रकृति की अपेक्षा हमें अपने शरीर की स्थिति की वास्तव अधिक बताते हैं, जैसा मैंने अनेक उदाहरणों से पहले भाग के प्राक्कथन में दिखाया था।

साध्य १७—यदि मनुष्य का शरीर ऐसे आकार में प्रभावित हो, जिसमें किसी बाह्य वस्तु की प्रकृति निहित है, तो मनुष्य का मन उस बाह्य वस्तु को वस्तुतः विद्यमान समझता है, या अपने लिए उपस्थित समझता है, जब तक कि शरीर ऐसे रूपभेद से प्रभावित न हो जाय जो उस वस्तु के अस्तित्व या उपस्थिति को काट दे।

उपपत्ति—यह स्पष्ट है। क्योंकि जब तक मानुष शरीर इस तरह प्रभावित होता है, तब तक मनुष्य का मन शरीर के इस रूपभेद को ध्यान में रखता है (भाग २, साध्य १२), अर्थात् (पूर्वसाध्य) इसे वस्तुतः विद्यमान आकार का प्रत्यय या ज्ञान होता है, और यह प्रत्यय बाह्य वस्तु की प्रकृति के अस्तित्व या उपस्थित होने को काटता नहीं, अपितु इसे ठूसता है। इसलिए मन (पूर्व साध्य, उपप्रमेय १) बाह्य वस्तु को वस्तुतः विद्यमान या उपस्थित समझता है, जब तक कि यह प्रभावित नहीं होता, इत्यादि। इ० सि०

उपप्रमेय—जिन बाह्य वस्तुओं से मनुष्य का शरीर कभी प्रभावित हुआ था, उन्हें मन उपस्थित ख्याल कर सकता है, चाहे उनका अस्तित्व न हो या वे उपस्थित न हों।

उपपत्ति—जब बाहरी पदार्थ मानुष शरीर के तरल भागों को इस तरह निर्णीत करते हैं कि वे बारबार कोमल भागों पर टकराते हैं, तो वे कोमल भागों के तल को बदल देते हैं (स्वी० पक्ष ५) । इसका फल यह होता है (प्रमेयिका ३, उपप्रमेय के बाद स्वयं २) कि वे पहले की अपेक्षा वहाँ से एक भिन्न प्रकार से पलटते हैं, और चूँकि पीछे वे नये तलों को अपनी अप्राप्त गति से ठुकराते हैं, वे उसी प्रकार पलटते हैं, जैसे कि उन तलों की ओर बाह्य वस्तुओं से धकेले गये थे । और इसके फलस्वरूप जब तक उनका पलटना जारी रहता है, वे मानुष शरीर को उसी तरह प्रभावित करेंगे, और मनुष्य का मन (भाग २, साध्य १२) फिर बाह्य वस्तुओं का विचार करेगा, अर्थात् (भाग २, साध्य १७) मनुष्य का मन बाह्य वस्तु को प्रस्तुत समझेगा, और यह उस समय तक जारी रहेगा, जब तक कि मानुष शरीर के तरल भाग उन्हीं तलों को अपनी अप्राप्त गति में ठुकराते रहेंगे । इसलिए यद्यपि बाह्य वस्तुएँ जिनसे मानुष शरीर पहले प्रभावित हुआ था, अब विद्यमान नहीं, तो भी मन उन्हें उपस्थित ही समझता है, जितनी बार शरीर की यह क्रिया दुहराई जाती है । इ० सि०

टिप्पणी—इस तरह हम देखते हैं कि यह हो सकता है कि जो वस्तुएँ विद्यमान नहीं, हम उन्हें उपस्थित ख्याल करने हैं, और यह कई बार होता है । यह भी हो सकता है कि अन्य कारणों से ऐसी घटना घटे । परन्तु मेरे लिए पर्याप्त है कि यहाँ एक ऐसे कारण से अपने अभिप्राय का समाधान कर दूँ, मानो यथार्थ कारण में समाधान कर रहा हूँ । मेरा यह ख्याल भी नहीं कि मैं सत्य से बहुत दूर भटका हूँ, क्योंकि जो स्वीकृत पक्ष मैंने स्वीकार किये हैं, उनमें कोई ऐसी बात नहीं, जो अनुभव से पुष्ट न होती हो, जो यह दिखाने के बाद कि मानुष शरीर जैसा हम इसे अनुभव करते हैं, विद्यमान है, हमारे लिए सदेह का विषय नहीं रहेगा (भाग २, साध्य १३ के बाद का उपप्रमेय) ।

इसके अतिरिक्त (पूर्व उपप्रमेय, और उपप्रमेय २, साध्य १६, भाग २), हम दो प्रत्ययों के दरमियान स्पष्ट रीति से भेद समझते हैं—पीटर का प्रत्यय जो पीटर के मन का सार है, और पीटर का प्रत्यय जो किसी अन्य मनुष्य, जैसे पाल के मन में है । पहला प्रत्यय पीटर के शरीर का प्रत्यक्ष रूप में समाधान करता है, और यह उसी काल तक अस्तित्व का सकेत करता है जब तक कि पीटर विद्यमान है, परन्तु दूसरा प्रत्यय पाल की स्थिति को पीटर की प्रकृति से अधिक प्रकट करता है, और जब तक पाल की यह प्रवृत्ति रहती है, उसके मन में पीटर का ख्याल होगा,

जैसे वह उसके लिए उपस्थित है, चाहे उसका (पीटर का) देहान्त हो चुका हो। फिर, प्रचलित वाक्यरचना का प्रयोग करते हुए, हम मानुष शरीर के उन रूपभेदों की, जिनके प्रत्यय बाहरी वस्तुओं को हमें ऐसे दरसाते हैं, मानो वे उपस्थित ही थे, हम वस्तुओं के बिम्ब या चित्र कहेंगे, यद्यपि वे वस्तुओं के आकारों की याद न दिलाये; और जब मन वस्तुओं को इस तरह विचारता है, तो हम कहते हैं कि यह उनकी कल्पना करता है। और यहाँ भ्रान्ति को व्यक्त करने के लिए मैं इसे ध्यान में रखने की प्रेरणा करूँगा कि स्वयं मन की कल्पनाओं में कोई अशुद्धि नहीं होती या मन की भूल का स्रोत उसकी कल्पना नहीं होता, भूल इसलिए होती है कि इसमें वह प्रत्यय नहीं समझा जाता जो उन वस्तुओं के अस्तित्व को, जिन्हें यह विद्यमान ख्याल करता है, काट देता है। क्योंकि यदि मन जब अविद्यमान वस्तुओं को अपने लिए उपस्थित समझता है, साथ ही यह भी जानता है कि ये वस्तुएँ वस्तुतः विद्यमान नहीं थी, तो हम इस कल्पना-शक्ति को मन की प्रकृति में गुण का सूचक समझते हैं दोष का नहीं, विशेष कर यदि यह कल्पना-शक्ति इसकी अपनी प्रकृति पर ही आश्रित है, अर्थात् (भाग १, परि० ७), यदि मन की कल्पना-शक्ति स्वाधीन है।

साध्य १८—यदि मानुष शरीर कभी एक साथ दो या अधिक वस्तुओं से प्रभावित हुआ है, तो पीछे जब मन उनमें किसी एक का स्मरण करता है, तो यह तुरन्त अन्य वस्तुओं का भी स्मरण करेगा।

उपपत्ति—मन (पूर्व उपप्रमेय) किसी वस्तु की कल्पना इस कारण करता है कि मानुष शरीर किसी बाहरी पदार्थ के प्रभावों से उसी तरह प्रभावित और प्रवृत्त होता है, जिस तरह उस हालत में प्रभावित होता है, जब इसके कुछ भाग उस वस्तु से प्रभावित हो। परन्तु (प्रतिज्ञा के अनुसार) शरीर की स्थिति उस समय ऐसी थी कि मन एक साथ दो वस्तुओं की कल्पना करता था। इसलिए यह एक साथ दो वस्तुओं की कल्पना करेगा, और जब यह एक की कल्पना करेगा, तो तुरन्त दूसरी का भी स्मरण करेगा। इ० सि०

टिप्पणी—इससे हम स्पष्ट रूप से स्मरण-शक्ति की बाबत जानकारी प्राप्त करते हैं। क्योंकि स्मृति ऐसे प्रत्ययों का एक विशेष समागम या घटना-क्रम ही है, जिनमें मानुष शरीर के बाहर की वस्तुओं की प्रकृति निहित है, और यह समागम मानुष शरीर के रूपभेदों के क्रम और समागम के अनुसार ही घटता है। इसलिए मैं प्रथम तो कहता हूँ कि यह केवल ऐसे प्रत्ययों का समागम है जो मानुष शरीर के बाहर की वस्तुओं की प्रकृति के सूचक हैं, न कि उन प्रत्ययों का जो उन वस्तुओं की

प्रकृति का समाधान करते हैं। क्योंकि वास्तव में वे (भाग २, साध्य १६) मानुष शरीर के उन रूपभेदों के प्रत्यय हैं, जिनमें मानुष शरीर और बाह्य वस्तुओं दोनों की प्रकृति निहित है। दूसरी बात मैं यह कहता हूँ कि यह समागम मानुष शरीर के रूपभेदों के क्रम और समागम के अनुसार घटता है, ताकि यह प्रत्ययों के उस समागम से पहचाना जा सके, जो बुद्धि के क्रम के अनुसार घटता है, जिसके द्वारा मन वस्तुओं को उनके प्रथम कारणों के द्वारा जानता है, और जो सब मनुष्यों में एकरूप है। और इससे हम यह साफ समझ सकते हैं कि क्यों मन एक वस्तु के विचार से तुरंत दूसरी वस्तु के विचार तक जा पहुँचता है, जिसमें पहली वस्तु के साथ कोई समानता नहीं। उदाहरण के लिए, पोमम शब्द का ध्यान करते ही एक रोमवासी को तुरन्त फल का ध्यान आता था, हालाँकि इन दोनों में न उच्चारण की, न कोई अन्य समानता है। कारण इतना ही है कि उस मनुष्य का शरीर इन दोनों से अनेक बार प्रभावित हुआ, अर्थात् उसने एक साथ पोमम शब्द को सुना और फल को देखा, और इस तरह कोई मनुष्य, उस क्रम के अनुसार जिसमें अभ्यास ने वस्तुओं के चित्रों को उसके शरीर में व्यवस्थित किया है, एक वस्तु के विचार से दूसरी वस्तु के विचार की ओर चल देता है। उदाहरण के तौर पर, जब सैनिक घोड़े के पदचिह्नों को रेत पर देखता है, तो उसे घोड़े के ख्याल से घुड़सवार का ख्याल आता है, और इससे युद्ध का, इत्यादि। परन्तु एक ग्रामीण पुरुष घोड़े के ख्याल के बाद हल, खेती आदि का ख्याल करेगा, और इस तरह प्रत्येक मनुष्य उस क्रम के अनुसार, जिसमें वह वस्तुओं के बिम्बों को एक या दूसरे रूप में युक्त करता रहा है, एक वस्तु के विचार से दूसरी वस्तु के विचार की ओर चलता है।

साध्य १९—मनुष्य के मन को मानुष शरीर का कोई ज्ञान नहीं, न इसे उसके अस्तित्व का ज्ञान है, सिवाय उन रूपभेदों के प्रत्ययों के द्वारा, जिनसे शरीर प्रभावित होता है।

उपपत्ति—मनुष्य का मन मनुष्य शरीर का प्रत्यय या ज्ञान ही है (भाग २, साध्य १३), जो (भाग २, साध्य ९) ईश्वर में है, इस अंश में कि उसे एक व्यक्ति के एक अन्य प्रत्यय से प्रभावित समझा जाता है, या चूँकि (स्वीकृत पक्ष ४) मानुष शरीर को अनेक पदार्थों की आवश्यकता होती है, जिनमें यह मानुष्य निरन्तर पुनर्निर्मित होता रहता है, और प्रत्ययों का क्रम और सबन्ध (भाग २, साध्य ७) वही है, जो कारणों का क्रम और सबन्ध है, इसलिए यह प्रत्यय ईश्वर में होगा, इस अंश में कि उसे कई विशेष पदार्थों के प्रत्ययों से प्रभावित समझा जाता है।

इसलिए, ईश्वर को मानुष शरीर का प्रत्यय या ज्ञान है, इस अश में कि उसे अनेक अन्य प्रत्ययो से प्रभावित समझा जाता है, और इस अश में नहीं कि वह मानुष मन की प्रकृति का उपादान है, अर्थात् (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) मनुष्य के मन को मनुष्य के शरीर का कोई ज्ञान नहीं। परन्तु मानुष शरीर के रूप भेदों के प्रत्यय ईश्वर में है, इस अश में कि वे मानुष मन की प्रकृति का उपादान हैं, या मानुष मन उन रूपभेदों का प्रत्यक्ष करता है (भाग २, साध्य १२), और इसके फलस्वरूप (भाग २, साध्य १६) मानुष शरीर का प्रत्यक्ष करता है, और यह (भाग २, साध्य १७) एक वस्तुतः विद्यमान पदार्थ की स्थिति में। इसलिए, मनुष्य का मन इसी सीमा तक मानुष शरीर का प्रत्यक्ष करता है। इ० सि०

साध्य २०—मनुष्य के मन का प्रत्यय या ज्ञान ईश्वर में स्वीकृत है, और ईश्वर में परिणाम है, और उसकी ओर उसी तरह निर्दिष्ट होता है, जिस तरह कि मानुष शरीर का प्रत्यय या ज्ञान निर्दिष्ट होता है।

उपपत्ति—चिन्तन ईश्वर का एक गुण है (भाग २, साध्य १), और इसलिए (भाग २, साध्य ३) इसका प्रत्यय और इसके सभी रूपान्तरों के प्रत्यय, और इसके फलस्वरूप मानुष मन का प्रत्यय (भाग २, साध्य ११) अनिवार्य रूप से ईश्वर में स्वीकृत होने चाहिए। अब मनुष्य के मन का यह प्रत्यय या ज्ञान ईश्वर में इस अश में स्वीकृत नहीं होता कि वह अनन्त है, अपितु इस अश में कि वह एक अन्य विशेष वस्तु के एक अन्य प्रत्यय से प्रभावित होता है (भाग २, साध्य ९)। परन्तु प्रत्ययों का क्रम और सबन्ध वही है, जो कारणों का क्रम और सबन्ध है (भाग २, साध्य ७)। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य के मन का यह प्रत्यय या ज्ञान ईश्वर में है और उसी तरह उसकी ओर निर्दिष्ट होता है, जिस तरह कि मानुष शरीर का ज्ञान या प्रत्यय होता है। इ० सि०

साध्य २१—मन का यह प्रत्यय मन के साथ उसी तरह संयुक्त है, जिस तरह कि मन शरीर से संयुक्त है।

उपपत्ति—यह बात कि मन शरीर से संयुक्त है, हम इस तथ्य से दिखा चुके हैं कि शरीर मन का विषय है (भाग २, साध्य १२ और १३), और इसलिए उसी हेतु से मन का प्रत्यय उसके विषय के साथ संयुक्त है, अर्थात् स्वयं मन के साथ, उसी प्रकार जिस प्रकार मन शरीर से संयुक्त है। इ० सि०

टिप्पणी—यह साध्य बहुत अधिक सुगमता से उस टिप्पणी से समझ में आ सकता है, जो भाग २, साध्य ७ पर दी गयी है। क्योंकि वहाँ हमने बताया था कि

शरीर का प्रत्यय और स्वयं शरीर, अर्थात् (भाग २, साध्य १३) मन और शरीर दोनों एक ही व्यक्ति हैं, जिसका चिन्तन एक समय चिन्तन के गुण के तले किया जा सकता है, और दूसरे समय विस्तार के गुण के तले। इसके फलस्वरूप मन का प्रत्यय और मन दोनों एक ही वस्तु हैं, और एक ही गुण, अर्थात् चिन्तन के तले विच्छिन्न होते हैं। मैं फिर कहता हूँ कि मन का प्रत्यय और मन ईश्वर में स्थित एक अनिवार्यता से और चिन्तन की एक ही शक्ति से व्यक्त होते हैं। क्योंकि वास्तव में मन का प्रत्यय, अर्थात् एक प्रत्यय का प्रत्यय, एक प्रत्यय के आकार के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिस अर्थ में कि इसे, इसके विषय से असंबद्ध, चिन्तन का एक आकार समझा जाता है, इस तरह कोई मनुष्य कुछ जानता है, तो इस तथ्य से ही यह भी जानता है कि वह यह जानता है, और उसके साथ यह भी जानता है कि वह जानता है कि वह इसे जानता है, और इसी तरह अनन्तता तक। परन्तु इसकी बावजूद अधिक फिर कहेंगे।

साध्य २२—मनुष्य के मन को शरीर के रूपभेदों का ज्ञान ही नहीं होता परन्तु इन रूपभेदों के प्रत्ययों का ज्ञान भी होता है।

उपपत्ति—रूपभेदों के प्रत्ययों के प्रत्यय ईश्वर में उसी प्रकार उद्भूत होते हैं, और उसी प्रकार उसकी ओर निर्दिष्ट होते हैं, जिस प्रकार रूपभेदों के प्रत्यय होते हैं, जो उसी तरह मिश्र होता है, जिस तरह भाग २, साध्य २०। परन्तु शरीर रूपभेदों के प्रत्यय मनुष्य के मन में हैं (भाग २, साध्य १२), अर्थात् (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) ईश्वर में जिस अर्थ में कि वह मनुष्य के मन का सार है इसलिए, इन प्रत्ययों के प्रत्यय ईश्वर में हैं, उस अर्थ में कि उसे मनुष्य के मन का ज्ञान या प्रत्यय है, अर्थात् (भाग २, साध्य २१) स्वयं मनुष्य के मन में, जो इस तरह मानुष शरीर के रूपभेदों को ही नहीं जानता, अपितु उनके प्रत्ययों को भी। **इ० ति**

साध्य २३—मन को अपनी बावत कोई ज्ञान नहीं होता, सिवाय इस अर्थ में कि यह शरीर के रूपभेदों के प्रत्ययों को जानता है।

उपपत्ति—मन का प्रत्यय या ज्ञान (भाग २, साध्य २०) ईश्वर में परिणाम होता है, और उसकी ओर उसी तरह निर्दिष्ट होता है, जिस तरह शरीर का प्रत्यय शरीर को जानता है। परन्तु चूँकि (भाग २, साध्य १९) मनुष्य के मन को मानुष शरीर का ज्ञान नहीं होता, अर्थात् (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) चूँकि मानुष शरीर को ज्ञान ईश्वर की ओर निर्दिष्ट नहीं होता, इस स्थिति में कि वह मनुष्य के मन का साधक है, इसलिए मन का ज्ञान भी ईश्वर की ओर निर्दिष्ट नहीं होता, जिस अर्थ में कि

वह मनुष्य के मन का सार है, और इसलिए (भाग २, साध्य ११, वही उपप्रमेय) मनुष्य के मन को इस हृद तक अपना ज्ञान नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जिन रूपभेदों से शरीर प्रभावित होता है, उनके प्रत्ययो में स्वयं मानुष शरीर की प्रकृति निहित है (भाग २, साध्य १६), अर्थात् (भाग २, साध्य १३) वे मन की प्रकृति के अनुरूप हैं। इसके परिणामस्वरूप इन प्रत्ययों के ज्ञान में अनिवार्य रूप में मन का ज्ञान निहित है। परन्तु (पूर्व साध्य) इन प्रत्ययों का ज्ञान स्वयं मनुष्य के मन में है। इसलिए मनुष्य के मन को इसी हृद तक अपना ज्ञान है। इ० सि०

साध्य २४—मनुष्य के मन में मानुष शरीर के अगभूत भागों का पर्याप्त ज्ञान निहित नहीं।

उपपत्ति—किसी मानुष शरीर के भाग उस शरीर के सार से इसी अंश तक सबद्ध होते हैं कि वे एक दूसरे को अपनी गतियाँ एक विशेष अनुपात में प्रदान करते हैं (देखो प्रमेयिका ३, उपप्रमेय की पीछे आनेवाली परिभाषा), और इस अंश में नहीं कि उन्हें मानुष शरीर से असबद्ध व्यक्तियों की स्थिति में विचारा जाय। क्योंकि मानुष शरीर के भाग (स्वीकृत पक्ष १) अति अटल पदार्थ हैं, जिनके भाग (प्रमेयिका ४) शरीर की प्रकृति या आकार को हानि पहुँचाये बिना उससे अलग किये जा सकते हैं, और अपनी गतियों को (प्रमेयिका ३ के पीछे आनेवाला स्वयं २) अन्य वस्तुओं को भिन्न अनुपात में प्रदान कर सकते हैं। और इसलिए (भाग २, साध्य ३) प्रत्येक भाग का प्रत्यय या ज्ञान ईश्वर में होगा, इस अंश में कि (भाग २, साध्य ९) उसे जो विशेष वस्तु सर्ग की व्यवस्था में उस भाग से अग्रसर है, उससे प्रभावित समझा जाता है (भाग २, साध्य ७)। मानुष शरीर के विशेष अगभूत किसी भाग की वास्तव भी यह कहा जा सकता है, और इसलिए मानुष शरीर के प्रत्येक अगभूत भाग का ज्ञान ईश्वर में है, इस अंश में कि वह पदार्थों के अनेक प्रत्ययों से प्रभावित होता है, और इस अंश में नहीं कि उसमें केवल मानुष शरीर का प्रत्यय है, अर्थात् (भाग २, साध्य १३) वह प्रत्यय जो मन की प्रकृति है। और इसलिए (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय), मनुष्य के मन में मानुष शरीर के अगभूत भागों का पर्याप्त ज्ञान निहित नहीं। इ० सि०

साध्य २५—मानुष शरीर के प्रत्येक रूपभेद के प्रत्यय में बाहरी पदार्थ का पर्याप्त ज्ञान निहित नहीं।

उपपत्ति—हम दिखा चुके हैं (भाग २, साध्य १६) कि मानुष शरीर के रूपभेद के प्रत्यय में बाहरी पदार्थ की प्रकृति इस अंश में निहित है कि बाहरी पदार्थ

मानुष शरीर को एक विशेष रूप में निर्णीत करता है। परन्तु जिस हृद तक बाहरी पदार्थ ऐसा व्यक्ति है, जो मानुष शरीर से असंबद्ध है, इसका प्रत्यय या ज्ञान ईश्वर में है, जहाँ तक ईश्वर को इस दूसरे पदार्थ के प्रत्यय से प्रभावित समझा जाता है, जो (भाग २, साध्य ७) प्रकृति से बाहरी वस्तु से अग्रसर है। इसलिए बाहरी पदार्थ का पर्याप्त ज्ञान ईश्वर में इसलिए नहीं कि उसे मानुष शरीर के रूपभेद का ज्ञान है, अन्य शब्दों में, मानुष शरीर के रूपभेद का प्रत्यय बाहरी पदार्थ के पर्याप्त ज्ञान का सूचक नहीं। इ० सि०

साध्य २६—मनुष्य के मन को किसी बाहरी पदार्थ के वस्तुगत अस्तित्व का ज्ञान अपने शरीर के रूपभेदों के प्रत्ययों द्वारा ही होता है।

उपपत्ति—यदि कोई बाह्य पदार्थ मानुष शरीर को किसी प्रकार प्रभावित न करे, तो (भाग २, साध्य ७) मानुष शरीर का प्रत्यय, अर्थात् (भाग २, साध्य १३) मनुष्य का मन भी बाह्य पदार्थ के प्रत्यय से प्रभावित नहीं होता, या, अन्य शब्दों में, इसे उस बाह्य पदार्थ के अस्तित्व का किसी तरह ज्ञान नहीं होता। परन्तु जहाँ तक मानुष शरीर किसी तरह किसी बाह्य पदार्थ से प्रभावित होता है, उस हृद तक (भाग २, साध्य १६ और इसका उपप्रमेय) मन को बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है। इ० सि०

उपप्रमेय—जिस मात्रा में मनुष्य का मन किसी बाह्य पदार्थ की कल्पना करता है, उस मात्रा में उसे उस पदार्थ का पर्याप्त ज्ञान नहीं होता।

उपपत्ति—जब मनुष्य का मन बाहरी पदार्थों को अपने शरीर के रूपभेदों के प्रत्ययों के द्वारा विचारता है, तो हम कहते हैं कि यह कल्पना करता है (भाग २, साध्य १७ पर टिप्पणी), मनुष्य के मन के लिए बाह्य पदार्थों के वास्तविक अस्तित्व की कल्पना (पूर्व साध्य) इसमें भिन्न प्रकार से नहीं हो सकती। और इसलिए (भाग २, साध्य २५) जहाँ तक मन बाह्य पदार्थों की कल्पना करता है, इसे उनका पर्याप्त ज्ञान नहीं होता। इ० सि०

साध्य २७—मानुष शरीर के प्रत्येक रूपभेद के प्रत्यय में स्वयं मानुष शरीर का पर्याप्त ज्ञान निहित नहीं।

उपपत्ति—मानुष शरीर के प्रत्येक रूपभेद के किसी प्रत्यय में मानुष शरीर की प्रकृति उस हृद तक निहित है, जिस हृद तक कि स्वयं मानुष शरीर को एक विशेष प्रकार से प्रभावित समझा जाता है (भाग २, साध्य १६)। परन्तु चूँकि मानुष शरीर ऐसा व्यक्ति है, जो अनेक अन्य प्रकारों में भी प्रभावित हो सकता है, रूपभेद का प्रत्यय, इत्यादि (देखो भाग २, साध्य २५, उपपत्ति)।

साध्य २८—मानुष शरीर के रूपभेदों के प्रत्यय, जिस अंश में वे केवल मनुष्य के मन की ओर निर्दिष्ट होते हैं, विमल और स्पष्ट नहीं, अपितु अस्पष्ट होते हैं।

उपपत्ति—मानुष शरीर के रूपभेदों के प्रत्ययों में बाहरी पदार्थों की प्रकृति और स्वयं मानुष शरीर की प्रकृति दोनों निहित हैं (भाग २, साध्य १६); और उनमें मानुष शरीर की प्रकृति ही निहित नहीं होती, अपितु इसके भागों की भी। क्योंकि रूपभेद ऐसे आकार हैं (स्वीकृत पक्ष ३) जिनमें शरीर के भाग, और इसके परिणामस्वरूप सारा शरीर, प्रभावित होता है। परन्तु (भाग २, साध्य २४ और २५) बाह्य पदार्थों का पर्याप्त ज्ञान ईश्वर में इस लिए नहीं कि उसे मनुष्य के मन से प्रभावित समझा जाता है, अपितु इस अंश में कि उसे अन्य प्रत्ययों से प्रभावित समझा जाता है। जहाँ तक रूपभेदों के ये प्रत्यय केवल मनुष्य के मन की ओर संकेत करते हैं, वे उन निष्कर्षों के समान हैं जिनके कोई आधार वाक्य नहीं, अर्थात् (जैसा स्वतः सिद्ध है), अस्पष्ट प्रत्यय हैं। **इ० सि०**

टिप्पणी—जो प्रत्यय मनुष्य के मन का उपादान हैं, वह अपने आप में विचारा हुआ इसी प्रकार से विमल और स्पष्ट प्रत्यय दर्शाया जाता है; इसी तरह मनुष्य के मन का प्रत्यय, और मानुष शरीर के रूपभेदों के प्रत्ययों के प्रत्यय, जहाँ तक कि वे केवल मन की ओर संकेत करते हैं, जो प्रत्येक सहज ही देख सकता है।

साध्य २९—मनुष्य के मन के प्रत्येक रूपभेद के प्रत्यय के प्रत्यय में मनुष्य के मन का पर्याप्त ज्ञान निहित नहीं।

उपपत्ति—मानुष शरीर के किसी रूपभेद के प्रत्यय में (भाग २, साध्य २७) स्वयं शरीर का पर्याप्त ज्ञान निहित नहीं, या, अन्य शब्दों में, यह प्रत्यय इसकी प्रकृति को पर्याप्त रूप में प्रकाशित नहीं करता, अर्थात् (भाग २, साध्य १३), यह पर्याप्त मात्रा में मन की प्रकृति के अनुरूप नहीं। और इसलिए (भाग १, स्वयं ६) इस प्रत्यय का प्रत्यय मनुष्य के मन की प्रकृति को पर्याप्त रूप में प्रकाशित नहीं करता, या इसमें मन का पर्याप्त ज्ञान निहित नहीं। **इ० सि०**

उपप्रेम—इसका परिणाम यह है कि मनुष्य के मन को, जब कभी यह किसी वस्तु को कुदरत के साधारण क्रम में देखता है, अपना पर्याप्त ज्ञान नहीं होता, न अपने शरीर का, न बाहर की वस्तुओं का; उन सब की बाबत उसका ज्ञान अस्पष्ट और भ्रजित होता है, क्योंकि अपनी बाबत मन का ज्ञान उसी सीमा तक होता है, जहाँ तक यह शरीर के रूपभेदों के प्रत्ययों को जानता है, (भाग २, साध्य २३)।

परन्तु अपने शरीर का ज्ञान इसे रूपभेदों के प्रत्ययो द्वारा ही होता है, जिनके द्वारा ही इसे बाहरी वस्तुओं का ज्ञान भी होता है। और इसलिए जिस हृद तक इसे ये प्रत्यय होते हैं, इसे न अपना पर्याप्त ज्ञान होता है (भाग १, साध्य २९), न अपने शरीर का (भाग २, साध्य २७), न बाहर के पदार्थों का (भाग २, साध्य २५), अपितु (भाग २, साध्य २८ और टिप्पणी) अस्पष्ट और भ्रजित ज्ञान होता है।
इ० सि०

टिप्पणी—मैं स्पष्ट शब्दों में कहता हूँ कि मन जब किसी वस्तु को सर्ग के साधारण क्रम में देखता है, अर्थात् जब बाहर से, बाहरी स्थिति से, निर्णीत होकर इस या उस वस्तु का विचार करता है, और अन्दर से निर्णीत नहीं होता, अर्थात् अनेक वस्तुओं को एक साथ विचार-विषय नहीं बनाता, ताकि उनकी समानताओं, असमानताओं और विरोधों को समझ सके, तब तक अपनी बाबत, अपने शरीर की बाबत और बाहरी वस्तुओं की बाबत इसका ज्ञान पर्याप्त नहीं होता, अपितु अस्पष्ट होता है। क्योंकि जब यह इस या किसी अन्य प्रकार से अन्दर से प्रवृत्त होता है, तब यह वस्तुओं को विमल और स्पष्ट रूप में देखता है, जैसा मैं आगे चलकर दिखाऊंगा।

साध्य ३०—अपने शरीर की अवधि की बाबत हम बहुत अपर्याप्त ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं।

उपपत्ति—हमारे शरीर की अवधि इसके सार पर आधारित नहीं (भाग २, स्वयं १), न ही ईश्वर की निरपेक्ष प्रकृति पर आधारित है (भाग १, साध्य २१), अपितु (भाग १, साध्य २८) यह अस्तित्व और क्रिया के लिए विशेष कारणों से निर्णीत होती है, जो कारण अपनी बारी अस्तित्व और क्रिया के लिए एक निश्चित अनुपात में अन्य कारणों से निर्णीत होते हैं, और ये अन्य कारणों से, और इसी तरह अनन्तता तक। इसलिए हमारे शरीर की अवधि सर्ग के साधारण क्रम पर और पदार्थों की स्थिति पर निर्भर है। परन्तु ईश्वर में यह पर्याप्त ज्ञान है कि क्यों वस्तुएँ एक विशेष स्थिति में हैं, यह ज्ञान उसे इसलिए है कि उसे सभी पदार्थों का ज्ञान है, मानुष शरीर का ही ज्ञाता होने की स्थिति में नहीं (भाग २, साध्य ९, उपप्रमेय)। इसलिए यदि ईश्वर का चिन्तन इसी स्थिति में किया जाय कि वह मानुष मन की प्रकृति का ही उपादान है, तो उसमें हमारे शरीर की अवधि का ज्ञान बहुत अपर्याप्त है, अर्थात् (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) हमारे मन में यह ज्ञान बहुत अपर्याप्त है। इ० सि०

साध्य ३१—हम अपने बाहर के विशेष पदार्थों का बहुत अपर्याप्त ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं।

उपपत्ति—प्रत्येक विशेष पदार्थ, जैसे मानुष शरीर, अस्तित्व या क्रिया के लिए अवश्यमेव किसी अन्य विशेष पदार्थ से एक निश्चित रूप में निर्णीत होता है; और फिर यह कारण किसी अन्य कारण से, और इसी तरह अनन्तता तक (भाग १, साध्य २८)। परन्तु जैसे हम पूर्व साध्य में दिखा चुके हैं कि विशेष पदार्थों के इस सामान्य गुण के कारण, हमें अपने शरीर की अवधि का अति अपर्याप्त ज्ञान ही हो सकता है, वैसे ही विशेष पदार्थों की अवधि की बाबत भी यही अनुमान करना चाहिए, अर्थात् उनकी बाबत भी हमारा ज्ञान अति अपर्याप्त होता है। इ० सि०

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि सारे विशेष पदार्थ आकस्मिक और जराग्रस्त हैं। क्योंकि हमें उनकी अवधि का कोई पर्याप्त ज्ञान नहीं हो सकता (पूर्व साध्य), और पदार्थों के आकस्मिक एवं नाशवान् होने को इसी अर्थ में लेना चाहिएँ (देखो भाग १, साध्य ३३, टिप्पणी १)। क्योंकि (भाग १, साध्य २९) इसके अतिरिक्त कुछ भी आकस्मिक स्वीकृत नहीं होता।

साध्य ३२—सभी प्रत्यय, जहाँ तक वे ईश्वर की ओर निर्देश करते हैं, सत्य हैं।

उपपत्ति—अब सभी प्रत्यय जो ईश्वर में हैं, अवश्य पूर्ण रूप में अपने विषयों के अनुरूप हैं (भाग २, साध्य ७, उपप्रमेय); और इसलिए (भाग १, स्वयं ६) वे सत्य हैं। इ० सि०

साध्य ३३—प्रत्ययों में कोई ऐसा भावात्मक अंश नहीं, जिसके कारण उन्हें मिथ्या कहा जा सके।

उपपत्ति—यदि तुम इसे अस्वीकार करते हो, तो संभव हो तो चिन्तन के किसी ऐसे आकार का विचार करो, जो भूल या असत्यता का आकार होगा। चिन्तन का यह आकार ईश्वर में नहीं हो सकता (पूर्व साध्य), और ईश्वर के बाहर न इसका अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन (भाग १, साध्य १५)। इसलिए प्रत्ययों में कोई ऐसा भावात्मक अंश नहीं, जिसके कारण उन्हें असत्य कहा जा सके। इ० सि०

साध्य ३४—हमारा हर एक प्रत्यय जो निरपेक्ष है, अर्थात् पर्याप्त और पूर्ण है, सत्य होता है।

उपपत्ति—जब हम कहते हैं कि कोई पर्याप्त और पूर्ण प्रत्यय हममें स्वीकृत

है, तो हम इतना ही कहते हैं कि (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) ईश्वर में एक पर्याप्त और पूर्ण प्रत्यय स्वीकृत है, क्योंकि ईश्वर हमारे मन का सार है, और इसलिए (भाग २, साध्य ३२) हम यही कहते हैं कि ऐसा प्रत्यय सत्य है।

इ० सि०

साध्य ३५—मिथ्यात्व या अविद्या ज्ञान के हरण होने में है, जो अपर्याप्त या भजित और अस्पष्ट प्रत्ययो में निहित है।

उपपत्ति—प्रत्ययों में कोई भावात्मक अंश ऐसा नहीं, जो उनके मिथ्यात्व के आकार को बना सके (भाग २, साध्य ३३)। परन्तु मिथ्यात्व हरण होने में ही नहीं, (क्योंकि शरीर नहीं, अपितु मन गलती करता या भ्रान्त होता है), न ही केवल ज्ञान के अभाव में, क्योंकि अज्ञान और भ्रान्ति दो भिन्न वस्तुएँ हैं। इसके फल-स्वरूप, मिथ्यात्व ज्ञान का वह हरण है, जो अपर्याप्त ज्ञान या अपर्याप्त या अस्पष्ट प्रत्ययो में निहित है। **इ० सि०**

टिप्पणी—इस भाग के साध्य १७ की टिप्पणी में मैंने दर्शाया था कि अशुद्धि या गलती क्यों ज्ञान के हरण होने में है। इस पर भी, अधिक स्पष्टीकरण के लिए मैं एक उदाहरण दूँगा। दृष्टान्त के लिए, मनुष्य अपने आप को स्वाधीन समझने में गलती करते हैं, और इस ख्याल का तत्त्व इतना ही है कि उन्हें अपनी क्रियाओं का ज्ञान तो होता है, परन्तु उन कारणों का ज्ञान नहीं होता, जिनका ये फल होती है। इसलिए उनका स्वाधीनता का प्रत्यय यह है कि उन्हें अपने कर्मों के कारणों का ज्ञान न हो। क्योंकि उनका यह कथन कि मनुष्य के कर्म सकल्प पर निर्भर हैं, ऐसे शब्द हैं जिनमें कोई अर्थ नहीं। क्योंकि उनमें किसी को पता नहीं कि सकल्प क्या है, और यह किस तरह शरीर को गतिशील करता है, जो लोग इसका गर्व करते हैं, और आत्मा के निवासस्थानों की कल्पना करते हैं, वे हँसी या घृणा को उकसाते हैं। इस तरह जब हम सूर्य को देखते हैं, हम कल्पना करते हैं कि यह हमसे कोई दो सौ फुट दूर है, यह भूल निरी उम कल्पना में नहीं, भूल यह थी कि जब हमने ऐसी कल्पना की, तो हमें इस कल्पना के कारण और ठीक अन्तर का ज्ञान न था। क्योंकि यद्यपि हमें पीछे यह ज्ञान हो सकता है कि सूर्य हमसे पृथ्वी के व्यास से ६०० गुना लगभग दूर है, इस पर भी हम इसे निकट ही कल्पना करते हैं। हम सूर्य को इसलिए निकट नहीं समझते कि उसके वास्तविक अन्तर का हमें ज्ञान नहीं, अपितु इसलिए कि हमारे शरीर के रूपभेद में सूर्य का सार निहित है, जिस हद तक कि शरीर इससे प्रभावित होता है।

साध्य ३६—अपर्याप्त और अस्पष्ट प्रत्यय उसी अनिवार्यता से उद्भूत होते हैं जिससे पर्याप्त या विमल और स्पष्ट प्रत्यय होते हैं।

उपपत्ति—सभी प्रत्यय ईश्वर में हैं (भाग १, साध्य १५), और जिस हृद तक वे ईश्वर की ओर सकेत करते हैं, वे सत्य हैं (भाग २, साध्य ३२) और (भाग २, साध्य ७, उपप्रमेय) पर्याप्त हैं, इसलिए उनमें कोई अपर्याप्त या अस्पष्ट नहीं, सिवाय इस अश के कि वे किसी के व्यक्तिगत मन की ओर सकेत करते हैं (इस विषय पर देखो भाग २, साध्य २४ और २५)। और इसलिए सभी प्रत्यय, पर्याप्त और अपर्याप्त, एक ही अनिवार्यता के परिणाम हैं (भाग २, साध्य ६, उपप्रमेय)। इ० सि०

साध्य ३७—जो कुछ सबमें सामान्य है (देखो प्रमेयिका २) और जो कुछ एक समान अश और समग्र में है, वह किसी विशेष वस्तु का सार नहीं।

उपपत्ति—यदि तुम इसे अस्वीकार करते हो, तो कल्पना करो कि विशेष वस्तु का सार यही है, अर्थात् ब का सार। तब (भाग २, परि० २) ब के बिना न इसका चिन्तन हो सकता है, न अस्तित्व हो सकता है। और यह प्रतिज्ञा के प्रतिकूल है। इसलिए यह ब के सार से सबद्ध नहीं, न यह किसी अन्य विशेष वस्तु का सार हो सकता है। इ० सि०

साध्य ३८—जो वस्तुएँ सबके लिए साक्षी हैं, और जो एक समान अश और समग्र में विद्यमान हैं, केवल वे ही पर्याप्त समझी जा सकती हैं।

उपपत्ति—कल्पना करो कि ऐसी वस्तु है, जो सब पदार्थों में साक्षी है और जो एक समान किसी पदार्थ के एक भाग में और समग्र में विद्यमान है। मैं कहता हूँ कि अ पर्याप्त समझी जा सकती है। क्योंकि इसका प्रत्यय (भाग २, साध्य ७, उपप्रमेय) अनिवार्य रूप से ईश्वर में पर्याप्त होगा, इस स्थिति में कि ईश्वर में मानुष शरीर का प्रत्यय है, और इस स्थिति में भी कि शरीर के रूपभेदों के प्रत्यय उसमें हैं, जिन रूपभेदों में (भाग २, साध्य १६, २५ और २७) अशत मानुष शरीर की प्रकृति और बाह्य पदार्थों की प्रकृति दोनों निहित हैं, अर्थात् यह प्रत्यय अनिवार्य रूप में ईश्वर में पर्याप्त होगा, इस हृद तक कि ईश्वर मनुष्य के मन का उपादान है, या इस हृद तक कि जो प्रत्यय मनुष्य के मन में हैं, वे उसमें विद्यमान हैं। इसलिए, मन (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) अनिवार्य रूप में अ को पर्याप्त देखता है, और यह दोनों स्थितियों में कि यह अपने आप को देखता है, और अपने शरीर को या किसी बाह्य शरीर को देखता है, अ का चिन्तन किसी अन्य प्रकार से हो ही नहीं सकता। इ० सि०

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि कुछ प्रत्यय सब मनुष्यों में साझे स्वीकृत होते हैं। क्योंकि (प्रमेयिका २) सभी पदार्थों कुछ बातों में एक समान हैं, जो (पूर्व साध्य) पर्याप्त रूप में या विमल और स्पष्ट रूप में, सबको ज्ञात होनी चाहिए।

साध्य ३९—जो कुछ मानुष शरीर और कुछ बाह्य पदार्थों में, जिनमें मानुष शरीर प्रभावित हुआ करता है, साझा है और उनका विशेषण है, और जो एक समान इनके भाग और समग्र में विद्यमान है, उसका पर्याप्त प्रत्यय मन में है।

उपपत्ति—कल्पना करो कि अ-मानुष शरीर और कुछ बाह्य पदार्थों में साझा है और उनका विशेषण है, और एक-जैसा मानुष शरीर में और बाहरी पदार्थों में है, और एक-जैसा प्रत्येक बाहरी पदार्थ के भाग और समग्र में है। अ का पर्याप्त प्रत्यय ईश्वर में होगा (भाग २, साध्य ७, उपप्रमेय), इसलिए कि उसमें मानुष शरीर का प्रत्यय है, और इसलिए भी कि उसमें उन बाहरी पदार्थों के प्रत्यय हैं। अब कल्पना करो कि मानुष शरीर एक बाहरी पदार्थ से ऐसे विशेषण के द्वारा जो दोनों में साझा है, प्रभावित होता है, अर्थात् अ से। इस रूपभेद के प्रत्यय में विशेषण अ निहित है (भाग २, साध्य १६), और इसलिए (भाग २, साध्य ७, उपप्रमेय) इस रूपभेद का प्रत्यय, इस अश में कि इसमें विशेषण अ निहित है, ईश्वर में पर्याप्त होगा, जहाँ तक कि यह मानुष शरीर के प्रत्यय से प्रभावित होता है, अर्थात् (भाग २, साध्य १३) इस अश में कि वह मनुष्य के मन की प्रकृति का उपादान है (भाग २, साध्य १३)। और इसलिए (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) यह प्रत्यय भी मनुष्य के मन में पर्याप्त है। **इ० सि०**

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि जितनी अधिक किसी मन के शरीर में अन्य पदार्थों के साथ साझी वस्तुएँ होती हैं, उतनी ही अधिक उस मन में बहुत पदार्थों को पर्याप्त रूप में जानने की योग्यता होती है।

साध्य ४०—जो प्रत्यय ऐसे प्रत्ययों से, जो मन में पर्याप्त हैं, मन में उद्भूत होते हैं, वे भी पर्याप्त होते हैं।

उपपत्ति—यह स्पष्ट है। क्योंकि जब हम कहते हैं कि उन प्रत्ययों से जो मन में पर्याप्त हैं, अन्य प्रत्यय उद्भूत होते हैं, तो हम इतना ही कहते हैं कि (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) स्वयं दैवी बुद्धि में एक प्रत्यय स्वीकृत है, जिसका कारण ईश्वर है, इस स्थिति में नहीं कि वह अनन्त है, न इस स्थिति में कि वह अनेक विशेष वस्तुओं के प्रत्ययों से प्रभावित होता है, अपितु इस स्थिति में कि वह मानुष मन के सार का उपादान है।

टिप्पणी १—इन साध्यो मे उन प्रत्ययो के कारण की व्याख्या हुई है, जिन्हे साझे प्रत्यय कहा जाता है, और जो हमारी तर्कणा के मौलिक नियम है। परन्तु कुछ स्वयतथ्यो या प्रत्ययो के अन्य कारण दिये जाते हैं, जिन्हे हमारी विधि के अनुसार व्याख्यात करना असंगत होगा। क्योंकि इनसे एक परिणाम यह निकाला जायगा कि कुछ प्रत्यय अन्य प्रत्ययो से अधिक लाभकारी होंगे, जो वास्तव मे किसी काम के नहीं होंगे, और फिर, कुछ सबमे साझे होंगे, कुछ केवल उन लोगो के लिए विमल और स्पष्ट होंगे, जो भ्रमग्रस्त नहीं, और कुछ अनुचित नीव पर होंगे। फिर यह भी अनुमान करना होगा कि अप्रधान प्रत्यय कहाँ से आते हैं, और इसके परिणामस्वरूप वे स्वयतथ्य कहाँ से आते हैं, जिन पर ये आधारित हैं, उनके स्रोत की बाबत विचार करना होगा, और कुछ अन्य बातें जिन पर मैंने कुछ समय के लिए मनन किया था। परन्तु चूँकि मैंने निश्चय किया है कि इस पर एक और पुस्तक लिखूँ, और चूँकि मुझे भय है कि अति कथन से पाठक उकता जायगा, मैं यहाँ इसे छोड़ता हूँ। इस पर भी, इस ख्याल से कि कोई आवश्यक बात रह न जाय, मैं यहाँ संक्षेप से उन कारणो का वर्णन करूँगा जिनसे वे पद जो अनुभव से परे हैं, उत्पन्न हुए हैं, जैसे सत्ता, पदार्थ, व्यक्ति। इन पदो की उत्पत्ति का कारण यह है कि ससीम होने के कारण मानुष शरीर स्पष्ट रूप मे सीमित सख्या मे ही बिम्ब या चित्र बना सकता है (मैंने भाग २, साध्य १७ की टिप्पणी मे बताया है कि बिम्ब क्या है), और यदि इसमे अधिक सख्या मे बिम्ब बनाये जायँ, तो वे अस्पष्ट होने लगते हैं, और यदि यह सख्या मानुष शरीर की बिम्ब बनाने की शक्ति से बहुत दूर जा पहुँचे, तो सभी बिम्ब एक दूसरे से पूर्णतया अभिन्न हो जायँगे। चूँकि स्थिति ऐसी है, यह भाग २, साध्य १७ के उपप्रमेय, और साध्य १८ से स्पष्ट है कि मन स्पष्ट रूप मे उतनी वस्तुओं की ही कल्पना कर सकता है, जितने प्रतिबिम्ब उसके शरीर मे एक साथ बन सकते हैं। परन्तु जब प्रतिबिम्ब शरीर मे पूर्णतया अस्पष्ट हो जाते हैं, तो मन भी सभी भागो मे शरीर की अस्पष्ट कल्पना करता है, उनमे भेद नहीं करता, और यो कहे कि सबको एक गुण के तले ग्रहण करता है, अर्थात् सत्ता, पदार्थ इत्यादि के गुण के तले। इसका अनुमान इस बात से भी हो सकता है कि बिम्ब सदा एक-जैसे स्पष्ट नहीं होते, और ऐसे ही अन्य कारणो से, जिनकी व्याख्या करना यहाँ आवश्यक नहीं; हमारे प्रयोजन की सिद्धि के लिए केवल एक की बाबत विचार करना पर्याप्त है। क्योंकि सबका तात्पर्य यही है कि ये पद अति अस्पष्ट प्रत्ययो के वाचक हैं। और ऐसे ही कारण से वे प्रत्यय उद्भूत हुए हैं, जिन्हे सामान्य कहा

जाता है, जैसे मनुष्य, कुत्ता, घोड़ा इत्यादि। मेरा आशय यह है कि मानुष शरीर मे इतने बिम्ब उदय होते हैं, उदाहरण के लिए मनुष्यों के इतने बिम्ब एक साथ बनते हैं कि वे कल्पना की शक्ति को उल्लंघन जाते हैं, पूर्णतया तो नहीं, परन्तु इतनी सीमा तक कि मन व्यक्तियों के अल्प भेदों (रंग, परिमाण आदि) की कल्पना नहीं कर सकता, न उनकी निश्चित सख्या की। केवल उसी की स्पष्ट कल्पना कर सकता है जिसमें वे सब समान हैं, क्योंकि शरीर उन सब से प्रभावित होता है; क्योंकि उसी में शरीर प्रत्येक व्यक्ति से अधिकाधिक प्रभावित हुआ था, और इसे मन 'मनुष्य' पद से प्रकट करता है, और असख्य व्यक्तियों की बाबत कहता है। क्योंकि, जैसा हम कह चुके हैं, यह निश्चित सख्या में व्यक्तियों की कल्पना कर नहीं सकता। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये प्रत्यय सब लोगों की हालत में एक प्रकार में निर्मित नहीं होते, वे प्रत्येक की हालत में भिन्न होते हैं; यह भेद इस पर निर्भर होता है कि कौन-से पदार्थ से शरीर अति बहुधा प्रभावित हुआ था, और किसे मन अति सुगमता से विचारता और स्मरण करता है। उदाहरण के लिए, जो लोग बहुधा मनुष्यों की प्रशंसा उनके कद के लिए करते रहे हैं, 'मनुष्य' शब्द को सुनकर एक खड़े कद के पशु का चिन्तन करते हैं, जो लोग मनुष्यों को अन्य दृष्टि से देखते हैं, वे मनुष्यों का भिन्न सामान्य चित्र बनायेंगे, जैसे हँसनेवाला पशु, पर-हीन दो पैर वाला प्राणी, बुद्धिमत् प्राणी। और अन्य वस्तुओं के सामान्य चित्र भी प्रत्येक अपने शरीर की स्थिति के अनुसार बनायेगा। इसके परिणामस्वरूप इसमें आश्चर्य नहीं कि दार्शनिकों में, जो कुदरत की वस्तुओं का समाधान वस्तुओं के बिम्बों से करना चाहते थे, इतने वादविवाद होते रहे हैं।

टिप्पणी २—जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे अब यह स्पष्ट है कि हम अनेक पदार्थों को देखते हैं और सामान्य प्रत्यय बनाते हैं, यह दो प्रकार से होता है—प्रथम विशेष वस्तुओं से, जो हमारी बुद्धि में भजित, अस्पष्ट और अनियमित रूप में प्रदर्शित होती हैं (भाग २, साध्य २९, उपप्रमेय), और इसलिए हम ऐसे बोधों को अनिश्चित और आकस्मिक अनुभव के आधार पर ज्ञान का पद देते हैं, दूसरे चिह्नों से, जैसे हम कुछ पदार्थों को स्मरण करते हैं क्योंकि हमने कुछ शब्दों को पढ़ा या सुना है, और हम कुछ प्रत्यय बनाते हैं, जो उन प्रत्ययों के समान होते हैं, जिनके द्वारा हम पदार्थों की कल्पना करते हैं (भाग २, साध्य १८, टिप्पणी)। पदार्थों को इन दोनों रूपों में देखने को मैं आगे चलकर पहले प्रकार का ज्ञान, सम्मति या कल्पना का नाम दूँगा। तीसरे प्रकार में, हम पदार्थों के गुणों के साझे विचार और

पर्याप्त प्रत्यय रखते हैं (भाग २, साध्य ३८ का उपप्रमेय, साध्य ३९ और इसका उपप्रमेय, और साध्य ४०)। और मैं इसे बुद्धि और दूसरे प्रकार का ज्ञान कहूँगा। इन दो प्रकार के ज्ञानों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का ज्ञान भी है, जैसा मैं आगामी विवरण में बताऊँगा, जिसे हम प्रतिभा या अन्तर्ज्ञान का नाम देंगे। अब यह ज्ञान ईश्वर के विशेष गुणों के आकारात्मक सार के पर्याप्त प्रत्यय से आरम्भ करके पदार्थों के सार के पर्याप्त ज्ञान को प्राप्त करता है। मैं इन तीन प्रकार के ज्ञानों को एक उदाहरण से दर्शाऊँगा।

तीन अक दिये जाते हैं और चौथे का पता लगाना है, जो तीसरे से उसी अनुपात में होगा, जिसमें दूसरा पहले से है। दुकानदार तुरन्त दूसरे को तीसरे से गुणा करते हैं और गुणनफल का पहले से भाग करते हैं, या इसलिए कि जो नियम उन्होंने अध्यापक से बिना प्रमाण के सीखा था, वह उन्हें भूला नहीं, या इसलिए कि उन्होंने छोटे अकों के साथ इसका प्रयोग किया है, या इसलिए कि युक्लिड की पुस्तक भाग २, साध्य १९ की उपपत्ति से उन्हें इसका, अर्थात् समानुपातियों के सामान्य लक्षण का निश्चय है। परन्तु, बहुत छोटे अकों में इसकी जरूरत नहीं, क्योंकि जब अक १, २, ३ दिये जायँ, तो कौन यह न देख सकेगा कि चौथा समानुपाती ६ है? और यह इसलिए अधिक स्पष्ट है कि हम चौथे अक का अनुमान उसी से करते हैं, जो हम अन्तर्दृष्टि या प्रतिभा से पहले और दूसरे अक में देखते हैं।

साध्य ४१—पहले प्रकार का ज्ञान भ्रान्ति का एक मात्र कारण है, दूसरे और तीसरे प्रकार का ज्ञान अनिवार्य रूप में सत्य है।

उपपत्ति—हमने पूर्व टिप्पणी में कहा था कि वे सभी प्रत्यय जो अपर्याप्त और अस्पष्ट हैं, पहले प्रकार के ज्ञान से सम्बन्धित हैं, और इसलिए (भाग २, साध्य ३५) यह ज्ञान ही मिथ्यात्व का कारण है। फिर दूसरे और तीसरे प्रकारों के ज्ञान की बाबत हमने कहा था कि जो प्रत्यय पर्याप्त हैं, वे इससे सम्बद्ध हैं, इसलिए (भाग १, साध्य ३४) यह अनिवार्य रूप में सत्य है।
इ० सि०

साध्य ४२—दूसरे और तीसरे प्रकारों का ज्ञान हमें सत्य और असत्य में भेद करने की योग्यता देता है, पहले प्रकार का ज्ञान नहीं देता।

उपपत्ति—यह साध्य आप ही स्पष्ट है। क्योंकि जो कोई सत्य और असत्य में भेद करना चाहता है, उसे सत्य और असत्य का पर्याप्त प्रत्यय होना चाहिए,

अर्थात् (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी २), उसे दूसरे और तीसरे प्रकारों के ज्ञान से सत्य और असत्य का बोध होना चाहिए।

साध्य ४३—जो मनुष्य सत्य प्रत्यय रखता है, वह साथ ही यह भी जानता है कि वह सत्य प्रत्यय रखता है, उस वस्तु की यथार्थता की बाबत उसे सन्देह हो ही नहीं सकता।

उपपत्ति—हममें सत्य प्रत्यय वह है जो ईश्वर में पर्याप्त है (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय), इस अंश में कि ईश्वर मानुष मन की प्रकृति के द्वारा व्याख्यात होता है। तब फर्ज करे कि ईश्वर में, जहाँ तक कि वह मानुष मन की प्रकृति के द्वारा व्याख्यात होता है, एक पर्याप्त प्रत्यय अविद्यमान है। इस प्रत्यय का प्रत्यय अनिवार्य रूप में ईश्वर में स्वीकृत होना चाहिए, और यह उसी प्रकार से ईश्वर की ओर सकेत करता है, जिस तरह प्रत्यय अ (भाग २, साध्य २०, जिसकी सिद्धि अपने प्रयोग में व्यापक है)। परन्तु प्रत्यय अ ईश्वर की ओर इसी अंश में सकेत करता समझा जाता है कि ईश्वर मानुष मन की प्रकृति के द्वारा व्याख्यात होता है। इसलिए प्रत्यय अ के प्रत्यय को भी उसी तरह ईश्वर की ओर सकेत करना चाहिए, अर्थात् (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय), प्रत्यय अ का पर्याप्त प्रत्यय उसी मन में होगा, जिसमें अ का पर्याप्त प्रत्यय है, और इसलिए जो मनुष्य यथार्थ प्रत्यय रखता है, या (भाग २, साध्य ३४) जो किसी वस्तु को यथार्थ रूप में जानता है, वह इसके साथ ही अवश्यमेव अपने ज्ञान का पर्याप्त प्रत्यय भी रखता है, या सत्य ज्ञान रखता है, अर्थात् (जैसा स्वतः सिद्ध है), उसे उसी समय निश्चय होना चाहिए। इ० सि०

टिप्पणी—इस भाग के साध्य २१ की टिप्पणी में मैंने दिखाया था कि प्रत्यय का प्रत्यय क्या है, परन्तु पूर्व साध्य अपने आप में स्पष्ट है। क्योंकि जिस किसी में कोई सत्य प्रत्यय है, वह इस बात में नावाकिफ नहीं हो सकता कि एक सत्य प्रत्यय में अधिक से अधिक निश्चितता निहित है। क्योंकि सत्य प्रत्यय रखने का अर्थ यही है कि व्यक्ति किसी वस्तु को पूर्ण या श्रेष्ठतम रूप में जाने, इसमें किसी को सन्देह हो नहीं सकता, सिवाय इसके कि वह प्रत्यय को चिन्तन का एक आकार या स्वयं बुद्धि न समझे, अपितु पट पर खिचे चित्र की भाँति मूक वस्तु ख्याल करे। और मैं पूछता हूँ कि कौन मनुष्य यह जान सकता है कि वह कुछ समझता है, जब तक कि पहले उस वस्तु को न समझ ले? मेरा अभिप्राय यह है—कौन जान सकता है कि उसे किसी विषय में पूर्ण निश्चय है, जब तक कि उसे उस वस्तु

का निश्चय न हो ? तब इससे अधिक स्पष्ट और निश्चित क्या हो सकता है कि एक सत्य प्रत्यय सत्य का मान, प्रमाण है ? स्पष्टतः जैसे, प्रकाश अपने आप और अन्धकार दोनों को दिखाता है, उसी तरह सत्य अपना और मिथ्यात्व दोनों का प्रमाण है। और इस तरह मेरा ख्याल है कि मैंने निम्न प्रश्नों का पर्याप्त उत्तर दे दिया है, अर्थात् यदि एक सत्य प्रत्यय को, जिस अंश में इसे अपने विषय के अनुरूप कहा जा सकता है, एक असत्य प्रत्यय से पृथक् किया जाय, तो इसमें उतनी ही सत्ता और पूर्णता होगी, जितनी असत्य प्रत्यय में है (क्योंकि दोनों में भेद बाहरी नामों का ही है,) और सत्य प्रत्यय रखनेवाले मनुष्य में असत्य प्रत्यय रखनेवाले मनुष्य की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं होगी। तब फिर मनुष्यों में असत्य प्रत्यय आते कैसे हैं ? और फिर किसी मनुष्य को यह निश्चय कैसे होता है कि उसके प्रत्यय अपने विषयों के अनुरूप हैं ? मेरा ख्याल है कि मैंने इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया है। क्योंकि सत्य और असत्य के भेद के विषय में जो कुछ सगत है, वह इस भाग के साध्य ३५ में देखा जा सकता है, कि इन दोनों का सम्बन्ध वही है जो सत् और असत् का है। मिथ्यात्व के कारणों या स्रोतों को मैंने अति स्पष्टता से साध्य १९ से ३५ में, और साध्य ३५ की टिप्पणी में व्यक्त कर दिया है। और इससे यह भी स्पष्ट है कि सत्य प्रत्यय रखनेवाले और असत्य प्रत्यय रखनेवाले मनुष्य में क्या भेद है। अन्तिम प्रश्न के विषय में, अर्थात् किस तरह कोई पुरुष यह जान सकता है कि उसका प्रत्यय ऐसा है, जो अपने विषय के अनुरूप है, मैंने पर्याप्त से अधिक मात्रा में दिखा दिया है कि इस ज्ञान का आधार यही है कि उसका प्रत्यय अपने विषय के अनुरूप है, या यह कि सत्य अपना मान आप ही है। इनके साथ, यह भी ध्यान में रखो कि मन, जिस मात्रा में यह किसी वस्तु को यथार्थ रूप में जानता है, ईश्वर की अनन्त बुद्धि का एक अंश है (भाग २, साध्य ११, उपप्रयेय), और इसलिए यह उतना ही अनिवार्य है कि मन के विमल और स्पष्ट प्रत्यय सत्य हैं, जितना यह अनिवार्य है कि ईश्वर के प्रत्यय सत्य हैं।

साध्य ४४—बुद्धि का स्वभाव यह नहीं कि पदार्थों को आकस्मिक समझे, अपितु यह कि उन्हें अनिवार्य समझे।

उपपत्ति—बुद्धि का स्वभाव यह है कि पदार्थों को यथार्थ रूप में देखे (भाग २, साध्य ४१), अर्थात् (भाग १, स्वयं०६) जैसे वे अपने आप में हैं, अर्थात् (भाग १, साध्य २९) आकस्मिक नहीं, अपितु अनिवार्य हैं। इ० सि०

उपप्रमेय १—इसका परिणाम यह है कि यह केवल कल्पना पर निर्भर है कि हम भूत या भविष्य के सम्बन्ध में पदार्थों को आकस्मिक समझते हैं।

टिप्पणी १—मैं थोड़े शब्दों में बताऊँगा कि यह स्थिति प्रस्तुत कैसे होती है। हमने ऊपर दिखाया है (भाग २, साध्य १७ और इसका उपप्रमेय) कि मन पदार्थों के विद्यमान न होने की हालत में भी उन्हें अपने प्रति सदा विद्यमान समझता है, सिवाय इसके कि कुछ कारण उपस्थित होकर उनके वर्तमान अस्तित्व को काट दे। तब (भाग २, साध्य १८) हमने दिखाया कि यदि मानुष शरीर किसी अवसर पर एक साथ दो बाहरी पदार्थों से प्रभावित हुआ है, तो इसके बाद जब भी मन को उनमें से एक की याद आयी, तभी यह तुरन्त ही दूसरे को स्मरण करेगा, अर्थात् यह दोनों को अपने प्रति विद्यमान समझेगा, चाहे वे विद्यमान न ही हों, सिवाय इसके कि कुछ कारण उपस्थित होकर उनके वर्तमान अस्तित्व को काट दे। इसके अतिरिक्त इसमें कोई सन्देह नहीं करता कि हम काल की कल्पना इस तथ्य से करते हैं कि हम अन्य पदार्थों को अधिक, न्यून या समान वेग से गतिशील होते देखते हैं। अब एक बालक की कल्पना करें जिसने कल प्रातः पहले घंटे में पीटर को पहली बार देखा, दोपहर के समय पाल को देखा और सायकाल साइमन को, और आज फिर प्रातः पहले घंटे में पीटर को देखा। इस भाग के साध्य १८ से यह स्पष्ट है कि वह ज्यों ही प्रातः का प्रकाश देखता है, वह कल्पना करेगा कि सूर्य पहले दिन की यात्रा आज भी करेगा, और पूरे दिन की कल्पना करेगा; प्रातः के सग में वह पीटर की कल्पना करेगा, दोपहर के सग पाल की, और सायकाल के सग साइमन की, अर्थात् वह पाल और साइमन की कल्पना भविष्य काल के सम्बन्ध में करेगा। और दूसरी ओर यदि वह सायकाल साइमन को देखता है, तो वह पीटर और पाल का संकेत उनकी कल्पना भूतकाल के साथ करके, भूतकाल की ओर करेगा। और जितनी अधिक बार वह इन्हें इस क्रम में देखेगा, उतनी ही अधिक निश्चित उसकी कल्पनाएँ होंगी। परन्तु यदि कभी ऐसा हो जाय कि एक साय वह साइमन के स्थान में जेम्स को देखे, तो आगामी प्रातः वह सायकाल के सग में अभी साइमन की, और अभी जेम्स की कल्पना करेगा, परन्तु दोनों की एक साथ नहीं, क्योंकि उसने दोनों को एक साथ सायकाल नहीं देखा, केवल एक को देखा है। और इस तरह उसकी कल्पना अनिश्चित होगी, और भावी साय के सग में वह कभी एक की और कभी दूसरे की कल्पना करेगा, अर्थात् भविष्य के सम्बन्ध में वह दोनों को निश्चित नहीं,

अपितु आकस्मिक समझेगा। और कल्पना की यह अस्थिरता वैसी ही होगी, यदि हम कल्पना के विषयो को भूत या वर्तमान काल के सम्बन्ध में उसी प्रकार विचारे, और इसलिए हम पदार्थों को आकस्मिक ख्याल करते हैं, चाहे उनका सम्बन्ध वर्तमान से, भूत से, या भविष्य से हो।

उपप्रमेय २—बुद्धि का स्वभाव पदार्थों को नित्यता के एक निश्चित प्रकार के तले देखना है।

उपपत्ति—यह बुद्धि का स्वभाव है कि पदार्थों को आकस्मिक नहीं, अपितु अनिवार्य ख्याल करे (पूर्व साध्य)। यह पदार्थों की इस अनिवार्यता को (भाग २, साध्य ४१) यथार्थ रूप में देखती है, अर्थात् (भाग १, स्वयं ०६) जैसी यह अपने आप में है। परन्तु (भाग १, साध्य १६) पदार्थों की यह अनिवार्यता ईश्वर की अनादि प्रकृति की अनिवार्यता ही है। इसलिए यह बुद्धि का स्वभाव ही है कि पदार्थों को नित्यता के प्रकार के तले देखे। इसके साथ इस बात को भी ध्यान में रखो कि बुद्धि के मूलाधार वे प्रत्यय हैं (भाग २, साध्य ३८) जो इन वस्तुओं की, जो सबके लिए साक्षी हैं, व्याख्या करते हैं, और जो (भाग २, साध्य ३७) किसी विशेष पदार्थ के सार की व्याख्या नहीं करते, और इसलिए जिनका चिन्तन काल से असम्बद्ध, अपितु नित्यता के एक विशेष प्रकार के तले करना चाहिए।

इ० सि०

साध्य ४५—वस्तुगत अस्तित्व रखनेवाले प्रत्येक पदार्थ या विशेष वस्तु के प्रत्येक प्रत्यय में ईश्वर का अनादि और अनन्त सार अनिवार्य रूप में निहित है।

उपपत्ति—वस्तुगत अस्तित्व रखनेवाले किसी विशेष पदार्थ के प्रत्यय में अनिवार्य रूप में उसका सार और अस्तित्व दोनों निहित होते हैं (भाग २, साध्य ८, उपप्रमेय)। परन्तु विशेष पदार्थों का चिन्तन (भाग १, साध्य १५) ईश्वर के बिना नहीं हो सकता, और चूँकि (भाग २, साध्य ६) ईश्वर उनका कारण है, क्योंकि उसका चिन्तन उस गुण के तले किया जाता है जिसके वे आकार हैं, इसलिए उनके प्रत्यय अवश्यमेव (भाग १, स्वयं ० ४) उनके गुण के प्रत्यय को अपने अन्दर निहित रखते हैं, अर्थात् (भाग १, परि० ६) उनमें ईश्वर का अनादि और अनन्त सार अवश्य ही निहित है। **इ० सि०**

टिप्पणी—अस्तित्व से यहाँ मेरा अभिप्राय अवधि नहीं, अर्थात् अस्तित्व जिस अंश में इसे विच्छेदन के फल और मात्रा के विशेष आकार के रूप में विचारा जाता है। मैं अस्तित्व के तत्त्व की बाबत कह रहा हूँ, जो इसलिए पदार्थों में

निर्दिष्ट होता है कि वे ईश्वर की प्रकृति की अनादि अनिवार्यता का परिणाम होते हैं, सख्या में अगण्य, और अनन्त प्रकारों में (भाग १, साध्य १६)। मैं कहता हूँ कि मैं विशेष पदार्थों की तात्त्विक सत्ता का वर्णन कर रहा हूँ, जिस अर्थ में कि वे ईश्वर में हैं। क्योंकि यद्यपि प्रत्येक पदार्थ एक विशेष प्रकार में विद्यमान होने के लिए किसी दूसरे पदार्थ से निर्णीत होता है, तो भी वह शक्ति जिसके साथ प्रत्येक अस्तित्व बनाये रखने का आग्रह करता है, ईश्वर की प्रकृति की अनादि अनिवार्यता का परिणाम है (इसके सम्बन्ध में देखो—भाग १, साध्य २४, उपप्रमेय)।

साध्य ४६—ईश्वर के अनादि और अनन्त सार का ज्ञान जो प्रत्येक प्रत्यय में निहित है, पर्याप्त और पूर्ण है।

उपपत्ति—पूर्व साध्य की युक्ति व्यापक प्रयोग की युक्ति है। और चाहे पदार्थ को अश या समग्र की स्थिति में विचारा जाय, इसका प्रत्यय चाहे अश का हो या समग्र का (पूर्व साध्य), अपने अन्दर ईश्वर का अनादि और अनन्त सार निहित रखता है। इसके परिणामस्वरूप जो कुछ ईश्वर के अनादि और अनन्त सार का ज्ञान देता है, वह सब के लिए साक्षात् है, और अश तथा समग्र दोनों में एक समान विद्यमान है, और (भाग २, साध्य ३८) यह ज्ञान पर्याप्त होगा। इ० सि०

साध्य ४७—मनुष्य का मन ईश्वर के अनादि और अनन्त सार का पर्याप्त ज्ञान रखता है।

उपपत्ति—मनुष्य के मन में ऐसे प्रत्यय है (भाग २, साध्य २२) जिनसे (भाग २, साध्य २३) यह अपने आप को और अपने शरीर को (भाग २, साध्य १९) और (भाग २, साध्य १६ और १७ के उपप्रमेय) बाहरी पदार्थों को वास्तव में विद्यमान जानता है, और इसलिए (भाग २, साध्य ४५ और ४६) इसे ईश्वर के अनादि और अनन्त सार का पर्याप्त ज्ञान होता है। इ० सि०

टिप्पणी—इससे हम देखते हैं कि ईश्वर का अनन्त सार और उसका नित्य होना सबको ज्ञात है। परन्तु चूँकि सभी वस्तुएँ ईश्वर में हैं, और उसके द्वारा उनका चिन्तन होता है, इसका परिणाम यह है कि हम इस ज्ञान से अनेक वस्तुओं का अनुमान कर सकते हैं, जिन्हें हम पर्याप्त रूप में जान सकें, और इसके फल-स्वरूप तीसरे प्रकार का वह ज्ञान प्राप्त कर सकें, जिसका हमने भाग २, साध्य ४०,

टिप्पणी २ में जिक्र किया था, और जिसकी श्रेष्ठता और प्रयोग की बाबत कहने का अवसर पाँचवे भाग में मिलेगा। परन्तु मनुष्यों को ईश्वर का ऐसा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, जैसा सामान्य प्रत्ययो का होता है। इसका कारण यह है कि वे पदार्थों की तरह ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकते, और ईश्वर का नाम ऐसी वस्तुओं के बिम्बों को देते हैं जिन्हें वे देखा करते हैं। और मनुष्यों के लिए इससे बचा रहना कठिन है, क्योंकि वे बाहरी पदार्थों से निरन्तर प्रभावित होते रहते हैं। अब बहुत-सी भ्रान्ति यही होती है कि हम पदार्थों के लिए ठीक नामों का प्रयोग नहीं करते। क्योंकि जब कोई मनुष्य कहता है कि जो रेखाएँ वृत्त के केन्द्र से उसकी परिधि तक खींची जाती हैं, वे एक दूसरी के बराबर नहीं, तो वह निश्चय वृत्त को उससे भिन्न अर्थ में समझता है, जिसमें गणितज्ञ इसे समझता है। इस तरह जब मनुष्य गणना में भूलें करते हैं, तो उनके दिमाग में जो अंक होते हैं, वे वही नहीं होते जो कागज पर लिखे हैं। इस तरह यदि तुम उनके मन को देख सको, तो वे गलती नहीं करते, तो भी वे गलती करते प्रतीत होते हैं, क्योंकि हम ख्याल करते हैं कि उनके मन में वे ही अंक हैं जो कागज पर हैं। यदि ऐसा न होता, तो हम यह विश्वास ही न करते कि उन्होंने भूल की है, जैसे मैंने एक मनुष्य की बाबत विश्वास नहीं किया कि वह भूल कर रहा था, जिसे मैंने कुछ दिन हुए, चिल्लाते सुना कि उसका कमरा उड़कर उसके पड़ोसी के चूजे में जा घुसा था, क्योंकि मुझे प्रतीत होता था कि उसका मन इस विषय में पूर्णतया निश्चित है। और ये अनेक विवाद प्रस्तुत हुए हैं, क्योंकि मनुष्य या तो अपने अभिप्राय को व्याख्यात नहीं करते, या दूसरों के अभिप्राय को ठीक नहीं समझते। क्योंकि वास्तव में जब वे अपना स्पष्ट निषेध करते हैं, वे अब एक चिन्तन करते हैं, फिर दूसरा करते हैं, ताकि जो भूले और विवेकहीनताएँ वे दूसरों में देखते हैं, वे स्वयं उनमें न दीखें।

साध्य ४८—किसी मन में भी निरपेक्ष का स्वाधीन सकल्प विद्यमान नहीं, परन्तु मन इस या उस सकल्प करने में किसी कारण से निर्णीत होता है, जो कारण आप किसी अन्य कारण से, और फिर वह किसी और से निर्णीत होता है, और इसी तरह अनन्तता तक।

उपपत्ति—मन चिन्तन का एक नियत और निर्णीत आकार है (भाग २, साध्य ११) और इसलिए (भाग १, साध्य १७, उपप्रमेय २) अपने कर्मों का स्वाधीन कारण नहीं हो सकता, या निरपेक्ष सकल्प और विकल्प की शक्ति

इसमे नहीं हो सकती, परन्तु इस या उस, किसी विशेष, सकल्प मे यह अवश्य किसी कारण से निर्णीत होता है (भाग १, साध्य २८), जो किसी अन्य कारण से निर्णीत होता है, और यह किसी अन्य कारण से, इत्यादि। इ० सि०

टिप्पणी—इसी तरह यह भी दिखाया जा सकता है कि मन मे विचारना, इच्छा करना, प्रेम करना आदि निरपेक्ष शक्ति विद्यमान नहीं हो सकती। इसका परिणाम यह है कि यह और इन जैसी शक्तियाँ या तो बिलकुल कल्पित है, या तात्त्विक या सामान्य सत्ताएँ हैं, जिन्हे हम विशेष पदार्थों से निर्मित किया करते हैं। इसलिए बुद्धि या सकल्प विशेष प्रत्यय या विशेष सकल्प की ओर उसी प्रकार सकेत करते हैं, जिस प्रकार 'पत्थरपन' इस या उस पत्थर की ओर करता है, या 'मनुष्य' पीटर या पाल की ओर करता है। परन्तु मैने पहले भाग के परिशिष्ट मे यह व्यक्त कर दिया है कि क्यो मनुष्य अपने आप को स्वाधीन समझते हैं। परन्तु आगे बढ़ने से पहले, इसे स्पष्ट कर दूँ कि सकल्प से मेरा अभिप्राय स्वीकृति और अस्वीकृति की योग्यता से है, इनकी इच्छा से नहीं। मै फिर कहता हूँ कि सकल्प से मै वह योग्यता समझता हूँ जिससे मन सत्य या असत्य की स्वीकृति या अस्वीकृति करता है, मै इससे वह इच्छा नहीं समझता, जिसके कारण मन किसी वस्तु को प्रिय या अप्रिय समझता है। अब यह दिखाने के बाद कि ये योग्यताएँ सामान्य प्रत्यय हैं, जिन्हे हम उन विशेष वस्तुओ से, जिनमे हमने इनका निर्माण किया है, भिन्न नहीं कर सकते, हमें यह जाँचना चाहिए कि क्या ये सकल्प वस्तुओ के प्रत्ययो से कुछ भिन्न हैं। मै कहता हूँ, हमें पूछना चाहिए कि क्या मन मे कोई ऐसी स्वीकृति या अस्वीकृति मिल सकती है, जो प्रत्यय मे, इसके प्रत्यय होने की स्थिति मे, निहित नहीं। इस विषय पर आगामी साध्य को और भाग २ परि० ३ को देखो, ताकि बिम्बो या चित्रो का ख्याल उपस्थित न हो जाय। क्योकि प्रत्ययो से मेरा अभिप्राय उन चित्रो से नहीं जो आँख के पीछे और, यदि तुम ऐसा चाहो, मस्तिष्क के केन्द्र मे बनाये जाते हैं, मेरा अभिप्राय चिन्तन के विचारो से है।

साध्य ४९—मन मे कोई सकल्प, या स्वीकृति और अस्वीकृति नहीं, सिवाय उसके जो प्रत्यय मे, इसके प्रत्यय होने की स्थिति मे, निहित है।

उपपत्ति—मन मे (पूर्व साध्य) सकल्प और विकल्प की कोई निरपेक्ष योग्यता नहीं, केवल विशेष सकल्प है, जैसे यह या वह स्वीकृति, और यह या वह अस्वीकृति। तब किसी विशेष सकल्प का चिन्तन करे, अर्थात् चिन्तन के

आकार का, जिससे मन प्रतिज्ञा करता है कि त्रिभुज के तीन कोण मिलकर दो समकोणों के बराबर है। इस प्रतिज्ञा में त्रिभुज का प्रत्यय निहित है, अर्थात् त्रिभुज के प्रत्यय के बिना इसका चिन्तन नहीं हो सकता। जब मैं कहता हूँ कि अ में ब का प्रत्यय निहित है, तो यही कहता हूँ कि अ का चिन्तन ब के बिना नहीं हो सकता। तब यह प्रतिज्ञा (भाग २, स्वयं ० ३) त्रिभुज के प्रत्यय के बिना हो नहीं सकती। इसलिए त्रिभुज के प्रत्यय के बिना इस प्रतिज्ञा का न अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन। इसके अतिरिक्त, त्रिभुज के इस प्रत्यय में वही प्रतिज्ञा निहित होनी चाहिए, अर्थात् कि इसके तीन कोण दो समकोणों के बराबर है। इसलिए इसके विपरीत भी, त्रिभुज का यह प्रत्यय इस प्रतिज्ञा के बिना न विद्यमान हो सकता है, न विचारा जा सकता है। और इसलिए (भाग २, परि० २) यह प्रतिज्ञा त्रिभुज के प्रत्यय के सार से सम्बद्ध है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। और जो कुछ हमने इस सकल्प की बाबत कहा है (क्योंकि इसे असंगत ही लिया गया था), वही किसी अन्य सकल्प की बाबत भी कहा जा सकता है, अर्थात् यह प्रत्यय से भिन्न कुछ नहीं। इ० सि०

उपग्रमेय—सकल्प-शक्ति और बुद्धि एक ही वस्तु है।

उपपत्ति—सकल्प-शक्ति और बुद्धि विशेष सकल्पों और प्रत्ययों से भिन्न कुछ नहीं (भाग २, साध्य ४८, और उस पर टिप्पणी)। परन्तु एक विशेष सकल्प और विशेष प्रत्यय (पूर्व साध्य) एक ही वस्तु है। इसलिए सकल्पशक्ति और प्रत्यय दोनों एक ही वस्तु हैं। इ० सि०

टिप्पणी—इस तरह हमने उस कारण को जिसे आम तौर पर अविद्या या भूल का आधार समझा जाता है, दूर कर दिया है। क्योंकि हमने ऊपर दिखा दिया है कि असत्य केवल ज्ञान का लुप्त होना है, जो भजित और अस्पष्ट प्रत्ययों में निहित है। इसलिए एक असत्य प्रत्यय, असत्य होने की स्थिति में, निश्चितता का सूचक नहीं होता। इस तरह जब हम कहते हैं कि कोई मनुष्य असत्य को अंगीकार करता है और उसे इसकी बाबत कोई सन्देह नहीं, तो हम नहीं कहते कि उसे निश्चय है, केवल इतना ही कहते हैं कि उसे सन्देह नहीं, या यह कि वह असत्य को अंगीकार करता है, क्योंकि ऐसे कोई हेतु नहीं जो उसकी कल्पना को डगमगाये (इस विषय पर भाग २, साध्य ४४ की टिप्पणी देखो)। इस तरह यद्यपि हम फर्ज करते हैं कि वे मनुष्य असत्य से चिपटे हुए हैं, तो भी हम यह तो कदापि नहीं कहते कि उन्हें निश्चय है। क्योंकि निश्चितता से हमारा

अभिप्राय भावात्मक अवस्था होता है (भाग २, साध्य ४३ और उसकी टिप्पणी), निरा सन्देह का लोप नहीं। परन्तु निश्चितता के लुप्त होने को हम असत्य के अर्थ में लेते हैं, परन्तु पूर्व साध्य की अधिक व्याख्या के लिए अभी कई चेतावनियाँ देनी हैं। प्रथम तो यह कि अभी मुझे उन आक्षेपों का उत्तर देना है जो हमारे सिद्धान्त पर किये जा सकते हैं। और इसके अतिरिक्त सन्देहों को दूर करने के लिए मैंने उचित समझा है कि इस सिद्धान्त के लाभ भी व्यक्त कर दूँ। मैं 'कुछ' कहता हूँ क्योंकि ये लाभ अच्छी तरह तो उस विवरण से समझ में आयेगे, जो हमें पाँचवें भाग में करना है।

तब मैं पहले विचाराश से आरम्भ करता हूँ, और पाठकों को चेतावनी देता हूँ कि वे प्रत्यय, या मन के चिन्तन में और हमारी कल्पित वस्तुओं के चित्रों में ठीक-ठीक भेद करें। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक है कि प्रत्ययों और ऐसे शब्दों में जिनसे हम पदार्थों की ओर सकेत करते हैं, भेद किया जाय। क्योंकि मनुष्यों की अधिक सख्या या तो इन तीनों अर्थात् बिम्बों, शब्दों और प्रत्ययों को सर्वथा अभिन्न बना देती है, या इनमें पर्याप्त यथार्थता और सावधानी से भेद नहीं करती, और इसलिए उन्हें इस तथ्य का कुछ भी ज्ञान नहीं होता कि सकल्प के इस सिद्धान्त को समझना दार्शनिक विवेचन और जीवन की बौद्धिक व्यवस्था के लिए अत्यावश्यक है। जो लोग ख्याल करते हैं कि प्रत्यय ऐसे प्रतिबिम्ब हैं जो हममें वस्तुओं के समूह में उद्भूत होते हैं, वे यह मान लेते हैं कि पदार्थों के वे प्रत्यय जिनके समान हम मन में कोई प्रतिबिम्ब नहीं बना सकते, प्रत्यय हैं ही नहीं, अपितु ऐसी रचनाएँ हैं जिनका हम अपने स्वाधीन सकल्प से आविष्कार या निर्माण करते हैं, इसलिए वे प्रत्ययों को तख्ते पर बने हुए वेजान चित्र के रूप में देखते हैं, और इस भ्रांति में पड़े वे यह नहीं देखते कि प्रत्यय, प्रत्यय होने की स्थिति में स्वीकृति या अस्वीकृति का सूचक है। फिर जो लोग शब्दों और प्रत्ययों में या शब्दों और उस स्वीकृति में जो प्रत्ययों में निहित हैं, भेद नहीं देखते, वे ख्याल करते हैं, कि जब वे अपने अनुभव के प्रतिकूल निरे शब्दों में स्वीकृति या अस्वीकृति व्यक्त करते हैं, तो वे अपने अनुभव के प्रतिकूल किसी वस्तु की इच्छा कर सकते हैं। हर एक मनुष्य जो चिन्तन के स्वरूप की बाबत, जिसमें विस्तार का प्रत्यय तनिक भी सम्मिलित नहीं, कुछ विचार करे, वह सहज ही अपने आप को इन भ्रान्तियों से विमुक्त कर सकता है; और वह साफ समझ लेगा कि प्रत्यय (चूँकि यह चिन्तन का आकार है) किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं, न ही शब्दों का रूप है। क्योंकि शब्दों और प्रति-

बिम्बों का सार सर्वथा शरीर की गतियों से बनता है, जिनमें चिन्तन का प्रत्यय तनिक भी निहित नहीं।

मेरा ख्याल है कि ये थोड़ी-सी चेतावनियाँ पर्याप्त होंगी। अब मैं उन आक्षेपों की ओर आता हूँ जिनका मैंने जिक्र किया है।

पहला आक्षेप यह है कि प्रतिपक्षियों के विचारानुसार यह स्वतः सिद्ध है कि बुद्धि की अपेक्षा सकल्पशक्ति का विस्तार अधिक हो सकता है, और इसलिए यह बुद्धि से भिन्न है। इस विचार की पुष्टि में कि सकल्पशक्ति का विस्तार बुद्धि से अधिक हो सकता है, उनका हेतु यह है कि ऐसे अनेक पदार्थ हैं जिनका हमें अब ज्ञान नहीं, और जिन्हें समझने के लिए अधिक बुद्धि की आवश्यकता है, परन्तु उनकी स्वीकृति और अस्वीकृति की उससे अधिक योग्यता की आवश्यकता नहीं, जितनी कि इस समय हममें मौजूद है। इस तरह सकल्पशक्ति और बुद्धि में वे जो भेद करते हैं कि बुद्धि ससीम है और सकल्पशक्ति अससीम है। दूसरा आक्षेप यह है कि अनुभव स्पष्ट बताता है कि हम अपने निर्णय को स्थगित कर सकते हैं, ताकि जिन पदार्थों को हम देखते हैं उन्हें स्वीकृति न दें। और कि इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि जब किसी मनुष्य की भ्रान्ति की बाबत कहा जाता है, तो भ्रान्ति पदार्थों के ज्ञान के सम्बन्ध में नहीं कही जाती, अपितु उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति के सम्बन्ध में कही जाती है। उदाहरण के लिए जो मनुष्य परदार घोड़े की कल्पना करता है, वह ऐसा करने में परदार घोड़े-जैसे पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, अर्थात् उसकी भ्रान्ति उसी हालत में होती है जब वह साथ ही यह भी मान ले कि परदार घोड़े-जैसे पदार्थ का अस्तित्व है। इसलिए अनुभव यह स्पष्ट बताता प्रतीत होता है कि सकल्प, अर्थात् स्वीकृति की शक्ति स्वतन्त्र है और बुद्धि की शक्ति से भिन्न है।

तीसरा आक्षेप यह है कि एक स्वीकृति दूसरी स्वीकृति से अधिक सत्ता रखती प्रतीत नहीं होती, अर्थात् ऐसा प्रतीत नहीं होता कि असत्य को सत्य कहने की अपेक्षा सत्य को सत्य कहने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। परन्तु हमने देखा है कि एक प्रत्यय में दूसरे प्रत्यय की अपेक्षा अधिक सत्ता या पूर्णता होती है; क्योंकि जिस तरह कुछ पदार्थ दूसरे पदार्थों से उत्तम होते हैं, उसी तरह कुछ प्रत्यय दूसरे प्रत्ययों से अधिक पूर्ण होते हैं। इससे भी सकल्पशक्ति और बुद्धि के भेद का अनुमान हो सकता है।

चौथा आक्षेप यह है कि यदि स्वाधीन सकल्प मनुष्य की क्रिया का कारण नहीं,

तो ब्युरिडन^१ के गदहे की तरह, उसके दो समान प्रेरको के दरमियान स्थिर हो की हालत में परिणाम क्या होगा ? क्या भूख-प्यास से उसकी मृत्यु हो जायगी यदि मैं कहूँ कि मृत्यु हो जायगी, तो ऐसा प्रतीत होगा कि मैं किसी वास्तविक मनुष्य का नहीं, अपितु किसी गदहे का या मनुष्य की मूर्ति का चिन्तन कर रहा हूँ; यदि कहूँ कि मृत्यु नहीं होगी, तो वह अपने आप को निर्णीत करेगा, और इसके परिणामस्वरूप उसमें इच्छानुसार गति और क्रिया की योग्यता होगी।

इनके अतिरिक्त और आक्षेप भी किये जा सकते हैं, परन्तु यह दिखाना मेरा काम नहीं कि मनुष्य क्या-क्या सपने ले सकते हैं; मैं इन्हीं आक्षेपों का उत्तर दूँगा और वह भी यथासंभव संक्षेप में।

पहले आक्षेप की बाबत मैं यह मान लेता हूँ कि बुद्धि की अपेक्षा सकल्प अधिक विस्तृत हो सकता है, यदि वे बुद्धि को विमल और स्पष्ट प्रत्ययो के अर्थ में ही ले परन्तु मैं इससे इन्कार करता हूँ कि सकल्प प्रत्यक्षो या चिन्तन की शक्ति से परे जा सकता है। मैं यह भी नहीं देख सकता कि किस तरह सकल्प की योग्यता को अनुभव की योग्यता से अधिक असीम कहना चाहिए; क्योंकि जैसे हम सकल्प-शक्ति से अनन्त पदार्थों की प्रतिज्ञा कर सकते हैं (एक दूसरे के बाद, क्योंकि हम एक साथ अनन्त सख्या की प्रतिज्ञा कर ही नहीं सकते), उसी तरह अनुभव से असंख्य वस्तुओं को (एक दूसरी के बाद) जान सकते हैं। फिर यदि वे कहें कि ऐसे असंख्य पदार्थ हैं, जिनका प्रत्यक्ष हम कर नहीं सकते, तो मेरा उत्तर यह है कि असंख्य किस प्रकार के चिन्तन से हमारी पहुँच में नहीं और इसलिए किसी प्रकार की सकल्प शक्ति की पहुँच में भी नहीं। परन्तु वे कहते हैं कि यदि ईश्वर चाहता तो हम इन पदार्थों को देखने की शक्ति दे सकता था; इसके लिए इतना ही आवश्यक था कि वह हमें वर्तमान की अपेक्षा जानने की अधिक योग्यता दे देता, सकल्प की अधिक शक्ति का देना आवश्यक न था। ऐसा कहने में वे मानो यही कहते हैं कि यदि ईश्वर चाहता कि हम अनन्त अन्य वस्तुओं को समझ सकें, तो इतना ही आवश्यक होता कि वह हमें वर्तमान से अधिक बुद्धि दे देता, ऐसी असंख्य वस्तुओं को समझने के लिए यह आवश्यक न था कि वह सत्ता का अधिक व्यापक प्रत्यय भी देता। अब हम दिखा चुके हैं कि सकल्प-शक्ति एक व्यापक सत्ता या प्रत्यय है जिससे हम सभी विशेष सकल्पों की व्याख्या करते हैं, अन्य शब्दों में, सकल्प

शक्ति सभी में साझी है। और जब वे विश्वास करते हैं कि यह सभी सकल्पों का साझा या व्यापक प्रत्यय है, तो उनके इस कथन में कोई हैरानी की बात नहीं कि यह योग्यता बुद्धि की सीमाओं से परे अनन्तता तक जाती है; क्योंकि जो कुछ सार्वभौम या व्यापक है वह एक समान एक, अनेक या असंख्य व्यक्तियों की बाबत कहा जा सकता है।

दूसरे आक्षेप का मेरा उत्तर यह है कि मैं निर्णय को स्थगित करने की स्वाधीन शक्ति को मानता ही नहीं। क्योंकि जब हम कहते हैं कि कोई मनुष्य अपने निर्णय को स्थगित करता है, तो हम इससे भिन्न कुछ नहीं कहते कि उसे पदार्थ को पर्याप्त रूप में न देखने का ज्ञान होता है। इसलिए निर्णय का लटकाना वास्तव में एक ज्ञान है, स्वाधीन सकल्प नहीं। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए एक बालक का चिन्तन करे जो एक घड़े की कल्पना करता है और इसके अतिरिक्त कुछ देखता नहीं। चूँकि इस कल्पना में घड़े का अस्तित्व निहित है (भाग २, साध्य १७, उपप्रमेय), और बालक किसी ऐसे पदार्थ को नहीं देखता, जो घड़े को इसके अस्तित्व से वंचित कर सके, वह अवश्य ही घड़े को विद्यमान समझेगा, उसे इसके अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं होगा, यद्यपि उसे इसका निश्चय न हो। स्वप्नो में हमें प्रति दिन इसका अनुभव होता है, और मेरे विचार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जो समझता हो कि निद्रा में उसे अपने स्वप्न के विषय में अपने निर्णय को स्थगित करने की स्वाधीन शक्ति होती है, और वह यह कर सकता है कि जो कुछ वह स्वप्न में देखता है, उसे स्वप्न में न देखे। और इस पर भी स्वप्नो में भी ऐसा होता है कि हम अपने निर्णयों को मुलतवी कर सकते हैं, अर्थात् हम स्वप्न देखते हैं कि हम स्वप्न देख रहे हैं। इसके अतिरिक्त मैं मानता हूँ कि जहाँ तक किसी को प्रत्यक्ष होता है, उसे कोई धोखा नहीं होता, अर्थात् मैं मानता हूँ कि स्वयं मन की कल्पनाओं में कोई गलती नहीं होती (भाग २, साध्य १७, टिप्पणी), परन्तु मैं यह नहीं मानता कि प्रत्यक्ष करने में मनुष्य कोई प्रतिज्ञा नहीं करता। क्योंकि परदार घड़े को देखने का अर्थ इसके सिवाय क्या है कि घड़े पर पर थोपे जायँ? क्योंकि जब मन में परदार घड़े के बिना कुछ नहीं होता, तो मन इसे अपने प्रति विद्यमान समझेगा; इसके अस्तित्व में सन्देह करने का कोई कारण नहीं होगा, न अस्वीकृति की योग्यता, सिवाय इसके कि परदार घड़े की कल्पना किसी ऐसे प्रत्यय के साथ जुड़ी हो, जो घड़े को अस्तित्व से वंचित कर देता हो, या सिवाय इसके कि वह अनुभव करे कि उसका परदार घड़े का प्रत्यय अपर्याप्त है। ऐसी अवस्था में, वह

अवश्यमेव या तो उस घड़े के अस्तित्व से इन्कार करेगा, या अवश्य इसमें सन्देह करेगा।

और इस तरह मेरा ख्याल है कि मैंने तीसरे आक्षेप का उत्तर भी दे दिया है, अर्थात् कि सकल्प कोई व्यापक वस्तु है, जो सभी प्रत्ययों का विधान है, और जो प्रत्ययों में उसी अंश का सूचक है, जो सबमें साक्षात् है, अर्थात् ऐसी स्वीकृति जिसका पर्याप्त सार जहाँ तक अस्थूल रूप में इसका चिन्तन होता है, प्रत्येक प्रत्यय में अवश्य विद्यमान होना चाहिए, और सबमें केवल इस पहलू में समान होना चाहिए, परन्तु इस स्थिति में नहीं कि उसे प्रत्यय का सार समझा जाता है। इस हद तक विशेष प्रतिज्ञाएँ एक दूसरी से उतनी ही भिन्न होती हैं जितने कि प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए, जो प्रतिज्ञा वृत्त के प्रत्यय में निहित है, वह त्रिभुज के प्रत्यय में निहित प्रतिज्ञा से उसी तरह भिन्न है, जिस तरह वृत्त का प्रत्यय त्रिभुज के प्रत्यय से भिन्न है। फिर मैं यह कदापि नहीं मानता कि सत्य को सत्य घोषित करने के लिए चिन्तन की उतनी ही शक्ति आवश्यक है, जितनी असत्य को सत्य घोषित करने के लिए है। क्योंकि यदि हम मन की ओर देखें, तो इन दो प्रतिज्ञाओं का आपसी सम्बन्ध वही है जो सत् और असत् का है, क्योंकि उन प्रत्ययों में जो मिथ्यात्व का आकार होता है, वह कोई भावात्मक अंश नहीं होता (भाग २, साध्य ३५, इसकी टिप्पणी के साथ, और भाग २, साध्य ४७ की टिप्पणी)। इसलिए यह अवश्य देखना चाहिए कि हम कितनी आसानी से भ्रान्ति में पड़ जाते हैं जब हम सामान्य सत्ताओं और विशेष पदार्थों में, और अस्थूल तथा मानवी सत्ताओं और वास्तविक सत्ताओं में भेद नहीं करते।

चौथे आक्षेप की बाबत मैं यह मानने के लिए तैयार हूँ कि जो मनुष्य ऐसी साम्यावस्था में हो (अर्थात् जिसकी चेतना में भूख-प्यास का संवेदन और विशेष खाने-पीने की वस्तुओं का ज्ञान ही हो, जो उसके दोनों ओर एक ही दूरी पर पड़ी हो), वह भूखा-प्यासा मर जायगा। यदि वे पूछें कि क्या मेरे विचारानुसार ऐसे मनुष्य को मनुष्य की अपेक्षा गदहा नहीं समझना चाहिए, तो मेरा उत्तर है कि मैं नहीं जानता, जैसे यह नहीं जानता कि अपने आप को फाँसी लटकाने वाले को बच्चों को, भूखों को, या पागलों को किस दृष्टि से देखना चाहिए।

अब इतना दिखलाना बाकी रह गया है कि जीवन को व्यवस्थित करने के लिए यह सिद्धान्त हमें कितना लाभदायक होता है। इसे हम आगामी विचारांशों से सहज ही देख सकेंगे।

(१) यह सिद्धान्त शिक्षा देता है कि हमारे कर्म ईश्वर की आज्ञा के अनु-कूल ही होने चाहिए, और हमें दैवी प्रकृति में साझी बनना चाहिए, और उतना ही अधिक जितना हमारे कर्म अधिक पूर्ण हो और जितना अधिक ईश्वर को समझे। इसलिए यह सिद्धान्त मन को पूर्ण शान्ति तो प्रदान करता ही है, इसके साथ यह भी बताता है कि हमारे अधिकतम सुख और कृतार्थता का तत्त्व क्या है, अर्थात् ईश्वर का ज्ञान, जो हमें ऐसे कर्म करने की प्रेरणा करता है, जो प्रेम और भक्ति का उपदेश है। इससे हम यह भी स्पष्ट समझ लेते हैं कि वे लोग सदाचार की यथार्थ जाँच से कितनी दूर भटकते हैं, जो दासों की भावना में आशा करते हैं कि ईश्वर उन्हें उनके शुद्ध आचार और उत्तम कार्यों के लिए बड़े-बड़े फल देगा। मानो सदाचार और ईश्वर की सेवा अपने आप में सुख और अधिकतम स्वाधीनता नहीं।

(२) यह सिद्धान्त सिखाता है कि भाग्य के मामले में या ऐसे मामलों में जो हमारी शक्ति के अधीन नहीं, अर्थात् उन बातों में जो हमारी प्रकृति का परिणाम नहीं, हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए। इसके अनुसार हमें भाग्य के दोनों पक्षों के लिए समान रूप में तैयार रहना चाहिए और समान रूप में उन्हें सहन करना चाहिए; क्योंकि जो कुछ होता है, ईश्वर के अनादि नियम के अनुसार होता है, उसी अनिवार्यता में, जैसे त्रिभुज की प्रकृति से ही उसके तीनों कोण मिलकर दो समकोणों के बराबर होते हैं।

(३) यह सिद्धान्त सामाजिक जीवन के लिए भी बहुत लाभदायक है, क्योंकि यह सिखाता है कि हमें किसी मनुष्य से घृणा या द्वेष न करना चाहिए, किसी की हँसी उड़ाना न चाहिए, किसी पर क्रोध न करना चाहिए, न किसी से ईर्ष्या करनी चाहिए।

(४) अन्त में यह सिद्धान्त राष्ट्र के लिए भी हितकर है, क्योंकि यह बताता है कि किस तरह नागरिकों पर शासन होना चाहिए, अर्थात् उनकी स्थिति दासों की सी नहीं होनी चाहिए, अपितु उन्हें अपने स्वाधीन सकल्प से जो कुछ उच्चतम है करना चाहिए।

इस तरह जो प्रतिज्ञा मैंने इस टिप्पणी के आरम्भ में की थी, उसे पूरा कर दिया है, और अब दूसरे भाग को समाप्त करता हूँ। मेरा ख्याल है कि मैंने इसमें मानुष मन की प्रकृति और गुणों की, विषय की जटिलता को ध्यान में रखते हुए, पर्याप्त विस्तार में व्याख्या की है, और इस अध्ययन में बहुतेरी ऐसी बातों को व्यक्त किया है जिनसे बहुमूल्य और जानने योग्य उत्कृष्ट परिणाम निकाले जा सकते हैं, जैसा आशिक रूप में अगले अध्ययन में दीखेगा।

तीसरा भाग

उद्वेगों के स्रोत और उनकी प्रकृति के विषय में

ऐसा प्रतीत होता है कि जिन लोगो ने उद्वेगो और मानवजीवन के आकार-प्रकार पर लिखा है, उनमे अधिकाश ने ऐसी प्राकृत वस्तुओ पर नही लिखा जो सर्ग के सामान्य नियमो के अनुसार चलती है, परन्तु ऐसी वस्तुओ की बाबत जो सर्ग या कुदरत के क्षेत्र के बाहर है। वे मनुष्य को सर्ग मे ऐसा समझते प्रतीत होते है, मानो यह एक राज्य के अन्दर दूसरा राज्य है। क्योंकि वे विश्वास करते है कि मनुष्य सर्ग-व्यवस्था का अनुसरण नही करता, अपितु इसमे कुछ गडबड करता है, और कि वह अपने कर्मों मे पूर्ण रूप से स्वाधीन है और अपने से अलग किसी वस्तु से निर्णीत नही होता। वे मानव-दुर्बलता और अस्थिरता को सर्ग की साधारण शक्ति का परिणाम नही, अपितु मानव-प्रकृति की एक या दूसरी त्रुटि का परिणाम बताते है, और इसके फलस्वरूप इस प्रकृति पर विलाप करते है, इसे हँसी, घृणा और सबसे अधिक निन्दा का विषय बनाते है। और जो कोई मानव प्रकृति के दोष निकालने मे जोशीली और तीव्र भाषा का प्रयोग करता है, वह अपने साथियो मे मानो दैव ही समझा जाता है। इस पर भी कुछ भले पुरुष ऐसे हुए है (जिनके परिश्रम और उद्योग के प्रति मै अपने आप को आभारी पाता हूँ) जिन्होने पर्याप्त मात्रा मे और बहुत उत्तम ढंग से जीवन के उचित आकार-प्रकार पर लिखा है, और हम सबके लिए विवेकपूर्ण परामर्श छोडे है। इस पर भी जहाँ तक मुझे मालूम है, अभी तक किसी ने उद्वेगों की प्रकृति और शक्ति को निश्चित नही किया, न यह बताया है कि मन उन्हे शासन मे रखने के लिए उनके विरोध मे क्या कर सकता है। मै जानता हूँ कि परम प्रतिष्ठित डेकार्ट ने यह मानते हुए भी कि मनुष्य का मन अपने कर्मों मे निरपेक्ष शक्ति रखता है, यत्न किया कि मानव उद्वेगो का समाधान उनके प्रथम कारणो द्वारा करे, और साथ ही यह बताये कि किस तरह मन उद्वेगो पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर सकता है। परन्तु, मेरे विचार मे, वह अपनी बुद्धि की महानता और चतुराई ही दिखा

सका, जसा मैं उचित स्थान में प्रकट करूँगा। क्योंकि अभी मैं उन लोगो की ओर फिरना चाहता हूँ जो उद्वेगो और क्रियाओ को समझने की अपेक्षा उन्हें निन्दा और हँसी का विषय बनाना अधिक पसन्द करते हैं। इन लोगो के लिए यह बहुत अजीब बात होगी कि मैं मनुष्यो की बुराइयो और त्रुटियो का रेखागणित की विधि के अनुसार वर्णन करने का यत्न करने लगा हूँ, और उन चीजो को यथार्थ युक्ति से सिद्ध करना चाहता हूँ जिन्हे वे बुद्धि के प्रतिकूल असार, अर्थहीन और घृणित समझकर फटकारते हैं। इस पर भी यह मेरा आयोजन है। सर्ग में कुछ नहीं होता जिसे इसकी त्रुटि का परिणाम कह सके, क्योंकि सर्ग सदा और हर कही एकरस है, और इसकी क्रिया करने की योग्यता और शक्ति, अर्थात् वे नियम जिनके अनुसार सभी पदार्थ बनते और एक रूप से दूसरे रूप में बदलते हैं, हर कही और सदा एक ही है, और इसलिए सभी पदार्थों की प्रकृति को समझने की विधि अवश्यमेव एक ही होनी चाहिए, अर्थात् प्रकृति के व्यापक नियमो और व्यवस्था के अनुसार। क्योंकि द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या और उद्वेग अपनी विशेष स्थिति में प्रकृति की उसी योग्यता और अनिवार्यता से प्रकट होते हैं, जिससे अन्य विशेष पदार्थ प्रकट होते हैं, और इसलिए वे उद्वेग विशेष कारणो को स्वीकार करते हैं जिनके द्वारा वे समझे जाते हैं, और उनमें भी विशेष गुण पाये जाते हैं जो अन्य पदार्थों के गुणो की तरह हमारे अध्ययन के पात्र हैं, और हमें उनके मनन में ही आनन्द आता है। और इसलिए जिस रीति से पूर्व भागो में मैंने ईश्वर और मन का वर्णन किया है, उसी रीति से अब मैं उद्वेगो के स्वरूप और बल का, और उन पर मन के अधिकार का वर्णन करूँगा—और मैं मनुष्य के कर्मों और कामनाओ को बिल्कुल उसी दृष्टि से देखूँगा, जिससे रेखाओ, समतलो और ठोस वस्तुओ को देखता हूँ।

परिभाषाएँ

१ मैं उसे पर्याप्त कारण कहता हूँ, जिसका परिणाम उसके द्वारा विमल और स्पष्ट रूप में ज्ञात हो सकता है। मैं उसे अपर्याप्त या आशिक कारण कहता हूँ, जिसका परिणाम उसके द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता।

२ मैं कहता हूँ कि हम कुछ करते हैं या सकर्मक है, जब हमारे अन्दर या हमारे बाहर कोई ऐसी घटना घटती है जिसके हम पर्याप्त कारण है, अर्थात् (पूर्व परिभाषा) हमारी प्रकृति से कोई ऐसी वस्तु हमारे अन्दर या बाहर उद्भूत

होती है जो केवल उसी के द्वारा विमल और स्पष्ट रूप में समझी जा सकती है। दूसरी ओर, मैं कहता हूँ कि हम सहते या प्रहारित होते हैं, जब हमारी प्रकृति से कोई घटना हमारे अन्दर या बाहर घटती है, जिसका हम आशिक कारण ही होते हैं।

३ उद्वेग से मेरा अभिप्राय शरीर के ऐसे रूपभेदों से है जिनसे शरीर की क्रिया-शक्ति बढ़ती या घटती सहायता पाती, या रुकती है, और इसके साथ ही इन रूपभेदों के प्रत्यय भी अभिप्रेत है।

टीका—इस तरह यदि हम इन रूपभेदों के पर्याप्त कारण हो सके, तो मैं उद्वेग को कर्म के अर्थ में लेता हूँ, विपरीत अवस्था में बहिर्जात उद्वेग के अर्थ में।

स्वीकृत पक्ष

१ मनुष्य-शरीर अनेक रीतियों में प्रभावित हो सकता है, जिनसे इसकी क्रिया-शक्ति बढ़ती या घटती है, और ऐसी रीतियों में भी जो इसकी क्रिया-शक्ति को न बढ़ाती है, न घटाती है।

यह स्वीकृत पक्ष या स्वयत्तय स्वीकृत पक्ष १ पर और प्रमेयिका ५ और ७ पर आधारित है, जिन्हें देखो भाग २, साध्य १३ के अन्त में।

२. मनुष्य के शरीर में बहुतेरे परिवर्तन हो सकते हैं, और इस पर भी यह पदार्थों के प्रभावों या चिह्नों को सुरक्षित रख सकता है (भाग २, साध्य ५) और इसके परिणामस्वरूप पदार्थों के उन्हीं प्रतिबिम्बों को (भाग २, साध्य १७, टिप्पणी)।

साध्य

साध्य १—हमारा मन कुछ क्रियाएँ करता है, और कुछ क्रियाएँ इस पर होती हैं। अर्थात् जिस हृद तक यह पर्याप्त प्रत्ययों से सम्पन्न होता है, उस हृद तक यह अवश्यमेव कुछ क्रियाएँ करता है, और जिस हृद तक इसके प्रत्यय अपर्याप्त होते हैं, उस हृद तक अनिवार्य रूप में इस पर कुछ क्रियाएँ होती हैं।

उपपत्ति—प्रत्येक मनुष्य के कुछ प्रत्यय पर्याप्त होते हैं और कुछ भजित और अस्पष्ट (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी)। परन्तु जो प्रत्यय किसी के मन में पर्याप्त होते हैं, वे ईश्वर में पर्याप्त हैं, उस अंश में कि ईश्वर उस मन का सार है (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय), और जो प्रत्यय किसी के मन में अपर्याप्त

है, वे भी ईश्वर में विद्यमान हैं, परन्तु पर्याप्त (वही उपप्रमेय), उनके पर्याप्त होने का कारण यह नहीं कि ईश्वर में उस मन का सार विद्यमान है, अपितु इसलिए कि उसी समय अन्य वस्तुओं के मन उसके अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रस्तुत प्रत्यय से कुछ परिणाम निकलना अनिवार्य है (भाग १, साध्य ३६) और इस परिणाम का ईश्वर पर्याप्त कारण है (भाग ३, परि० १), इस अंश में नहीं कि वह अनन्त है, अपितु इस अंश में कि उसे उस प्रस्तुत प्रत्यय से प्रभावित समझा जाता है (भाग २, साध्य ९)। परन्तु उस परिणाम का जिसका कि ईश्वर कारण है, जिस हृद तक वह ऐसे प्रत्यय से प्रभावित होता है, जो किसी मनुष्य के मन में पर्याप्त है, वह मन उसका पर्याप्त कारण है (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय)। इसलिए हमारा मन (भाग ३, परि० २) जहाँ तक यह पर्याप्त प्रत्यय रखता है, अनिवार्य रूप में विशेष क्रियाएँ करता है, जो पहला विचाराश था। फिर जो कुछ ऐसे प्रत्यय का परिणाम होता है जो ईश्वर में पर्याप्त हैं, इस स्थिति में नहीं कि उसके मन के अन्तर्गत केवल एक मनुष्य का मन विद्यमान है, अपितु इस स्थिति में कि इस मनुष्य के मन के साथ ही उसमें अन्य प्राणियों के मन भी विद्यमान हैं, उस परिणाम का (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) उस पुरुष का मन पर्याप्त कारण नहीं, केवल आशिक कारण है। और इस तरह (भाग ३, परि० १) मन, जहाँ तक इसके प्रत्यय अपर्याप्त हैं, अवश्यमेव कुछ प्रहारों का शिकार होता है, जो दूसरा विचाराश था। इसलिए हमारा मन, इत्यादि।

इ० सि०

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि जैसे अधिक न्यून मन में अपर्याप्त प्रत्यय होते हैं, वैसे ही अधिक न्यून यह बहिर्जात उद्वेगों के अधीन होता है, और दूसरी ओर जितने अधिक इसके पर्याप्त प्रत्यय होते हैं, उतनी ही अधिक इसमें क्रियाशीलता होती है।

साध्य २—यह शरीर के अधिकार में नहीं कि मन को चिन्तन में लगा सके, न मन के अधिकार में है कि शरीर को गति में विराम में, या किसी अन्य अवस्था में (यदि कोई ऐसी अवस्था है) निर्णीत कर सके।

उपपत्ति—चिन्तन के सभी आकारों का कारण ईश्वर है, इस स्थिति में कि वह एक चिन्तक पदार्थ है, इस स्थिति में नहीं कि किसी अन्य गुण के द्वारा उसका समाधान होता है (भाग २, साध्य ६)। इसलिए मन को चिन्तन में लगानेवाला चिन्तन का एक आकार है, विस्तार का आकार नहीं, अर्थात्

(भाग २, परि०१) यह कोई शरीर नहीं, जो पहला विचाराश था। इसके अतिरिक्त किसी पदार्थ की गति और विराम अवश्यमेव किसी अन्य पदार्थ से प्रकट होने चाहिए, जो पदार्थ आप अपनी गति और विराम में किसी अन्य पदार्थ से निर्णीत हुआ था, और जो कुछ भी किसी पदार्थ में होता है, ईश्वर से प्रकट हुआ होगा, इस अंश में कि उसे चिन्तन के किसी आकार से नहीं, अपितु विस्तार के किसी आकार से प्रभावित समझा जाता है (भाग २, साध्य ६), अर्थात् यह मन का परिणाम नहीं हो सकता, जो (भाग २, साध्य ११) चिन्तन का एक आकार है; जो दूसरा विचाराश था। इसलिए यह शरीर के अधिकार में नहीं, इत्यादि। इ० सि०

टिप्पणी—जो कुछ भाग २, साध्य ७ की टिप्पणी में कहा गया था, उससे ये विचाराश अधिक स्पष्टता से समझ में आ सकते हैं, अर्थात् यह कि मन और शरीर एक ही वस्तु है, जिसका विचार कभी चिन्तन के गुण के तले और कभी विस्तार के गुण के तले होता है। इसका फल यह है कि वस्तुओं की व्यवस्था या घटना-क्रम एक ही है, सर्ग का चिन्तन अब एक गुण के तले और पीछे दूसरे गुण के तले किया जाता है और इसके फलस्वरूप सर्ग में मन के कर्मों और बहिर्जात उद्देश्यों के क्रम के साथ ही शरीर के कर्मों और बहिर्जात उद्देश्यों का क्रम भी चलता है। यह उस प्रकार से भी स्पष्ट है, जिसमें हमने भाग २, साध्य १२ को सिद्ध किया था। और यद्यपि ये बातें ऐसी निर्णीत हैं कि सन्देह का कोई कारण नहीं रह सकता, इस पर भी मैं विश्वास नहीं कर सकता कि यदि अनुभव के आधार पर मैं इसे प्रमाणित न करूँ तो भी मनुष्य तुलित मन से इस पर विचार करने पर तैयार हो सकते हैं। यह ख्याल उनके मन में इतना दृढ़ गड़ गया है कि मन के सकल्प पर शरीर की गति और विराम निर्भर है, और कि शरीर अनेक ऐसी क्रियाएँ करता है जो मन के सकल्प या चतुराई पर ही आधारित हैं।

अभी तक कोई मनुष्य निश्चय नहीं कर सका कि शरीर क्या कर सकता है, नहीं कोई अनुभव से यह जान पाया है कि शरीर प्राकृत नियमों के अधीन ही क्या कर सकता है, जिस अंश में कि प्रकृति को केवल शरीरी या विस्तृत समझा जाय, और मन से निर्णीत न होने की हालत में, क्या नहीं कर सकता। कारण यह कि अभी तक किसी को शरीर की बनावट का पर्याप्त मात्रा में यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, जिसके द्वारा वह इसकी सारी प्रक्रियाओं का समाधान कर सके। मुझे ऐसी बातों के सम्बन्ध में भी चुप रहने की आवश्यकता नहीं, जो पशुओं में

बीखती है, परन्तु मनुष्य की चतुराई से बहुत ऊपर है; और ऐसी बहुतेरी क्रियाओं की बाबत जो निद्रा में चलनेवाले लोग कर बैठते हैं, जिन्हें जागरण में करने का उन्हें साहस न होता। इस सबसे यह स्पष्ट है कि शरीर अपनी प्रकृति के अनुसार बहुतेरे ऐसे कर्म कर सकता है, जिन्हें देखकर मन चकित हो जाता है। फिर, कोई यह नहीं जानता कि मन किस तरह या किन साधनों के प्रयोग से शरीर को गति देता है, न यह कि कितने परिमाण में यह शरीर को गति दे सकता है, न यह कि कितनी तीव्रता से गति दे सकता है। इसका परिणाम यह है कि जब मनुष्य कहते हैं कि यह या वह कार्य मन से उत्पन्न होता है, जो शरीर पर अधिकार रखता है, तो वे नहीं जानते कि क्या कह रहे हैं, या दिखावटी शब्दों में यह स्वीकार करते हैं कि उन्हें उस कार्य के कारण का ज्ञान नहीं, और उसे देखकर उन्हें हैरानी भी नहीं होती। परन्तु इस पर वे कहेंगे कि चाहे वे नहीं जानते कि किन साधनों के प्रयोग से मन शरीर को गति देता है, तो भी अनुभव से इतना तो उन्हें पता लग गया है कि मन चिन्तन के लिए प्रवृत्त न हो, तो शरीर अकर्मक रहता है, और कि यह मन के ही वश में है कि मनुष्य बोले या चुप रहे, और अनेक अन्य क्रियाएँ हैं, जो केवल मन के सकल्प पर निर्भर हैं। परन्तु पहले विचाराश की बाबत मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या अनुभव ने उन्हें यह भी नहीं बताया कि जब शरीर क्रियाविहीन होता है, तो मन में भी चिन्तन की प्रवृत्ति नहीं होती? क्योंकि जब शरीर सोया हो, तो उस समय मन अचेत रहता है, और चिन्तन की वह शक्ति खो बैठता है, जो जागरण में उसे होती है। इसके अतिरिक्त, मेरा ख्याल है कि हर एक ने अनुभव किया होगा कि मन में अपने विषय को विचारने की क्षमता एक-जैसी नहीं होती, परन्तु जितनी अधिक शरीर की क्षमता होती है कि किसी विशेष पदार्थ का प्रतिबिम्ब उसमें अधिक उकसाहट पैदा कर सके, उतना ही अधिक मन उस पदार्थ की ओर अधिक ध्यान देने की ओर प्रवृत्त होता है। परन्तु इस पर वे कहेंगे कि जहाँ तक प्रकृति को केवल विस्तृत समझा जाता है, यह हो नहीं सकता कि केवल प्रकृति के नियमों से मकानों, चित्रों और अन्य ऐसी वस्तुओं का, जो मनुष्य की चातुरी का ही फल होती है, अनुमान हो सके, और कि दृष्टान्त के लिए मनुष्य का शरीर कोई मन्दिर बनाने के अयोग्य है, सिवाय इसके कि इसके लिए मन इसे निर्णीत और प्रेरित करे। परन्तु मैं पहले ही दिखा चुका हूँ कि वे न शरीर के तत्त्व को जानते हैं, न यह कि केवल मनन से क्या अनुमान हो सकता है, और कि स्वयं उन्होंने अनुभव में देखा है कि

बहुतेरी घटनाएँ केवल प्रकृति के नियमों के अनुसार घटती हैं, जिनकी बाबत उन्हें ख्याल नहीं हो सकता था कि वे मन की अध्यक्षता के बिना हो सकती हैं, जैसे वे क्रियाएँ जो निद्रा में चलनेवाले करते हैं, और जिन्हें वे जागरण में देखते, तो चकित हो जाते। और मैं यहाँ मानुष शरीर की बनावट की ओर ध्यान आकर्षित कर सकता हूँ, जो मानव-कला से बनी हुई किसी वस्तु से बहुत उत्कृष्ट है। जो कुछ मैं पहले कह चुका हूँ, उसकी बाबत तो कुछ कहना नहीं, अर्थात् कि प्रकृति से, चाहे किसी गुण के तले इस पर विचार करे, असंख्य वस्तुएँ उद्भूत होती हैं। प्रतिपक्षियों के दूसरे विचाराश की बाबत, निश्चय ही मनुष्यों के व्यवहार बहुत सुखद होते, यदि उनके जबान बन्द रखने की क्षमता भी उतनी होती, जितनी बोलने की है। परन्तु अनुभव पर्याप्त से भी अधिक मात्रा में बताता है कि मनुष्यों के लिए जिह्वा को शासन में रखना अति कठिन है, और कि वे अपने शब्दों की अपेक्षा अपनी इच्छाओं को अधिक सुगमता से नियम में रख सकते हैं। इसके फलस्वरूप बहुतेरे विश्वास करते हैं कि हम केवल उन वस्तुओं के सम्बन्ध में स्वाधीन हैं, जिन्हें हम परिमित रूप में चाहते हैं, क्योंकि तब हम किसी ऐसी वस्तु को, जो प्रायः हमारी स्मृति में आती है, स्मरण करके उन वस्तुओं के लिए अपनी इच्छा को रोक सकते हैं। और उन वस्तुओं के सम्बन्ध में, जिन्हें हम इतनी लालसा से चाहते हैं कि वे किसी तरह हमारे ध्यान से हटाई नहीं जा सकती, हम कदाचित् स्वाधीन नहीं। परन्तु तथ्य यह है कि यदि वे अनुभव में यह न देखते कि हम बहुतेरे ऐसे कर्म करते हैं जिनके लिए पीछे दुखी होते हैं, और कई बार विपरीत उद्देश्यों का मुकाबला करते हुए, हम 'देखते भद्र है, और करते अभद्र' हैं, तो उन्हें यह विश्वास करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि हम अपने सभी कर्मों में स्वाधीन हैं। इस तरह नन्हा बच्चा ख्याल करता है कि वह स्वाधीनता से युद्ध की इच्छा करता है, एक क्रुद्ध बालक समझता है कि वह स्वाधीनता से बदला लेना चाहता है, एक डरपोक बालक समझता है कि वह स्वाधीनता से भाग जाने का निश्चय करता है। फिर एक शराबी समझता है कि वह स्वाधीनता से वह सब कुछ कहता है, जो मद न पिये हुए वह अपने मन में ही रखता। इस तरह एक पागल, एक बातूनी स्त्री, एक बालक, और ऐसे अन्य मनुष्य समझते हैं कि वे मन के स्वाधीन निर्णय से बोलते हैं, जब कि वास्तव में वे बोलने की इच्छा को रोकने में असमर्थ होते हैं, जिस तरह बुद्धि की तरह अनुभव भी स्पष्ट बताता है कि मनुष्य अपने आप को केवल इस-

लिए स्वाधीन समझते हैं कि उन्हें अपने कर्मों का ज्ञान होता है, परन्तु उनके कारणों का ज्ञान नहीं होता, और यह भी कि मन के निश्चय उनकी इच्छाएँ ही हैं जो इसलिए विविध प्रवृत्तियों के अनुसार विविध हैं। क्योंकि प्रत्येक अपने सारे कर्मों को अपने उद्वेग के अनुसार परिमित करता है, और इस तरह जो लोग एक साथ विरोधी उद्वेगों से आक्रान्त होते हैं, उन्हें पता नहीं लगता कि वे चाहते क्या हैं। जो किसी से आक्रान्त नहीं होते, वे सहज ही एक या दूसरे की ओर ढकेले जाते हैं। इन सब बातों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मन का निश्चय और शरीर की इच्छा और निर्णीतता दोनों सर्ग में समकालीन हैं, या यों कहो कि एक ही वस्तु है, जिसे चिन्तन के गुण तले विचारें और उसी के द्वारा व्याख्यात करें, तो हम निश्चय कहते हैं, और जब विस्तार के गुण तले विचारें और गति और विराम के नियमों से अनुमान करें, तो निर्णीतता कहते हैं। जो कुछ इस विषय पर कहा जायगा, उससे यह अधिक स्पष्ट रूप में दीखेगा। क्योंकि एक और विचाराश है जिसकी ओर मैं यहाँ विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, और वह यह कि हम मन के निश्चय से कोई क्रिया नहीं कर सकते, सिवाय इसके कि हमें पहले ऐसा कर चुकने की याद आ जाय, जैसे हम कोई शब्द बोल नहीं सकते, जब तक हमें यह याद न आ जाय कि हमने पहले यह शब्द बोला है। इसके अतिरिक्त किसी बात का याद कर लेना या भूल जाना मन की स्वाधीन शक्ति में नहीं। इसलिए इसे मन की स्वाधीन शक्ति में इसी अंश में समझना चाहिए कि जो कुछ हम स्मरण करते हैं, उसकी बाबत हम मन के निश्चय के अनुसार चुप रह सकते हैं, या कुछ कह सकते हैं। क्योंकि जब हम स्वप्न में बोलते हैं, तो हमें ख्याल होता है कि हम मन के स्वाधीन निश्चय से बोल रहे हैं, इस पर तथ्य यह होता है कि हम बोलते नहीं, या यदि बोलते हैं, तो यह बोलना शरीर की स्वाभाविक गति का परिणाम होता है। फिर हमें स्वप्न आता है कि हम किसी वस्तु को मनुष्यों से छिपा रहे हैं, और समझते हैं कि हम यह मन के उसी निश्चय के अनुसार करते हैं, जिसके अनुसार हम जागरण में किसी ऐसी बात की बाबत जिसका हमें ज्ञान है, चुप रहते हैं। तीसरी बात यह कि हम स्वप्न देखते हैं कि हम ऐसी क्रियाएँ कर रहे हैं, जिन्हें जागृति में करने का हम साहस न करते, और इसलिए मैं यह जानना चाहूँगा कि क्या मन में दो प्रकार के निश्चय होते हैं; तरंगी और स्वाधीन? परन्तु यदि हमारी मूर्खता इतनी बड़ी नहीं, तो हमें अवश्य मानना चाहिए कि मन का यह निश्चय, जिसे स्वाधीन समझा जाता है, कल्पना

या स्मृति से पृथक् नहीं किया जा सकता, न ही यह उस प्रतिज्ञा से कुछ भिन्न है जो किसी प्रत्यय में, इसके प्रत्यय होने की स्थिति में, निहित है (भाग २ साध्य ४९)। और इसलिए मन के ये आदेश उसी अनिवार्यता से मन में व्यक्त होते हैं, जिससे वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले पदार्थों के प्रत्यय। इसलिए जो लोग विश्वास करते हैं कि वे मन के स्वाधीन निश्चय से बोलते हैं, चुप रहते हैं, या कोई अन्य क्रिया करते हैं; स्वप्न देखते हैं, यद्यपि उनकी आंखें खुली हैं।

साध्य ३—मन के कर्म पर्याप्त प्रत्ययों का ही परिणाम होते हैं, परन्तु बहिर्जात उद्वेग केवल अपर्याप्त प्रत्ययों पर निर्भर होते हैं।

उपपत्ति—प्रथम वस्तु जो मन का सार है, वस्तुतः विद्यमान शरीर का प्रत्यय है (भाग २, साध्य ११ और १३), जो (भाग २ साध्य १५) अनेक अन्य वस्तुओं में बना है, जिनके प्रत्ययों में (भाग २, साध्य ३८, उपप्रमेय) कुछ पर्याप्त और निश्चित होते हैं (भाग २, साध्य २९, उपप्रमेय) और कुछ (भाग २ साध्य १) अपर्याप्त। इसलिए जो कुछ भी मन की प्रकृति से उद्भूत होता है और जिसका मन समीप-कारण है जिसके द्वारा इसे समझना चाहिए, वह अवश्य-मेव किसी पर्याप्त या अपर्याप्त प्रत्यय का परिणाम होना चाहिए। परन्तु जहाँ तक मन के प्रत्यय (भाग २, साध्य १) अपर्याप्त होते हैं, उस हद तक यह अनिवार्य रूप में प्रेरित होता है। इसलिए मन की क्रियाएँ पर्याप्त प्रत्ययों का ही परिणाम होती हैं, और मन के बहिर्जात उद्वेगों का एक मात्र कारण यह है कि इसके प्रत्यय अपर्याप्त हैं। इ० सि०

टिप्पणी—इस तरह हम देखते हैं कि बहिर्जात उद्वेगों का मन से इसी अंश में संबन्ध है कि मन में एक अंश ऐसा है जिसमें एक निषेध निहित है, या इस अंश में कि इसे सर्ग का ऐसा भाग समझा जाता है, जो अपने आप में और अन्य पदार्थों के बिना, विमल और स्पष्ट रूप में जाना नहीं जा सकता; और इस प्रकार के तर्क से मैं दिखा सकता था कि बहिर्जात उद्वेग विशेष पदार्थों की ओर उसी प्रकार निर्दिष्ट होते हैं, जिस प्रकार मन की ओर, और वे किसी अन्य प्रकार से जाने नहीं जा सकते, परन्तु मेरा प्रयोजन केवल मनुष्य के मन की बाबत विचार करना है।

साध्य ४—कोई वस्तु किसी बाहरी कारण के बिना विनष्ट नहीं हो सकती।

उपपत्ति—यह साध्य स्वतः सिद्ध है। क्योंकि किसी वस्तु की परिभाषा इसके सार की घोषणा करती है, इसके निषेध की घोषणा नहीं करती; या यह उस

वस्तु का सार उस पर थोपती है, उसे सार से वंचित नहीं करती। और इस तरह जब तक हम इस वस्तु का ही चिन्तन करते हैं, और बाहरी कारणों का नहीं करते, तो हम इसमें कोई ऐसा अंश नहीं पा सकते जो इसे विनष्ट कर सके।

इ० सि०

साध्य ५—यदि दो वस्तुओं में एक दूसरी का विनाश कर सके, तो वे प्रकृति से एक दूसरी की विरोधी हैं, अर्थात् वे दोनों एक ही विषयी में विद्यमान नहीं हो सकती।

उपपत्ति—यदि वे एक दूसरी के अनुकूल होती, या एक ही विषयी में एक साथ विद्यमान हो सकती, तो विषयी में ऐसा अंश मिल सकता, जो इसे विनष्ट कर सकता, जो (पूर्व साध्य) अर्थहीन है। इसलिए कोई वस्तु, इत्यादि। **इ० सि०**

साध्य ६—प्रत्येक वस्तु, जहाँ तक यह अपने आप में है, अपनी सत्ता में स्थिर रहने का यत्न करती है।

उपपत्ति—विशेष वस्तुएँ ऐसे आकार हैं, जिनमें ईश्वर के गुण एक विशेष निर्णीत प्रकार में व्यक्त होते हैं (भाग १, साध्य २५, उपप्रमेय), अर्थात् (भाग १, साध्य ३४) वे ऐसी वस्तुएँ हैं जो एक निर्णीत प्रकार में ईश्वर की शक्ति को, जिससे वह विद्यमान है और क्रिया करता है, व्यक्त करती हैं। न ही किसी वस्तु में कोई ऐसी चीज हो सकती है, जिससे इसका विनाश हो सके, या जो इसे इसके अस्तित्व से वंचित कर सके (भाग ३, साध्य ४), परन्तु इसके विपरीत, यह हर एक ऐसी चीज का विरोध करती है जो इसका अस्तित्व छीन सके (पूर्व साध्य)। इसलिए जहाँ तक इसके वश में है, और यह अपने आप में है, यह अपनी सत्ता में स्थिर रहने का प्रयत्न करती है। **इ० सि०**

साध्य ७—जिस यत्न से कोई वस्तु अपनी सत्ता में स्थिर रहने का प्रयत्न करती है, वह उस वस्तु के वास्तविक सार से भिन्न कुछ नहीं।

उपपत्ति—किसी वस्तु के प्रस्तुत सार से कुछ परिणाम अनिवार्य रूप में निकलते हैं (भाग १, साध्य ३६) और वस्तुएँ कुछ भी कर नहीं सकती, सिवाय उसके कि जो उनकी निर्णीत प्रकृति से अनिवार्य रूप में उद्भूत होता है (भाग १, साध्य २९)। इसलिए किसी वस्तु की शक्ति या प्रयत्न जिससे यह अकेली या दूसरी वस्तुओं के सहयोग में, कुछ करती है, या करने का यत्न करती है, अर्थात् वह शक्ति या प्रयत्न जिससे यह अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करती है, उस वस्तु के प्रस्तुत या वास्तविक सार से भिन्न कुछ नहीं। **इ० सि०**

साध्य ८—जिस यत्न से कोई वस्तु अपनी सत्ता को स्थिर रखने का यत्न करती है, उसमें कोई सीमित काल नहीं, अपितु सीमारहित काल निहित है।

उपपत्ति—यदि इसमें सीमित काल निहित हो जो इसकी अवधि को अवश्य निश्चित करे, तो जिस शक्ति से उस वस्तु का अस्तित्व कायम है, उसी के कारण सीमित काल बीत जाने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा, कायम न रह सकेगा। परन्तु यह (भाग ३, साध्य ४) अर्थहीन है। इसलिए जिस यत्न से कोई वस्तु विद्यमान रहने का यत्न करती है, उसमें कोई निश्चित काल निहित नहीं होता; परन्तु दूसरी ओर, चूँकि किसी बाहरी वस्तु से इसका विनाश नहीं होता, यह जिस शक्ति से अब विद्यमान है उसी से सदा विद्यमान रहेगी, इसलिए इस प्रयत्न में कोई सीमित काल निहित नहीं। **इ० सि०**

साध्य ९—मन, इस स्थिति में कि यह विमल और स्पष्ट प्रत्ययो और अस्पष्ट प्रत्ययो से सम्पन्न है, अपनी सत्ता को अनिश्चित काल के लिए बनाये रखने का यत्न करता है, और इसे अपने इस यत्न का ज्ञान भी होता है।

उपपत्ति—मन का सार पर्याप्त और अपर्याप्त प्रत्यय है (जैसा हमने भाग ३, साध्य ३ में दिखाया), और इसलिए (भाग ३, साध्य ७) जिस अंश में यह पर्याप्त या अपर्याप्त प्रत्यय रखता है, यह अपनी सत्ता को बनाये रखने का यत्न करता है, और यह एक अनिश्चित काल के लिए (भाग ३, साध्य ८)। परन्तु चूँकि मन (भाग २, साध्य २३) अनिवार्य रूप में अपने शरीर के रूपभेदों को प्रत्ययों के द्वारा जानता है, इसलिए मन को (भाग ३, साध्य ७) अपने यत्न का ज्ञान होता है। **इ० सि०**

टिप्पणी—यह यत्न जब यह मन की ओर ही संकेत करता है, सकल्प कहलाता है, परन्तु जब यह मन और शरीर दोनों की ओर एक साथ संकेत करता है, तो इसे तृषा कहते हैं, जो इसलिए मनुष्य का सार ही है, जिसकी प्रकृति से सभी वस्तुएँ जो इसकी सुरक्षा में सहायक होती हैं, अनिवार्य रूप में उद्भूत होती हैं, और इसलिए मनुष्य इन क्रियाओं को करने के लिए निर्णीत होता है। अब तृषा और इच्छा में केवल इतना ही भेद है कि साधारणतः हम इच्छा का जिक्र मनुष्यों के सबन्ध में करते हैं, जहाँ तक कि उन्हें अपनी इच्छाओं का ज्ञान होता है; और इसलिए हम कह सकते हैं कि इच्छा एक तृषा है जिसे इसका ज्ञान है। तब हम इसमें यह परिणाम निकाल सकते हैं कि हम किसी वस्तु के लिए यत्न नहीं करते, इसकी आकांक्षा, इच्छा या अभिलाषा नहीं करते, क्योंकि हम इसे शुभ समझते हैं, परन्तु दूसरी ओर,

चूँकि हम इसके लिए यत्न करते हैं, इसकी आकांक्षा, इच्छा या अभिलाषा करते हैं, इसलिए इसे शुभ समझते हैं।

साध्य १०—जो प्रत्यय हमारे शरीर के अस्तित्व को भग कर देता है, वह हमारे मन का अंश नहीं हो सकता, परन्तु उसके विपरीत है।

उपपत्ति—जो कुछ हमारे शरीर का विनाश कर सकता है, वह शरीर में स्वीकृत नहीं हो सकता (भाग ३, साध्य ५)। इसलिए इस वस्तु का प्रत्यय ईश्वर में स्वीकृत नहीं हो सकता, इस अंश में कि उसे हमारे शरीर का ज्ञान है (भाग २, साध्य ९, उपप्रमेय), अर्थात् (भाग २, साध्य ११ और १३) इस वस्तु का प्रत्यय हमारे मन में विद्यमान नहीं हो सकता; परन्तु दूसरी ओर, चूँकि (भाग २, साध्य ११ और १३) प्रथम वस्तु जो हमारे मन का सार है, वस्तुगत अस्तित्व रखनेवाले शरीर का प्रत्यय है, हमारे मन का प्रथम और प्रमुख यत्न यही है कि हमारे शरीर के अस्तित्व को घोषित करे (भाग ३, साध्य ७)। और इसलिए जो प्रत्यय हमारे शरीर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, हमारे मन के प्रतिकूल है, इत्यादि।

इ० सि०

साध्य ११—जो कुछ हमारे शरीर की क्रिया-शक्ति को बढ़ाता या घटाता है, सहायता देता या रोकता है, उसका प्रत्यय हमारे मन की चिन्तन-शक्ति बढ़ाता या घटाता है, सहायता देता या रोकता है।

उपपत्ति—यह साध्य भाग २, साध्य ७ से, या भाग २, साध्य १४ से भी स्पष्ट है।

टिप्पणी—इस तरह हम देखते हैं कि मन में बड़े-बड़े परिवर्तन हो सकते हैं, और यह कभी अधिक पूर्णता और कभी थोड़ी पूर्णता की ओर बढ़ाता है, ये स्थिति-परिवर्तन हमारे लिए सुख और दुःख के उद्वेगों का समाधान करते हैं। आगामी साध्यों में, मैं सुख से ऐसा बहिर्जाति उद्वेग समझूँगा, जिससे मन पूर्णता की उत्तम अवस्था की ओर बढ़ता है, और दुःख से ऐसा बहिर्जाति उद्वेग समझूँगा जिससे यह अधम अवस्था की ओर चलता है। फिर, जो सुख का उद्वेग एक साथ मन और शरीर की ओर सकेत करता है, उसे मैं उत्तेजना या विनोद कहता हूँ; दुःख के ऐसे उद्वेगों को शोक या उदासी कहता हूँ। परन्तु इसे ध्यान में रखना चाहिए कि उत्तेजना और शोक मनुष्य की ओर सकेत करते हैं, जब कि एक भाग अन्य भागों से अधिक प्रभावित होता है, परन्तु विनोद या उदासी की हालत में सभी भाग बराबर प्रभावित होते हैं। इच्छा की व्याख्या मैं भाग ३, साध्य ९ की टिप्पणी में कर चुका हूँ,

और इन तीनों के अतिरिक्त मैं किसी अन्य मौलिक उद्देश को स्वीकार नहीं कर क्योंकि आगामी साध्यों में मैं दिखाऊंगा कि शेष सभी उद्देश इनसे उत्पन्न होते। परन्तु आगे बढ़ने से पहले, मुझे इस भाग के साध्य १० की सक्षिप्त व्याख्या कर चाहिए, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि एक प्रत्यय किस प्रकार दूसरे प्रत्यय के प्रतिवृत्त हो सकता है।

भाग २, साध्य १७ की टिप्पणी में हमने दिखाया था कि जो प्रत्यय मन का स है, उसमें शरीर का अस्तित्व, जब तक कि यह विद्यमान रहता है, निहित है। पि जो कुछ हमने भाग २, साध्य ९, उपप्रमेय और इसकी टिप्पणी में दिखाया है उससे यह नतीजा निकलता है कि हमारे मन का वर्तमान अस्तित्व केवल इस ब पर निर्भर है कि मन में शरीर का वास्तविक अस्तित्व निहित है। इसके ब हमने दिखाया कि मन की शक्ति जिसमें यह वस्तुओं की कल्पना करता और उ याद करता है, इस पर निर्भर है (भाग २, साध्य १७ और १८ और इसकी टिप्पणी कि मन में शरीर का वास्तविक अस्तित्व निहित है। इसका परिणाम यह है। मन का वर्तमान अस्तित्व और इसकी कल्पना-शक्ति उसी समय समाप्त हो ज है, जब मन शरीर के वर्तमान अस्तित्व की प्रतिज्ञा करना बन्द कर देता है। पर वह कारण जिसके आधार पर मन शरीर के वर्तमान अस्तित्व की प्रतिज्ञा करना ब कर देता है, स्वयं मन नहीं हो सकता (भाग २, साध्य ४), न यह तथ्य कि शरी का अस्तित्व नहीं रहा। क्योंकि (भाग २, साध्य ६) जिस हेतु के आधार पर शरीर के अस्तित्व का दृढ कथन करता है, यह नहीं कि शरीर की सत्ता का आग होता है; और इसी तर्क के अनुसार यह शरीर के अस्तित्व की प्रतिज्ञा करना इसलिए बन्द नहीं कर देता कि शरीर का अभाव हो गया है; परन्तु (भाग २, साध्य ८ इसका आधार एक और प्रत्यय है, जो हमारे शरीर के अस्तित्व को काट देता और इसके परिणामस्वरूप हमारे मन के अस्तित्व को भी, और जो, इसलिए उस प्रत्यय के प्रतिकूल है, जो हमारे मन का सार है।

साध्य १२—मन, जहाँ तक इसके वश में है, उन वस्तुओं की कल्पना का का यत्न करता है जो इसकी क्रिया-शक्ति को बढ़ाती है या इसकी सहाय करती है।

उपपत्ति—जब तक मनुष्य-शरीर ऐसे आकार में प्रभावित होता है जो कि बाहरी पदार्थ की ओर सकेत करता है, तब तक मनुष्य का मन उस पदार्थ विद्यमान समझता है (भाग २, साध्य १७), और इसलिए (भाग २, साध्य १

जब तक मनुष्य का मन किसी बाहरी पदार्थ को उपस्थित समझता है, अर्थात् (उस साध्य पर टिप्पणी) जब तक यह कल्पना करता है, तब तक मनुष्य का मन ऐसे आकार में प्रभावित होता है, जो बाहरी पदार्थ की प्रकृति की ओर सकेत करता है। और इसलिए जब तक मन उन पदार्थों की कल्पना करता है जो हमारे शरीर की क्रिया-शक्ति को बढ़ाते या सहायता देते हैं, तब तक शरीर ऐसे आकार में प्रभावित होता है, जो इसकी क्रिया-शक्ति को बढ़ाते या सहायता देते हैं (भाग ३, साध्य १) और इसके फलस्वरूप (भाग ३, साध्य ११) तब तक मन में चिन्तन की शक्ति बढ़ती या सहायता पाती है। और इसलिए (भाग ३, साध्य ६ या ९) मन, जितना इसके वश में होता है, उन पदार्थों की कल्पना करने का यत्न करता है।

इ० सि०

साध्य १३—जब मन ऐसे पदार्थों की कल्पना करता है जो शरीर की क्रिया-शक्ति को घटाती या रोकती हैं, तो, जितना इससे बन पड़ता है, यह ऐसी वस्तुओं को स्मरण करने का यत्न करता है जो उन पदार्थों के अस्तित्व को काट देगी।

उपपत्ति—जब तक मन किसी ऐसे पदार्थ की कल्पना करता है, तब तक मन और शरीर की शक्ति घटती या रुकती है (जैसा हमने पूर्व साध्य में दिखाया है) और, इस पर भी, मन इसकी कल्पना करता जायगा, जब तक यह किसी ऐसी वस्तु को स्मरण न कर ले, जो इसके वर्तमान अस्तित्व को काटती है (भाग २, साध्य १७), अर्थात् (जैसा हम शीघ्र दिखायेंगे), मन और शरीर की शक्ति घटती रहती है, जब तक कि मन किसी अन्य वस्तु की कल्पना न करे जो इस पदार्थ के अस्तित्व को भग कर दे, और जिसे, इसलिए, मन (भाग ३, साध्य ९) जहाँ तक इससे बन पड़ता है, विचारने या याद करने का यत्न करता है। **इ० सि०**

उपप्रेमेय—इसका परिणाम यह है कि मन ऐसे पदार्थों का चिन्तन करना नहीं चाहता, जो इसकी ओर शरीर की शक्ति को कम करते या रोकते हैं।

टिप्पणी—इससे हम स्पष्ट समझ लेते हैं कि प्रेम क्या है और द्वेष क्या है, अर्थात्, प्रेम वह सुख ही है जिसके साथ किसी बाहरी कारण का प्रत्यय मिला है, और द्वेष वह दुःख है जिसके साथ किसी बाहरी कारण का प्रत्यय मिला है। फिर हम देखते हैं कि जो मनुष्य प्रेम करता है, वह अनिवार्य रूप में अपने प्रेम के विषय को विद्यमान और सुरक्षित रखने का यत्न करता है; और दूसरी ओर, जो द्वेष करता है, वह जिस वस्तु से द्वेष करता है, उसे हटाने और नष्ट करने का यत्न करता है। परन्तु इनकी बावत आगे चलकर अधिक कहना होगा।

साध्य १४—यदि मन एक बार एक साथ दो उद्वेगो से प्रभावित हो, तो पीछे जब कभी यह उनमे से एक से प्रभावित होता है, तो दूसरे से भी प्रभावित हो जायगा।

उपपत्ति—यदि मानुष शरीर एक बार एक साथ दो पदार्थों से प्रभावित हुआ था, तो पीछे जब मन एक की कल्पना करता है, तो यह तुरन्त दूसरे को स्मरण करेगा (भाग २, साध्य १८)। परन्तु हमारे मन की कल्पनाएँ बाहरी पदार्थों की प्रकृति से अधिक हमारे शरीर के रूपभेदों को प्रकट करती है (भाग २, साध्य १६, उपप्रमेय २)। इसलिए यदि शरीर, और इसके फलस्वरूप मन (भाग ३, परि० ३), कभी एक साथ दो उद्वेगो से प्रभावित हुआ था, तो पीछे जब यह एक से प्रभावित हो, दूसरे से भी प्रभावित हो जायगा। इ० सि०

साध्य १५—कोई वस्तु भी आकस्मिक रूप में सुख, दुःख और इच्छा का कारण हो सकती है।

उपपत्ति—फर्ज करे कि मन एक साथ दो उद्वेगो से प्रभावित होता है, जिनमे से एक इसकी क्रिया-शक्ति को न बढ़ाता न घटाता है, और दूसरा इसे बढ़ाता या घटाता है (भाग ३, स्वीकृत पक्ष १)। पूर्व साध्य से यह स्पष्ट है कि जब पीछे मन उस उद्वेग से उसके यथार्थ कारण के द्वारा प्रभावित होता है, जो अपनी योग्यता के आधार पर इसकी चिन्तन-शक्ति को न बढ़ाता है न घटाता है, तो यह उसी समय उस दूसरे उद्वेग से प्रभावित होगा जो इसकी चिन्तन-शक्ति को बढ़ाता या घटाता है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी), यह सुख या दुःख को अनुभव करेगा, और इसलिए पहला उद्वेग, अपने द्वारा नहीं अपितु संयोग से, सुख या दुःख का कारण होगा। और इस तरह यह सहज दिखाया जा सकता है कि वह वस्तु आकस्मिक रूप से इच्छा का कारण हो सकती है। इ० सि०

उपप्रमेय—केवल इसलिए कि हमने किसी वस्तु को सुख या दुःख के उद्वेगो के साथ विचारा है, हम इससे प्रेम कर सकते हैं या इससे द्वेष कर सकते हैं, यद्यपि यह उस सुख या दुःख का कारण न थी।

उपपत्ति—इसी से यह हो जाता है (भाग ३, साध्य १४) कि मन उस वस्तु की कल्पना करने पर सुख या दुःख के उद्वेग से प्रभावित होता है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) मन या शरीर की शक्ति बढ़ या घट जाती है, और इसके परिणामस्वरूप (भाग ३, साध्य १२) मन इसकी कल्पना करने के लिए उत्सुक या विमुख हो जाता है (भाग ३, साध्य १३, उपप्रमेय), अर्थात् (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) यह इससे प्रेम या द्वेष करता है। इ० सि०

टिप्पणी—इससे हमें पता लगता है कि क्यों हम कुछ वस्तुओं से किसी ज्ञात कारण के बिना ही प्रेम या द्वेष करते हैं, सिवाय उसके जिसे सहानुभूति या प्रतिभूति कहा जाता है। इसकी ओर हमें उन पदार्थों को भी निर्दिष्ट करना चाहिए जो हमें सुखी या दुखी करते हैं, केवल इसलिए कि वे किसी ऐसी वस्तु में जो हमें सुख या दुख दिया करती है, किसी अश में मिलते-जुलते हैं, जैसा मैं अगले साध्य में दिखाऊँगा। मैं जानता हूँ कि कुछ लेखक जिन्होंने पहले 'सहानुभूति' और 'प्रतिभूति' का प्रयोग किया, इनसे कुछ गुप्त गुण दर्शाना चाहते थे, परन्तु इस पर भी मेरा ख्याल है कि हम इन शब्दों से ज्ञात या प्रत्यक्ष गुण समझ सकते हैं।

साध्य १६—यदि हम किसी वस्तु की कल्पना करें, जो ऐसी वस्तु के समान है जिससे हमें सुख या दुःख का अनुभव हुआ करता है, तो इस कल्पना से ही यह वस्तु भी हमारे लिए सुखद या दुःखद होगी, यद्यपि जिस अश में समानता है, वह सुख या दुःख का कारण नहीं, और हम इससे द्वेष या प्रेम करेंगे।

उपपत्ति—जो कुछ समान अश है, उसका वस्तु में चिन्तन करते हुए हमने सुख या दुःख को अनुभव किया है (प्रतिज्ञा से), और इसलिए (भाग ३, साध्य १४) जब मन इसके प्रतिबिम्ब से प्रभावित होता है, तो इसके साथ ही एक या दूसरे उद्वेग से भी प्रभावित होता है, और इसके परिणामस्वरूप जिस वस्तु में हम यह अश देखते हैं, वह भी (भाग ३, साध्य १५) इस योग के कारण सुख या दुःख का कारण होगी। और इसलिए (पूर्व उपप्रमेय) यद्यपि जिस अश में यह उस वस्तु के समान है, उन उद्वेगों का जनक कारण नहीं, इस पर भी हम इससे प्रेम या द्वेष करेंगे। इ० सि०

साध्य १७—यदि हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में जो हमारे मन में शोक का उद्वेग किया करती है, किसी ऐसे अश का चिन्तन करें जो उसमें और उसके बराबर सुख देनेवाली वस्तु में समान विद्यमान है, तो हम उस वस्तु से एक साथ द्वेष और प्रेम करेंगे।

उपपत्ति—यह वस्तु (प्रतिज्ञा के अनुसार) अपने आप में दुःख का कारण है, और (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) जिस हृद तक हम इसकी कल्पना इस उद्वेग के साथ करते हैं, हम इससे द्वेष करते हैं, और जिस हृद तक हम कल्पना करते हैं कि यह दूसरी वस्तु के समान है, जो उसी मात्रा में हमें सुख दिया करती है, हम इससे उतना ही प्रेम करते हैं (पूर्व साध्य)। और इसलिए हम एक साथ इससे द्वेष और प्रेम करते हैं। इ० सि०

टिप्पणी—मन की यह प्रवृत्ति जो दो विरोधी उद्देशों से उत्पन्न होती है, मन की अस्थिरता कहलाती है, और उद्देशों के साथ इसका सबन्ध वही है, जो सदेह का कल्पना के साथ है (भाग २, साध्य ४; टिप्पणी); न ही मन की अस्थिरता और सदेह में मात्रा के अतिरिक्त कुछ भेद है। परन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि पूर्व साध्य में मैंने इन अस्थिरताओं को ऐसे कारणों का फल बताया है, जिनमें से एक तो एक उद्देश को आप जन्म देता है, और दूसरा संयोग से। ऐसा कहने में मेरा आशय इन्हें सुगमता से ऐसे कारणों से उद्भूत करना था, जो पहले विद्यमान थे; इसलिए नहीं कि मैं यह अस्वीकार करता हूँ कि सामान्य रूप से मन की अस्थिरताएँ ऐसे पदार्थ से उत्पन्न होती हैं जो दोनों में हर एक उद्देश का जनक कारण है। क्योंकि मनुष्य-शरीर (भाग २, स्वीकृत पक्ष १) विविध प्रकृति के अनेक भागों का बना है, और इसलिए (भाग २, साध्य १३ के पीछे दिया गया स्वयं १, प्रमेयिका ३ के अन्त में) यह एक ही पदार्थ से अनेक भिन्न रूपों में प्रभावित हो सकता है; और दूसरी ओर, चूँकि एक ही पदार्थ अनेक आकारों में प्रभावित हो सकता है, इसलिए यह शरीर के एक ही भाग को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रभावित कर सकता है। इसमें हम सहज ही यह समझ सकते हैं कि एक ही पदार्थ कई विपरीत उद्देशों का कारण हो सकता है।

साध्य १८—किसी विद्यमान पदार्थ की कल्पना से सुख या दुःख का जो उद्देश किसी मनुष्य को अनुभूत होता है, वही भूत या भविष्य पदार्थ की कल्पना से होता है।

उपपत्ति—जितनी बार कोई मनुष्य किसी पदार्थ के प्रतिबिम्ब से प्रभावित होता है, उतनी ही बार वह उस पदार्थ को विद्यमान समझता है, चाहे उसका अस्तित्व न हो (भाग २, साध्य १७, और इसका उपप्रमेय), वह इसे भूत या भविष्यत् ख्याल नहीं करेगा, सिवाय इस अंश के कि इसका बिम्ब भूत या भविष्य काल के बिम्ब से सबद्ध हो (भाग २, साध्य ४४, टिप्पणी)। इसलिए पदार्थ का बिम्ब, अपनी स्थिति में, वही है, चाहे यह वर्तमान, भूत या भविष्य काल की ओर संकेत करे, अर्थात् (भाग २, साध्य १६, उपप्रमेय २) शरीर की प्रवृत्ति या उद्देश वही होता है, चाहे पदार्थ की कल्पना वर्तमान, भूत या भविष्य हो। और इस तरह सुख या दुःख का उद्देश वही होता है, चाहे पदार्थ का बिम्ब वर्तमान, भूत या भविष्य हो। **इ० सि०**

टिप्पणी १—मैं किसी वस्तु को इसी अंश में भूत या भविष्यत् कहता हूँ कि हम इससे प्रभावित हुए थे या होंगे। दृष्टान्त के लिए, जिस अंश में हमने इसे देखा

था या देखेगे, इसने हमें आनन्दित किया या करेगी, इसने हमें हानि पहुँचायी या पहुँचायेगी, इत्यादि। क्योंकि जिस हृद तक हम इस तरह इसकी कल्पना करते हैं, उस हृद तक हम इसके अस्तित्व की प्रतिज्ञा करते हैं, अर्थात् कोई वस्तु किसी ऐसे उद्वेग में प्रभावित नहीं होती, जो इसके अस्तित्व को उड़ा देता है, और इसलिए (भाग २, साध्य १७) शरीर उस वस्तु की कल्पना से उसी तरह प्रभावित होता है, जैसे वस्तु के विद्यमान होने की हालत में होता। परन्तु चूँकि वास्तव में कई बार ऐसा होता है कि जिन लोगों को अनुभव अधिक होता है, वे किसी वस्तु का भविष्य या भूत विचारते हुए अस्थिर चित्त हो जाते हैं, और आम तौर पर इसके घटने की बाबत सन्देह में पड़ जाते हैं (भाग २, साध्य ४४, टिप्पणी), इसलिए ऐसा होता है कि जो उद्वेग इस प्रकार की कल्पनाओं से उत्पन्न होते हैं, वे अचल नहीं होते, अपितु आम तौर पर अन्य वस्तुओं की कल्पनाओं से अस्थिर हो जाते हैं, जब तक कि मनुष्य को वस्तु की स्थिति की बाबत निश्चय नहीं हो जाता।

टिप्पणी २—जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे अब हम समझ सकते हैं कि आशा, भय, भरोसा, मायूसी, प्रसन्नता और निराशा क्या हैं। क्योंकि आशा उस अस्थिर मुख में भिन्न कुछ नहीं, जो किसी भविष्य या भूत वस्तु की कल्पना से होता है, जिसकी वास्तविकता की बाबत हमें सन्देह है, दूसरी ओर भय वह अस्थिर शोक है, जो एक सदिग्ध वस्तु की कल्पना से पैदा होता है। फिर यदि इन उद्वेगों से सन्देह दूर हो जाय, तो आशा भरोसा बन जाती है, और भय पूर्ण मायूसी बन जाता है, अर्थात् वह सुख या दुःख जो ऐसी वस्तु की कल्पना से उदित हुआ है, जिसमें हम डरते हैं, या जिसकी आशा करने हैं। फिर प्रसन्नता वह सुख है जो ऐसी भूत वस्तु की कल्पना से उदित होता है, जिसकी वास्तविकता की बाबत हमें सन्देह था। यदि यहाँ सुख का स्थान दुःख को दिया जाय, तो यह निराशा है।

साध्य १९—जो मनुष्य किसी वस्तु से प्रेम करता है, वह उसके विनाश का कल्पना से उदास होता है, यदि वह इसके सुरक्षित होने की कल्पना करता है, तो प्रसन्न होता है।

उपपत्ति—जहाँ तक इसके वश में होता है, मन ऐसी वस्तुओं की कल्पना करने का यत्न करता है, जो शरीर की क्रिया-शक्ति को बढ़ाती है, या सहायता देती है (भाग ३, साध्य १२), अर्थात् (साध्य १३, टिप्पणी) उन वस्तुओं का जिनसे यह प्रेम करता है। परन्तु कल्पना को ऐसी चीजों से सहायता मिलती है, जो किसी वस्तु पर अस्तित्व ठोसे, और दूसरी ओर, यह उन चीजों से बाधित होती है, जो किसी

वस्तु को अस्तित्व से वंचित कर दे (भाग २, साध्य १७)। इसलिए ऐसी वस्तुओं की कल्पनाएँ, जो किसी प्रिय वस्तु के अस्तित्व को ठोसती हैं, मन के यत्न को, जिससे यह प्रिय वस्तु की कल्पना करता है, सहायता देती हैं, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) वे मन को मुख देती हैं, और, दूसरी ओर, जो चीजे किसी प्रिय वस्तु को उसके अस्तित्व से वंचित कर देती हैं, वे मन के यत्न को रोकती हैं, अर्थात् (वही टिप्पणी) वे मन को दुःखी करती हैं। और इस तरह जो मनुष्य प्रिय वस्तु के विनाश की कल्पना करता है, वह दुखी होगा, इत्यादि। **इ० सि०**

साध्य २०—जो मनुष्य ऐसी वस्तु के विनाश की कल्पना करता है जिससे वह द्वेष करना है, वह प्रसन्न होगा।

उपपत्ति—मन (भाग ३, साध्य १३) उन वस्तुओं की कल्पना करने का यत्न करता है, जो अन्य वस्तुओं के अस्तित्व का, 'जिनमें शरीर की क्रिया-शक्ति घटती या रुकती है, नाश करती हैं, अर्थात् (उसी साध्य की टिप्पणी) यह ऐसी वस्तुओं की कल्पना करने का यत्न करता है, जो ऐसी अन्य वस्तुओं को काट देती हैं, जिनसे यह द्वेष करता है। और इसलिए उस वस्तु का चित्र जो उस वस्तु के अस्तित्व को काटता है जिससे मन द्वेष करता है, मन के उस यत्न का सहायक होता है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) मन को प्रसन्न करता है। और इस तरह जो मनुष्य ऐसी वस्तु के विनाश की कल्पना करता है, जिसमें वह द्वेष करता है, वह प्रसन्न होगा। **इ० सि०**

साध्य २१—जो मनुष्य अपने प्रिय के सुखी या दुखी होने की कल्पना करता है, वह आप भी सुखी या दुखी होता है, और ये सुख-दुःख प्रेमी में भी उसी तरह अधिक-न्यून होंगे, जिस तरह प्रिय में अधिक-न्यून है।

उपपत्ति—वस्तुओं के चित्र (जैसा हमने भाग ३, साध्य १९ में दिखाया था) जो प्रिय वस्तु को अस्तित्व प्रदान करते हैं, मन के उस यत्न को जिसमें यह प्रिय वस्तु के चिन्तन का यत्न करता है, सहायता देते हैं। परन्तु सुख, सुख अनुभव करने वालों को अस्तित्व प्रदान करता है, और जितना सुख का उद्वेग अधिक होता है, उतना ही अस्तित्व अधिक होता है, क्योंकि सुख पूर्णता की अधिकता की ओर जाना ही है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी)। इसलिए प्रिय वस्तु में सुख का चित्र प्रेमी के मानसिक यत्न को सहायता देता है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) यह प्रेमी को प्रसन्न करता है, और यह प्रसन्नता प्रिय के सुख के उद्वेग के अनुसार अधिक होती है, जो पहला विचारावस्था था। फिर जहाँ तक कोई वस्तु दुःख से प्रभा-

वित होती है, उसी हृद तक उसका हनन होता है, और इसकी मात्रा जनक दुःख की मात्रा के अनुसार बढ़ती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) , और इस तरह (भाग ३, साध्य १९) वह मनुष्य जो अपने प्रिय को दुखी चिन्तन करेगा, आप भी दुखी होगा, और उसका दुःख भी उतना ही अधिक होगा, जितना दुःख का उद्वेग प्रिय वस्तु में था। इ० सि०

साध्य २२—यदि हम कल्पना करे कि कोई वस्तु हमारे प्रिय को प्रसन्नता देती है, तो हम उससे प्रेम करते हैं, और, दूसरी ओर, यदि हम कल्पना करें कि कोई वस्तु हमारे प्रिय को दुखी करती है, तो हम उससे द्वेष करते हैं।

उपपत्ति—जो मनुष्य हमारे प्रिय को सुखी या दुखी करता है, वह हमें भी सुखी या दुखी करता है, अर्थात् यदि हम कल्पना करें कि हमारा प्रिय सुखी या दुखी होता है (पूर्व साध्य)। परन्तु हम फर्ज करते हैं कि हमारी सुख-दुःख की अनुभूति एक बाहरी कारण के प्रत्यय से मिली होती है। इसलिए (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी), यदि हम कल्पना करें कि कोई वस्तु हमारे प्रिय को प्रसन्न या अप्रसन्न करती है, तो हम उससे प्रेम या द्वेष करते हैं। इ० सि०

टिप्पणी—साध्य २१ हमें दया के स्वरूप की बाबत बताता है, जिसका लक्षण हम यो कर सकते हैं—वह दुःख जो दूसरे की हानि से उदय होता है। परन्तु जो सुख दूसरे के कल्याण से उत्पन्न होता है, उसके लिए मेरे पास कोई उचित शब्द नहीं। फिर जो प्रेम हमारे मन में दूसरे का उपकार करनेवाले के लिए उत्पन्न होता है, उसे अनुग्रह कहते हैं, दूसरी ओर जो द्वेष दूसरे के साथ दुर्व्यवहार करने वाले के प्रति होता है, उसे क्रोध कहते हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हम केवल ऐसे व्यक्ति पर करुणा नहीं करते जिससे हमने प्रेम किया है (जैसा हमने साध्य २१ में दिखाया था), अपितु ऐसे पर भी जिसके प्रति हम किसी उद्वेग से प्रभावित नहीं हुए, केवल इसलिए कि हम उसे अपने समान समझते हैं (जैसा मैं आगे चलकर दिखाऊँगा) और इस तरह हम ऐसे व्यक्ति की ओर अनुग्रह का भाव रखते हैं, जो हम जैसे प्राणी को लाभ पहुँचाता है, और, दूसरी ओर, ऐसे पुरुष पर क्रुद्ध होते हैं, जो उसे हानि पहुँचाता है।

साध्य २३—जो पुरुष अपने द्वेष्य के दुखी होने की कल्पना करता है, वह इस कल्पना से प्रसन्न होगा, दूसरी ओर, यदि वह उसके सुखी होने की कल्पना करता है, तो वह उदास या दुखी होगा; और ये उद्वेग उसी तरह अधिक या न्यून होंगे, जिस तरह विपरीत उद्वेग द्वेष्य व्यक्तियों में अधिक या न्यून थे।

उपपत्ति—जिस हृद तक कोई द्वेष्य प्राणी दुखी होता है, उस हृद तक उसका हनन होता है, और यह उतना ही अधिक होता है, जितना अधिक उसका दुःख था (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी)। इसलिए जो कोई (भाग ३, साध्य २०) उस प्राणी को, जिससे वह द्वेष करता है, दुखी समझता है, विपरीत मात्रा में प्रसन्न होगा, और यह प्रसन्नता उतनी ही अधिक होगी जितना अधिक उसके विचारानुसार, द्वेष्य व्यक्ति का दुःख होगा; जो पहला विचाराग था। फिर प्रसन्नता प्रसन्न प्राणी को अस्तित्व प्रदान करती है (भाग ३, साध्य ११, वही टिप्पणी), और यह उसी मात्रा में अधिक होता है, जिस मात्रा में प्रसन्नता अनुभूत होती है। तब यदि कोई कल्पना करे कि उसका द्वेष्य सुखी है, तो यह कल्पना (भाग ३, साध्य १३) उसके प्रसन्न होने के यत्न में बाधक होगी, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) वह मनुष्य जो द्वेष करता है, दुखी होगा, इत्यादि। ६० सि०

टिप्पणी—यह प्रसन्नता पूर्ण रूप में और मन की कलह के बिना शायद ही मिलती हो। क्योंकि (जैसा मैं शीघ्र ही भाग ३, साध्य २७ में दिखाऊंगा) मनुष्य जब किसी अपने जैसे प्राणी को दुखी कल्पना करता है, तो उसी प्रकार आप दुखी होता है; और, दूसरी ओर यदि यह उसे सुखी कल्पना करे, तो प्रसन्न होता है। परन्तु यहाँ हम केवल द्वेष की बाबत विचार कर रहे हैं।

साध्य २४—यदि हम किसी ऐसे पुरुष की कल्पना करें, जो हमारे द्वेष्य व्यक्ति को सुखी बनाता है, तो हम उससे द्वेष करते हैं। दूसरी ओर, यदि हम कल्पना करें कि वह हमारे द्वेष्य के लिए दुःख का कारण है, तो हम उसमें प्रेम करते हैं।

उपपत्ति—यह साध्य उसी तरह सिद्ध होता है, जिस तरह भाग ३ का साध्य २२, उसे देखो।

टिप्पणी—यह और ऐसे ही अन्य उद्देश ईर्ष्या की ओर संकेत करते हैं, जो इसलिए द्वेष से भिन्न कुछ नहीं, इस अर्थ में कि इसकी बाबत ख्याल किया जाता है कि यह मनुष्य की प्रवृत्ति ऐसी बना देती है कि वह दूसरे के दुःख से प्रसन्न होता है, और दूसरे के सुख से दुखी होता है।

साध्य २५—हम अपनी बाबत या अपने प्रिय की बाबत ऐसी हर एक प्रतिज्ञा करने का यत्न करते हैं, जो हमारे विचार में हमें या हमारे प्रिय को सुख देती है; और, दूसरी ओर, हम अपनी बाबत या अपने प्रिय की बाबत ऐसी हर एक बात के निषेध का यत्न करते हैं, जो हमारे विचारानुसार हमें या हमारे प्रिय को दुखी करती है।

उपपत्ति—जो कुछ हमारे विचारानुसार किसी प्रिय वस्तु को सुखी या दुखी करता है, वह हमें भी सुखी या दुखी करता है (भाग ३, साध्य २१)। परन्तु मन (भाग ३, साध्य १२) जहाँ तक इससे बन पड़ता है, ऐसी वस्तुओं की कल्पना करने का यत्न करता है, जो हमें सुख देती है, अर्थात् (भाग २, साध्य १७ और इसका उपप्रमेय) इन्हें विद्यमान समझता है, और दूसरी ओर (भाग ३, साध्य १३) जो कुछ इसे दुःख देता है, उसके अस्तित्व को समाप्त करने का यत्न करता है। इसलिए हम अपनी बाबत और अपने प्रिय की बाबत ऐसी प्रतिज्ञा करने का यत्न करते हैं, जो हमारे विचारानुसार हमें या प्रिय वस्तु को सुख देगी, और विपरीत भी। इ० सि०

साध्य २६—जिस व्यक्ति से हम द्वेष करते हैं, उसकी बाबत ऐसी प्रतिज्ञा करने का यत्न करते हैं, जो हमारे विचारानुसार इसके लिए दुःखद होगी, और इसके विपरीत, ऐसी हर एक चीज का निषेध करते हैं, जो हमारे विचारानुसार इसे सुख देगी।

उपपत्ति—यह साध्य, साध्य २३ का परिणाम है, जैसे पूर्व साध्य, साध्य २१ का परिणाम है।

टिप्पणी—इससे हम देखते हैं कि ऐसा सहज हो सकता है कि कोई मनुष्य अपनी बाबत या अपने प्रिय की बाबत बहुत उत्तम विचार करे, और जिस व्यक्ति से वह द्वेष करता है, उसकी हालत में विपरीत करे। यह कल्पना जब अपनी बाबत की जाती है, तो अहंकार कहलाती है, जो एक प्रकार का पागलपन है, जिसमें मनुष्य की आँखें खुली होती हैं, परन्तु वह स्वप्न देखता है, और ख्याल करता है कि वह जो कुछ भी कल्पनाएँ करता है, उन्हें क्रिया का रूप दे सकता है, वह उन्हें वास्तविक समझता है, और उनमें अति प्रसन्न होता है, जब तक उसे ऐसी वस्तु का ध्यान नहीं आता जो उनके अस्तित्व को काट देती है, और जब तक उसकी क्रिया-शक्ति को निर्णीत करती है। इसलिए अहंकार वह प्रसन्नता है जो मनुष्य अपनी बाबत बहुत ऊँचा विचार करने में अनुभव करता है। जो प्रसन्नता कोई मनुष्य किसी दूसरे की बाबत बहुत ऊँचा विचार करने में अनुभव करता है, वह सम्मान या पक्षपात कहलाती है; किसी दूसरे की बाबत बहुत अधम विचार करने का फल घृणा कहलाता है।

साध्य २७—जब हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करते हैं जो हमारे समान है, तो हम उसी प्रकार के उद्वेग से प्रभावित हो जाते हैं जिससे वह प्रभावित है, यद्यपि हम उसके प्रति किसी प्रकार के उद्विग्न नहीं हुए।

उपपत्ति—पदार्थों के प्रतिबिम्ब मानव शरीर के रूपभेद है जिनके प्रत्यय हमें बाहरी पदार्थों को विद्यमान दरसाते हैं (भाग २, साध्य १७, टिप्पणी), अर्थात् (भाग २, साध्य १६) जिनके प्रत्ययो मे हमारे शरीर की प्रकृति और इसके साथ विद्यमान होने की स्थिति मे बाहरी पदार्थ की प्रकृति निहित होती है। इसलिए, यदि किसी बाहरी पदार्थ की प्रकृति हमारी अपनी प्रकृति के समान है, तो बाहरी पदार्थ का प्रत्यय, जिसकी हम कल्पना करते हैं, अपने अन्दर हमारे शरीर का ऐसा रूपभेद निहित रखेगा, जो बाहरी पदार्थ के रूपभेद के समान है। और इसके फलस्वरूप यदि हम कल्पना करें कि कोई प्राणी जो हमारे समान है, किसी उद्वेग से प्रभावित होता है, तो यह कल्पना हमारे शरीर के ऐसे रूपभेद को व्यक्त करेगी जो उस उद्वेग के समान है। और इसलिए यदि हम किसी ऐसी वस्तु को जो हमारे समान है, किसी उद्वेग से प्रभावित समझते हैं, तो इसके कारण हम भी उस वस्तु के साथ उसी तरह प्रभावित होते हैं। और यदि हम अपने समान किसी वस्तु से द्वेष करते हैं, तो उसी हृद तक (भाग ३, साध्य २३) हम इसके साथ समान उद्वेग से नहीं, अपितु विपरीत उद्वेग से प्रभावित होंगे। इ० सि०

टिप्पणी १—उद्वेगों की यह नकल, जब यह दुःख की ओर सकेत करती है, करुणा कहलाती है (देखो भाग ३, साध्य २२, टिप्पणी); जब यह इच्छा की ओर सकेत करती है, तो बराबर होने की चेष्टा (रिश्क) कहलाती है, जो इस तरह ऐसी इच्छा ही है जो किसी वस्तु के लिए इसलिए हममें उदय होती है कि हमारे विचारानुसार और लोग जो हमारे समान हैं, वे इच्छा करते हैं।

उपप्रमेय १—यदि हम किसी ऐसे मनुष्य की कल्पना करें, जिसकी बावत हमने पहले किसी उद्वेग के साथ विचार नहीं किया, कि वह हम जैसे किसी मनुष्य को प्रसन्नता देता है, तो हम भी उससे प्रसन्न होते हैं। दूसरी ओर, यदि हम समझे कि वह इसके लिए दुःख का कारण है, तो हम उससे द्वेष करते हैं।

उपपत्ति—यह पूर्व साध्य से उसी तरह स्पष्ट है, जिस तरह साध्य २२, साध्य २१ से स्पष्ट है।

उपप्रमेय २—जिस प्राणी पर हम दया करते हैं, उससे द्वेष नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी हीन दशा हमें दुःखी करती है।

उपपत्ति—यदि हम उससे द्वेष कर सकते, तो (भाग ३, साध्य २३) हमें उसके दुःख पर प्रसन्न होना चाहिए, जो प्रतिज्ञा के प्रतिकूल है।

उपप्रमेय ३—जहाँ तक हमसे बन पड़ता है, हम उस प्राणी को जिस पर हम दया करते हैं, उसकी दुर्गति से विमुक्त करने का यत्न करते हैं।

उपपत्ति—जो कुछ उक्त प्राणी को जिस पर हम दया करते हैं, दुखी करता है, वह हमें भी उसी प्रकार से दुखी करता है (पूर्व साध्य), और इसलिए हम हरएक ऐसी बात को याद करते हैं, जो इसके अस्तित्व का नाश कर सकती है (भाग ३, साध्य १३), अर्थात् (भाग ३, साध्य ९, टिप्पणी), हम इसे विनष्ट करना चाहते हैं, या इसके विनाश के लिए निर्णीत होते हैं, और इसलिए हम उस प्राणी को उसकी मुसीबत से छुड़ाना चाहते हैं। इ० सि०

टिप्पणी १—उपकार करने का यह सकल्प या तृषा, जो इस कारण उदय होता है कि हम उस प्राणी पर जिस के साथ भलाई करना चाहते हैं, दया करते हैं, कृपालुता कहलाता है, जो इस तरह दया से उदित इच्छा ही है। जिस पुरुष ने किसी ऐसे प्राणी के प्रति जिसे हमने अपने समान समझा, भलाई या बुराई की, उसकी ओर जो प्रेम या द्वेष हमें होता है, उसकी बाबत भाग ३, साध्य २२ की टिप्पणी देखो।

साध्य २८—हम हरएक ऐसी वस्तु की सत्ता को बढावा देने का यत्न करते हैं जिसे हम प्रसन्नता का कारण समझते हैं, परन्तु जिस वस्तु को हम प्रतिकूल या दुख का कारण समझते हैं, हम उसे हटाने या विनष्ट करने का यत्न करते हैं।

उपपत्ति—जिस चीज को हम सुख का सहायक समझते हैं, उसकी बाबत यथासम्भव चिन्तन करना चाहते हैं (भाग ३, साध्य १२), अर्थात् (भाग २, साध्य १७) हम यथासम्भव इसे प्रस्तुत या वास्तव में विद्यमान समझने का यत्न करते हैं। परन्तु मन का यत्न या इसकी चिन्तन-शक्ति, शरीर के यत्न या क्रिया-शक्ति के प्रकृति में बराबर और समकालीन है (जैसा भाग २, साध्य ७ के उपप्रमेय और साध्य ११ के उपप्रमेय से स्पष्ट है); इसलिए हम निरपेक्ष रूप में इसे विद्यमान करने का यत्न करते हैं, या (भाग ३, साध्य ९ की टिप्पणी के अनुसार एक ही बात है) हम इसकी इच्छा करते हैं, और इसके लिए प्रयत्न करते हैं, जो पहला विचाराश था। फिर, यदि हम ऐसी वस्तु को, जिसे हम दुख का कारण समझते हैं, अर्थात् (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) जिससे हम द्वेष करते हैं, विनष्ट कल्पना करें, तो हम प्रसन्न होते हैं (भाग ३, साध्य २०), और इसलिए (इस साध्य का पहला भाग) हम इसे नष्ट करने, या (भाग ३, साध्य ११) अपने आप से हटाने का यत्न करते हैं, ताकि इसे विद्यमान न समझने

लगे, जो दूसरा विचाराश था। इसलिए हर एक चीज जो सुख की सहायक है, इत्यादि। इ० सि०

साध्य २९—हम ऐसी हर एक क्रिया करने का यत्न भी करेंगे, जो हमारे विचार में मनुष्यों को प्रसन्न करती है, और, दूसरी ओर ऐसी क्रिया करना पसन्द नहीं करेंगे, जो हमारे विचार में मनुष्यों को अस्वीकृत है। (यह समझ लेना चाहिए कि इस साध्य और आगामी साध्यों में मनुष्यों से हमारा अभिप्राय ऐसे मनुष्यों से है, जिनके प्रति हमारा कोई विशेष उद्देश्य नहीं।)

उपपत्ति—इस तथ्य से कि हम ऐसी वस्तु से प्रेम और द्वेष करेंगे, जिससे हमारे ख्याल में दूसरे प्रेम या द्वेष करते हैं (भाग ३, साध्य २७), हम उस वस्तु की उपस्थिति से प्रसन्न या अप्रसन्न होते हैं (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी); और इसलिए (पूर्व साध्य) हम हर एक ऐसी क्रिया करने का यत्न करते हैं, जिससे हमारे विचार में मनुष्य प्रेम करते हैं, या जिसका विचार प्रसन्नता से करते हैं। इ० सि०

टिप्पणी—कुछ करने या न करने का यह यत्न, केवल इसलिए कि हम इस तरह लोगों को प्रसन्न कर सकें, लालसा कहलाता है, विशेष करके उस समय जब हम बिना सोचे-समझे भीड़ को प्रसन्न करना चाहते हैं, और ऐसी क्रिया करते हैं या नहीं करते, जिससे स्वयं हमें या किसी और को हानि पहुँचती है; ऐसी हालत न हो, तो इसे सर्वजन स्नेह कहते हैं। फिर उस प्रसन्नता को जिसके साथ हम किसी दूसरे के ऐसे कर्म का चिन्तन करते हैं, जिससे उसने हमें खुश करने का यत्न किया, मैं प्रशंसा कहता हूँ, परन्तु उस दुःख को जिसके साथ हम उसके कर्म से दृष्टि हटा लेते हैं, मैं निन्दा कहता हूँ।

साध्य ३०—यदि किसी मनुष्य ने ऐसा कर्म किया है, जो उसके विचारानुसार दूसरों के लिए सुखदायक है, तो उसे प्रसन्नता होगी और साथ ही यह बोध कि वह सुख का कारण है, या वह अपनी बाबत चिन्तन करने में प्रसन्न होगा। दूसरी ओर, यदि उसने कोई ऐसा कर्म किया है, जो उसके विचार में दूसरों के लिए दुःखदायक है, तो वह अपनी बाबत चिन्तन करते हुए दुःख अनुभव करेगा।

उपपत्ति—जो मनुष्य ख्याल करता है कि उसने दूसरों को सुख या दुःख दिया है, वह आप भी सुख या दुःख अनुभव करता है (भाग ३, साध्य २७)। परन्तु चूँकि मनुष्य (भाग २, साध्य १९ और २२) को अपनी बाबत ज्ञान उन रूपभेदों के द्वारा होता है, जिनसे वह क्रिया के लिए निर्णीत हुआ है, जिस किसी ने ऐसा कर्म किया है जो उसके विचार में दूसरों के लिए सुखदायक है, वह आप भी

मुख अनुभव करेगा और साथ ही यह जानेगा कि वह सुख का कारण है, या अपनी बावत चिन्तन करते हुए वह सुख अनुभव करेगा, और दूसरी ओर परिणाम विपरीत होता है। इ० सि०

टिप्पणी—चूँकि प्रेम (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) किसी बाहरी कारण के प्रत्यय से मिली हुई प्रसन्नता है, और द्वेष किसी बाहरी कारण के प्रत्यय से मिला हुआ दुःख है, इसलिए, यह सुख या दुःख प्रेम और द्वेष का एक प्रकार होगा। परन्तु चूँकि प्रेम और द्वेष बाहरी कारणों की ओर सकेत करते हैं, हम इन उद्वेगों को अन्य नाम देगे। जो प्रसन्नता किसी बाहरी* कारण के प्रत्यय से मिली होती है, उसे हम प्रतिष्ठा या यश कहेगे, और दुःख के विपरीत उद्वेग को अपयश कहेगे। यह समझ लेना चाहिए कि यह सुख या दुःख इस तथ्य का परिणाम होता है कि व्यक्ति अपने आपको प्रशंसित या निन्दित समझता है, ऐसी अवस्था न हो, तो मैं उम प्रसन्नता को जो बाहरी* कारण के प्रत्यय से मिली है, सन्तुष्टि कहूँगा, परन्तु दुःख के विपरीत उद्वेग को पश्चात्ताप कहूँगा। फिर हो सकता है कि (भाग २, साध्य १७, उपप्रमेय) वह प्रसन्नता जो कोई मनुष्य समझता है कि वह दूसरों को देता है, काल्पनिक ही हो, और (भाग ३, साध्य २५) चूँकि प्रत्येक अपनी बावत ऐसा चिन्तन करने का यत्न करता है जो उसके विचार में उसके लिए सुखदायक है, यह आसानी से हो सकता है कि एक दिखौवा या गर्वी मनुष्य अहकारी हो जाय और समझने लगे कि वह हर किसी को प्रसन्नता देता है, जब वास्तव में वह सबके लिए कष्टक है।

साध्य ३१—यदि हमें यह ख्याल हो कि जिस वस्तु से हम प्रेम या द्वेष करते हैं या जिसकी इच्छा करते हैं, कोई और मनुष्य भी उससे प्रेम या द्वेष करता

* श्री बायल ने 'नीति' के अंग्रेजी अनुवाद में शंका प्रकट की है कि यहाँ असावधानी में स्पिनोज़ा ने 'आन्तरिक' के स्थान में 'बाहरी' लिख दिया है। उच्च संस्करण में 'आन्तरिक' ही मिलता है। स्पिनोज़ा का उद्देश्य यश और आत्म-सन्तुष्टि में भेद करना है। यश और अपयश में बाहरी कारण होता ही है। परन्तु जहाँ किसी और को हमारे उपकार या अपकार का पता भी न लगे, वहाँ भी आत्म-सन्तुष्टि और पश्चात्ताप प्रस्तुत हो जाते हैं। वर्तमान अनुवादकर्ता के विचार में असावधानी तो हुई है, परन्तु दो स्थलों पर नहीं, केवल एक स्थल पर ही हुई है। स्पिनोज़ा का अभिप्राय पहले स्थल पर 'बाहरी' और दूसरे स्थल पर 'आन्तरिक' से व्यक्त होता है। अनुवाद में स्पिनोज़ा के शब्दों को रहने दिया गया है।

है या उसकी इच्छा करता है, तो इस ख्याल के कारण ही हम उक्त वस्तु से अधिक प्रेम या द्वेष करेंगे या उसे अधिक चाहेंगे। परन्तु, दूसरी ओर यदि हम कल्पना करें कि जिस वस्तु से हम प्रेम करते हैं, कोई दूसरा उससे दूर रहना चाहता है, तो हमारा मन डगमगाने लगता है।

उपपत्ति—केवल इसलिए कि हमारे विचारानुसार कोई मनुष्य किसी वस्तु से प्रेम करता है, हम भी उस वस्तु से प्रेम करने लगेंगे (भाग ३, साध्य २७)। परन्तु हम फर्ज करते हैं कि हम इस वस्तु को इस कारण के बिना प्रेम करते हैं; तब प्रेम का एक नया कारण प्रस्तुत हो जाता है, जिससे हमारा उद्वेग पुष्ट होता है, और इसलिए हम अपने प्रिय को अधिक उद्वेग से प्रेम करेंगे। फिर केवल इसलिए कि हमारे विचारानुसार कोई मनुष्य किसी वस्तु से विमुख होता है, हम भी उससे विमुख होंगे (भाग ३, साध्य २७)। परन्तु यदि हम फर्ज करें कि हम उसी समय उससे प्रेम करते हैं, तब हम एक साथ किसी वस्तु से प्रेम करेंगे और उससे विमुख होंगे या (देखो भाग ३, साध्य १७, टिप्पणी) हमारा मन डगमगाने लगेगा। ६० सि०

उपप्रमेय—इस ओर भाग ३, साध्य २८ से यह परिणाम निकलता है कि प्रत्येक मनुष्य, जितना उससे बन पड़ता है, यत्न करता है कि जिस वस्तु से वह प्रेम करता है, उससे हर एक प्रेम करे, और जिससे वह द्वेष करता है, उससे हर एक द्वेष करे, जैसा कवि ने कहा है—‘प्रेमियों की तरह हमारी आगाएँ और भय समान हो। वह मनुष्य जो ऐसी वस्तु से प्रेम करता है, जिसे दूसरे ने त्याग दिया है, लोहे का बना है।’

टिप्पणी—इस परिणाम के उत्पन्न करने का यत्न कि कोई मनुष्य जिस वस्तु से प्रेम या द्वेष करता है, हर एक उसका अनुमोदन करे, वास्तव में लालसा या उमंग है (भाग ३, साध्य २९, टिप्पणी), और इसलिए हम देखते हैं कि हर एक मनुष्य चाहता है कि सभी उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल जीवन व्यतीत करे। जब सभी एक समान यह अभिलाषा करते हैं, तो वे सब एक दूसरे का विरोध करते हैं, और जहाँ हर एक चाहता है कि दूसरे उसकी प्रशंसा करें या उससे प्रेम करें, वे एक दूसरे से द्वेष करते हैं।

साध्य ३२—यदि हम कल्पना करें कि कोई मनुष्य ऐसी वस्तु का उपभोग करता है, जिसका एक ही मालिक हो सकता है, तो हम ऐसी स्थिति लाने का यत्न करेंगे कि वह इसका स्वामी न बने।

उपपत्ति—केवल इसलिए कि हमारे ख्याल में कोई मनुष्य किसी वस्तु का उपभोग करता है (भाग ३, साध्य २७, और इसका उपप्रमेय १), हम उस वस्तु से प्रेम करेंगे और उसका उपभोग करना चाहेंगे। परन्तु (प्रतिज्ञा के अनुसार) हमें इस

उपभोग में एक रुकावट दीखती है, क्योंकि दूसरा इसका स्वामी हो सकता है। इसलिए हम इस परिणाम के लिए यत्न करेंगे कि दूसरा इसका स्वामी न हो। इ० सि०

टिप्पणी—इस तरह हम देखते हैं कि बहुत-से मनुष्यों की हालत प्रायः यह होती है कि वे स्वभाव से उन लोगों पर दया करते हैं जिनकी स्थिति बुरी है, और उन लोगों से ईर्ष्या करते हैं जिनकी स्थिति अच्छी है, और (पूर्व साध्य) यह ईर्ष्या उतनी ही तीव्र होती है, जितना अधिक हमारा उस वस्तु से प्रेम होता है, जिसकी बाबत हम कल्पना करते हैं कि वह किसी दूसरे के अधिकार में है। फिर हम देखते हैं कि मानव-प्रकृति के उसी लक्षण में जिससे मनुष्य दयावान् बनते हैं, वे ईर्ष्यालु और लालसी भी बनते हैं। अब यदि हम अनुभव की ओर देखें, तो पता लगता है कि वह हमें यह सब कुछ बताता है, विशेष कर यदि हम अपने जीवन के आरम्भ के वर्षों की ओर ध्यान दें। क्योंकि हम देखते हैं कि बच्चे, क्योंकि उनके शरीर मानो सन्तुलित अवस्था में होते हैं, हँसने और चिल्लाने लगते हैं, केवल इसलिए कि वे दूसरो को हँसता या चिल्लाता देखते हैं, और जो कुछ वे किसी को करता देखते हैं, तुरन्त उसकी नकल करना चाहते हैं, और वे अपने लिए ऐसी सभी वस्तुओं की इच्छा करते हैं, जो उन्हें दूसरो को प्रसन्न करती दीखती हैं। इसका कारण निःसन्देह यही है कि, जैसा हमने कहा, पदार्थों के प्रतिबिम्ब या चित्र मानुष-शरीर के रूपभेद ही है, या वे आकार हैं जिनमें मानुष शरीर बाहरी पदार्थों से प्रभावित होता है और कोई विशेष क्रिया करने के लिए प्रवृत्त होता है।

साध्य ३३—जब हम अपने समान किसी वस्तु से प्रेम करते हैं, तो जितना हम से बन पड़ता है, हम यत्न करते हैं कि वह भी हमसे प्रेम करे।

उपपत्ति—जब हम किसी वस्तु से प्रेम करते हैं, तो हम अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा उसे ध्यान में रखने का यत्न करते हैं (भाग ३, साध्य १२)। इसलिए यदि वह वस्तु हमारे समान है, तो हम यत्न करेंगे कि दूसरो से अधिक उसे प्रसन्नता दें (भाग ३, साध्य २९), या यथासम्भव हम यत्न करेंगे कि प्रिय वस्तु प्रसन्नता अनुभव करे और इसके साथ उसे हमारा बोध हो, अर्थात् (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) वह हमसे प्रेम करे। इ० सि०

साध्य ३४—जितना अधिक वह उद्वेग होता है, जिससे हमारे विचारानुसार प्रिय वस्तु हमारी ओर अनुरक्त है, उतना ही अधिक हमारा वृथा अभिमान होगा।

उपपत्ति—हम यथासम्भव यत्न करते हैं (पूर्व साध्य) कि प्रिय वस्तु उत्तर में हमसे प्रेम करे, अर्थात् (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) यह परिणाम पैदा

करने का यत्न करते हैं कि प्रिय वस्तु प्रसन्न हो और साथ ही उसे हमारा ध्यान हो। और इस तरह जितनी अधिक प्रसन्नता से हमारे विचार में प्रिय वस्तु हमारी वजह से प्रभावित होती है, उतनी ही अधिक सहायता हमारे यत्न को मिलती है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११ और इसकी टिप्पणी), उतना ही अधिक हम प्रसन्न होते हैं। परन्तु जब हमें इस तथ्य से खुशी होती है कि हम दूसरे प्राणी को जो हमारे समान हैं, प्रसन्नता देते हैं, तो हम अपनी बाबत चिन्तन करते हुए सुखी होते हैं (भाग ३, साध्य ३०)। इसलिए जितनी अधिक वह प्रसन्नता होती है, जो हमारे विचारानुसार प्रिय प्राणी हमारी वजह से अनुभव करता है, उतनी ही अधिक प्रसन्नता हमें अपनी बाबत चिन्तन करने में अनुभूत होती है, या (भाग ३, साध्य ३०, टिप्पणी) उतने ही अधिक सन्तुष्ट या अभिमानी हम हो जाते हैं। इ० सि०

साध्य ३५—यदि कोई मनुष्य यह ख्याल करे कि जिस प्राणी से वह प्रेम करता है, वह किसी अन्य व्यक्ति से प्रेम करने लगा है, और उसका प्रेमबन्धन उतना ही या उससे भी दृढ़ है, जो प्रिय प्राणी को उससे बाँधता था, तो वह प्रिय से द्वेष और दूसरे प्राणी से ईर्ष्या करेगा।

उपपत्ति—जितने अधिक प्रेम से प्रिय प्रेमी से प्रेम करता है, उतनी ही उसकी सन्तुष्टि होती है (पूर्व साध्य), अर्थात् उतनी ही अधिक उसकी प्रसन्नता होती है (भाग ३, साध्य ३०, टिप्पणी), और इसलिए (भाग ३, साध्य २८) वह यथासम्भव कल्पना करने का यत्न करेगा कि प्रिय वस्तु उसके साथ प्रेम के दृढतम बन्धन से बँधी है, और यह यत्न या तृषा अधिक हो जायगी, यदि वह कल्पना करे कि कोई अन्य मनुष्य उसी वस्तु को अपने लिए चाहता है (भाग ३, साध्य ३१)। परन्तु समझा जाता है कि यह यत्न या तृषा प्रिय वस्तु के प्रतिबिम्ब और इससे युक्त उस प्राणी के बिम्ब से जिसे प्रिय ने अपने साथ जोड़ लिया है, बाधित होती है। इसलिए (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) वह दुखी होगा और साथ ही यह जानेगा कि प्रिय इस दुःख का कारण है, और साथ ही इस दूसरे का चित्र भी उसके मन में होगा, अर्थात् (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) वह प्रिय वस्तु से और उस दूसरे में द्वेष करेगा (भाग ३, साध्य १५, टिप्पणी); और चूँकि (भाग ३, साध्य २३) वह प्रिय का उपभोग करता है, उससे ईर्ष्या करेगा। इ० सि०

टिप्पणी—प्रिय से द्वेष और दूसरे से ईर्ष्या दोनों मिलकर प्रतिस्पर्धा (रकाबत) है, जो प्रेम और द्वेष के कारण मन का डगमगाना ही है, जिसके साथ रकीव का ख्याल मिला होता है, जिससे ईर्ष्या की जाती है। इसके अतिरिक्त प्रिय वस्तु

के प्रति यह द्वेष उतना ही अधिक होगा, जितनी अधिक प्रसन्नता प्रतियोगी प्रेमी को अपने प्रिय के लौटाये हुए प्रेम से हुआ करती थी, और जितना अधिक स्नेह उसे उस व्यक्ति से होता था, जिसने अब, उसके विचारानुसार, प्रिय वस्तु को अपने साथ युक्त कर लिया है। क्योंकि यदि वह इस मनुष्य में द्वेष करता, तो केवल इस तथ्य से ही वह प्रिय वस्तु से द्वेष करेगा (भाग ३, साध्य २४), क्योंकि वह ख्याल करता है कि यह उस व्यक्ति को प्रसन्नता देती है, जिससे वह द्वेष करता है, और इसलिए भी (भाग ३, साध्य १५, उपप्रमेय) कि वह प्रिय के चित्र को अपने द्वेष्य के चित्र से युक्त करने पर बाधित है। यह स्थिति प्रायः प्रस्तुत हो जाती है जब कोई पुरुष किमी स्त्री से प्रेम करता है। क्योंकि जो पुरुष ख्याल करता है कि जिस स्त्री में वह प्रेम करता है वह किमी और की भोग्या है, वह केवल इसी लिए दुखी नहीं होता कि उसकी अपनी कामना बाधित हुई है, अपितु इस ख्याल से भी कि वह प्रिय के चित्र को प्रतिस्पर्द्धी के लज्जाजनक अंग और त्याज्य के चित्र के साथ युक्त करने पर मजबूर होता है, वह उससे घृणा करता है। इसके साथ यह भी जोड़ना चाहिए कि रकावत करने वाले पुरुष की प्रिया अब उसका स्वागत उस तरह नहीं करती जिस तरह पहले किया करती थी, और इसलिए भी प्रेमी की स्थिति में वह दुखी होगा, जैसा मैं शीघ्र दिखाऊंगा।

साध्य ३६—जो मनुष्य ऐसी वस्तु को याद करता है, जिसका उसने पहले उपभोग किया था, वह चाहता है कि वह वस्तु उसी स्थिति में, जिसमें उसने पहले उसका उपभोग किया था, फिर उसके अधिकार में आ जाय।

उपपत्ति—जो कुछ कोई मनुष्य ऐसी वस्तु के सग में देखता है जिसने उसे प्रसन्न किया था, वह भी आकस्मिक रूप में उसके लिए प्रसन्नता का कारण बन जायगा (भाग ३, साध्य १५), और इसलिए (भाग ३, साध्य २८), वह उसे भी प्रसन्नता देनेवाली वस्तु के साथ अपने अधिकार में लेना चाहेगा, अन्य शब्दों में वह चाहेगा कि वह वस्तु उसी स्थिति में उसके अधिकार में आ जाय जिसमें उसने पहले उसका उपभोग किया था। ३० सि०

उपप्रमेय—इसलिए एक प्रेमी शोकाकुल हो जायगा, यदि वह देखे कि स्थिति में कोई सहचारी अश विद्यमान नहीं।

उपपत्ति—अब जहाँ तक वह किसी अश को अविद्यमान पाता है, उस हद तक वह किसी ऐसी वस्तु का चिन्तन करता है, जो इसके अस्तित्व को भग करती है। परन्तु चूँकि फर्ज किया जाता है कि प्रेमी की स्थिति में वह उस अश को

चाहता है (पूर्व साध्य), इसलिए (भाग ३, साध्य १९) वह जिस हृद तक उस अश की कमी का चिन्तन करता है, वह शोकातुर होता है। इ० सि०

टिप्पणी—इस शोक को जहाँ तक यह प्रिय वस्तु की अनुपस्थिति की ओर संकेत करता है, पछतावा कहते हैं।

साध्य ३७—जो कामना शोक, प्रसन्नता, द्वेष या प्रेम के कारण उदित होती है, वह उद्वेग के अधिक होने पर अधिक होती है।

उपपत्ति—शोकाकुलता मनुष्य की क्रिया-शक्ति को घटाती या रोकती है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) यह उस यत्न को कम करती या रोकती है जिससे कोई मनुष्य अपना अस्तित्व बनाये रखने का यत्न करता है, और इसलिए (भाग ३, साध्य ५) यह इस यत्न के प्रतिकूल है, और किसी दुखी मनुष्य में जो शक्ति भी होती है, वह उस दुःख को दूर करने में प्रयुक्त होती है। परन्तु (दुःख की परिभाषा) जितना अधिक दुःख होता है, उतना ही अधिक यह उस मनुष्य की क्रिया-शक्ति का विरोधी होना चाहिए। इसलिए जितना अधिक दुःख होगा, उतना ही अधिक वह मनुष्य अपनी क्रियाशक्ति से उसे दूर करने का यत्न करेगा, अर्थात् (भाग ३, साध्य ९, टिप्पणी) उतनी ही अधिक वह कामना या तृष्णा होगी, जिसके साथ वह इसे हटाने का यत्न करेगा। फिर, चूँकि प्रसन्नता (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) मनुष्य की क्रिया-शक्ति को बढ़ाती या सहायता देती है, यह उस तरह आसानी से दिखाया जा सकता है कि जो मनुष्य सुख अनुभव करता है, वह उस सुख को सुरक्षित रखने का ही यत्न करता है, और जितना अधिक सुख होता है, उतनी ही तीव्र उसकी इच्छा होती है। फिर चूँकि प्रेम और द्वेष सुख और दुःख के उद्वेग हैं, उन्हीं तरह यह परिणाम होता है कि वह यत्न, तृष्णा या इच्छा जो प्रेम या द्वेष के कारण उदय होती है, प्रेम या द्वेष की अधिकता के अनुसार अधिक होगी। इ० सि०

साध्य ३८—यदि कोई मनुष्य प्रिय वस्तु से द्वेष करने लगे जिससे उसका प्रेम स्पष्ट रूप में समाप्त हो जाय, तो उसका द्वेष केवल पूर्व प्रेम के कारण, उससे अधिक होगा जितना उस हालत में होता जब कि उसने उससे कभी प्रेम न किया होता, और यह द्वेष उतना ही अधिक होगा, जितना अधिक प्रेम था।

उपपत्ति—अब यदि कोई मनुष्य किसी से द्वेष करने लगता है, तो उसकी अधिक तृष्णा बाधित होती है, वनिस्वन उसके कि न प्रेम करने की हालत में होती। क्योंकि प्रेम एक प्रसन्नता है (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) जिसे मनुष्य, जितना उससे वन पड़ता है, (भाग ३, साध्य २८) प्रिय वस्तु को विद्यमान चिन्तन करके

(वही टिप्पणी) और उसे प्रसन्न करके, सुरक्षित रखने का यत्न करता है (भाग ३, साध्य २१), उसका यत्न उतना ही अधिक होता है, जितना (पूर्व साध्य) उसका प्रेम अधिक होता है, और इसी तरह उसका यह यत्न भी अधिक होता है कि प्रिय प्राणी उत्तर में उससे प्रेम करे (भाग ३, साध्य ३३)। परन्तु यह यत्न उस द्वेष से जो प्रिय प्राणी के प्रति होता है, रोका जाता है (भाग ३, साध्य १३, उपप्रमेय, और साध्य २३)। इसलिए प्रेमी (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) इस कारण शोकातुर होगा, और यह शोकातुरता उतनी अधिक होगी, जितना अधिक उसका प्रेम था, अर्थात् उस दुःख के अतिरिक्त जो द्वेष का फल है, दुःख का एक और कारण भी है, और वह यह कि वह उस वस्तु से प्रेम करता था, और इसके फलस्वरूप उस वस्तु का जिसे वह प्रेम करता था, अधिक दुःख से चिन्तन करेगा, अर्थात् (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) उसका द्वेष उससे अधिक होगा, जितना उस हालत में होता यदि उसने उससे प्रेम न किया होता, और इसकी मात्रा उसके पहले प्रेम की मात्रा के अनुसार अधिक होगी। ३० सि०

साध्य ३९—जो मनुष्य किसी से द्वेष करता है, वह उसे हानि पहुँचाने का यत्न करेगा, सिवाय इसके कि उसे भय हो कि उसे दूसरे मनुष्य से अधिक हानि पहुँचेगी, और दूसरी ओर, वह जो किसी से प्रेम करता है, उसी नियम के अनुसार उसके साथ भलाई करने का यत्न करेगा।

उपपत्ति—किसी से द्वेष करना (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) उसे दुःख का कारण समझना ही है, और इसलिए (भाग ३, साध्य २) जो कोई किसी से द्वेष करता है, उसे हटाने या नाश करने का यत्न करेगा। परन्तु यदि उसे भय हो कि ऐसा करने से उसे अधिक दुःख मिलेगा, या स्थिति पहले से भी बुरी हो जायगी, और वह ख्याल करे कि द्वेष्य व्यक्ति को जो हानि वह पहुँचाना चाहता था, उसे न पहुँचाने से वह इस परिणाम से बच सकता है, तो वह यह हानि न पहुँचाने की इच्छा करेगा (भाग ३, साध्य २८), और यह (भाग ३, साध्य ३७) यत्न उस यत्न से अधिक होगा, जिसमें वह हानि पहुँचाना चाहता था, जो अब तक प्रबल था। उपपत्ति का दूसरा भाग उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार यह चला है। इसलिए वह जो द्वेष करता है, इत्यादि। ३० सि०

टिप्पणी—यहाँ भद्र या शुभ से मेरा अभिप्राय हर प्रकार के सुख और उसके बढ़ाने वाले साधनों से है, और खास कर ऐसी वस्तु से है, जो हमारी उत्सुक इच्छाओं को पूरा करे, चाहे वे इच्छाएँ जो कुछ हो, अभद्र या अशुभ से मेरा अभिप्राय

हर प्रकार के दुःख से है, और खास कर उससे जो हमारी इच्छाओं को पूर्ण नहीं होने देता। हमने ऊपर दिखाया है (भाग ३, साध्य ९, टिप्पणी) कि हम किसी वस्तु की इच्छा इसलिए नहीं करते कि हम उसे शुभ समझते हैं, अपितु हम उसे शुभ समझते हैं क्योंकि हम उसकी इच्छा करते हैं। और इसके फल-स्वरूप जिस वस्तु को ग्रहण करना नहीं चाहते, उसे अशुभ या अभद्र कहते हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने उद्वेग के अनुसार निर्णय करता है कि क्या शुभ या अशुभ, शुभतर या अशुभतर, शुभतम या अशुभतम है। इस तरह कजूम समझता है कि धन की अधिकता सर्वोत्तम है, और निर्धनता सबसे बुरी है। दूसरी ओर, लालसी पुरुष सम्मान से उत्तम किसी चीज को नहीं समझता, न निरादर में अधिक किसी वस्तु से दूर रहना चाहता है। ईर्ष्या करने वाले को सबसे अधिक प्रसन्नता दूसरे की मुसीबत से, और सबसे अधिक दुःख दूसरे के सौभाग्य से होता है। और इस तरह प्रत्येक मनुष्य अपने उद्वेग के अनुसार निर्णय करता है कि कोई वस्तु अच्छी है या बुरी, लाभकारी है या निर्मूल्य। जिस उद्वेग के प्रभाव में मनुष्य की प्रवृत्ति ऐसी हो जाती है कि जो कुछ वह प्राप्त करना चाहता है, उसकी प्राप्ति का यत्न नहीं करता, या जो कुछ प्राप्त करना नहीं चाहता, उसकी प्राप्ति को स्वीकार करता है, उसे भयातुरता कहते हैं, जो इस तरह ऐसा भय ही है जिसके कारण मनुष्य में ऐसी प्रवृत्ति पैदा हो जाती है कि वह वर्तमान में छोटे अभद्र को स्वीकार कर लेता है, ताकि ऐसे अभद्र से बचा रहे जिसकी भविष्य में आशंका है (भाग ३, साध्य २८ को देखो)। परन्तु यदि वह अभद्र जिसकी उसे आशंका है, अपमान हो, तो भयभीतता को लज्जा कहते हैं। अन्त में यदि भविष्य अभद्र को रोकने की इच्छा किसी और भय से बाधित हो जाय, और व्यक्ति यह निश्चय न कर सके कि वह क्या करे, तो भय को अति भयाकुलता कहते हैं, खाम कर यदि दोनों अभद्र जिनका भय हो रहा है, बहुत बड़े हो।

साध्य ४०—जो मनुष्य ख्याल करता है कि कोई दूसरा उससे द्वेष करता है, और विश्वास करता है कि उसने दूसरे को द्वेष करने का कोई कारण नहीं दिया, तो वह उत्तर में उस पुरुष से द्वेष करेगा।

उपपत्ति—जो पुरुष किसी दूसरे को द्वेषग्रस्त समझता है, वह आप भी द्वेष अनुभव करने लगेगा। (भाग ३, साध्य २७), अर्थात् (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) दुःख अनुभव करेगा और साथ ही उसे इसके बाहरी कारण का ज्ञान होगा। परन्तु (प्रतिज्ञा के अनुसार) उसे इस दुःख का कोई कारण नहीं दीखता, सिवाय उस मनुष्य

के जो उससे द्वेष करता है। इसलिए चूँकि वह समझता है कि कोई उससे द्वेष करता है, वह दुखी होगा और इसके साथ उसे उस पुरुष का प्रत्यय होगा जो उससे द्वेष करता है, या (उसी टिप्पणी के फलस्वरूप) वह उस मनुष्य से द्वेष करेगा। इ० सि०

टिप्पणी १—जो मनुष्य ख्याल करता है कि उसने किसी दूसरे को द्वेष करने का उचित कारण दिया है, वह (भाग ३, साध्य ३०, और इसकी टिप्पणी) लज्जित होगा। परन्तु (भाग ३, साध्य २५) यह बहुत कम होता है। इसके अतिरिक्त इस दुर्तर्फी द्वेष का यह भी कारण हो सकता है कि हम जिससे द्वेष करते हैं, उसे हानि पहुँचाने का यत्न करते हैं, और इस यत्न का परिणाम द्वेष होता है (भाग ३, साध्य ३९)। इसलिए जो मनुष्य ख्याल करता है कि कोई उससे द्वेष करता है, वह उस दूसरे को किसी अभद्र या दुःख का कारण समझेगा, और इसलिए उसे रज या भय होगा, और साथ ही ख्याल होगा कि जो मनुष्य उससे द्वेष करता है वह इसका कारण है, अर्थात् वह उससे द्वेष करेगा।

उपप्रमेय १—जो मनुष्य ख्याल करता है कि उसका प्रिय उससे द्वेष करता है, वह प्रेम और द्वेष दो विरोधी उद्वेगों का शिकार होता है, क्योंकि जहाँ तक वह ख्याल करता है कि कोई दूसरा उससे द्वेष करता है, वह भी उससे द्वेष करने के लिए निर्णीत होता है (पूर्व साध्य)। परन्तु (प्रतिज्ञा के अनुसार) वह उससे प्रेम भी करता है। इसलिए वह प्रेम और द्वेष दो विरोधी उद्वेगों का शिकार होता है।

उपप्रमेय २—यदि कोई मनुष्य ख्याल करता है कि किसी ऐसे पुरुष ने उसके साथ बुराई की है, जिसके प्रति उसने कोई भलाई या बुराई नहीं की थी, तो वह तुरन्त उस बुराई के उत्तर में उससे बुराई करने का यत्न करेगा।

उपपत्ति—जो मनुष्य समझता है कि कोई दूसरा उससे द्वेष करता है, वह बदले में उससे द्वेष करेगा (पूर्व साध्य), और (भाग ३, साध्य २६) वह सब ऐसी बातों को याद करने का यत्न करेगा जो उसे दुखी कर सकती हैं, और इसके साथ उस पुरुष को हानि पहुँचाने का यत्न करेगा (भाग ३, साध्य ३९)। परन्तु (प्रतिज्ञा के अनुसार), सबसे पहले वह उस बुराई को याद करेगा, जो स्वयं उसके प्रति की गयी थी। इसलिए वह तुरन्त यत्न करता है कि बदले में वही बुराई करे। इ० सि०

टिप्पणी २—जिस मनुष्य से हम द्वेष करते हैं, उसे हानि पहुँचाने का यत्न क्रोध कहलाता है, परन्तु अपने प्रति की गयी बुराई के लौटाने का यत्न प्रतिकार या बदला कहलाता है।

साध्य ४१—यदि कोई पुरुष ख्याल करता है कि दूसरा उससे प्रेम करता है,

और यह विश्वास नहीं करता कि उसने इस प्रेम के लिए कोई कारण प्रदान किया है (जो भाग ३, साध्य १५ के उपप्रमेय और साध्य १६ के अनुसार हो सकता है), तो वह उत्तर में उम मनुष्य से प्रेम करेगा।

उपपत्ति—इस साध्य का प्रमाण उसी प्रकार चलता है, जैसे पूर्व साध्य का प्रमाण, इसकी टिप्पणी भी देखो।

टिप्पणी १—यदि वह विश्वास करता है कि उसने प्रेम के लिए उचित कारण प्रस्तुत किया है, तो वह इससे अति प्रसन्न होगा (भाग ३, साध्य ३० और इसकी टिप्पणी), प्रायः ऐसा होता है (भाग ३, साध्य २), और हमने कहा है कि स्थिति इसके विपरीत होती है, जब वह यह ख्याल करे कि कोई उससे द्वेष करता है (पूर्व साध्य की टिप्पणी देखो)। यह परस्पर का प्रेम, और इसके फलस्वरूप (भाग ३, साध्य ३०) वह यत्न जो ऐसे मनुष्य के साथ नेकी करने के लिए किया जाता है जो हमसे प्रेम करता है, और जो (भाग ३, साध्य ३९) हमसे भलाई करने का यत्न करता है, कृतज्ञता कहलाता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि मनुष्य बदला लेने के लिए अधिक उद्यत रहते हैं, वनिस्वत भलाई का ऋण चुकाने के।

उपप्रमेय—जो मनुष्य कल्पना करता है कि जिसमें वह द्वेष करता है, वह उससे प्रेम करता है, वह प्रेम और द्वेष दो विरोधी उद्देश्यों का शिकार होता है। यह उसी तरह दिखाया जाता है जिस तरह पूर्व साध्य का उपप्रमेय दिखाया गया था।

टिप्पणी २—यदि द्वेष प्रेम पर विजयी हो, तो वह प्रेम करनेवाले मनुष्य को हानि पहुँचाने का यत्न करेगा, और इसे निर्दयता कहते हैं, खाम कर जब यह ख्याल किया जाय कि प्रेम करनेवाले ने द्वेष के लिए कोई विशेष कारण नहीं दिया।

साध्य ४२—जो मनुष्य किसी दूसरे के साथ प्रेम या प्रतिष्ठा की आशा से प्रेरित होकर भलाई करता है, वह दुखी होगा यदि वह देखे कि उपकार को कृतज्ञता के साथ ग्रहण किया गया है।

उपपत्ति—जो मनुष्य अपने समान प्राणी से प्रेम करता है, वह यथासंभव यत्न करता है कि उत्तर में दूसरा भी उससे प्रेम करे (भाग ३, साध्य ३३)। इसलिए जो मनुष्य प्रेम से प्रेरित होकर किसी दूसरे को लाभ पहुँचाना है, वह ऐसा इस इच्छा के साथ करता है कि उत्तर में उससे प्रेम किया जाय, अर्थात् (भाग ३, साध्य ३४) सम्मान की आशा से या (भाग ३, साध्य ३०, टिप्पणी) सुख की आशा से करता है। और इसलिए (भाग ३, साध्य १२) वह यथासंभव सम्मान के इस कारण की

कल्पना करेगा, या इसे वास्तव में विद्यमान समझेगा। परन्तु (प्रतिज्ञा के अनुसार) वह किसी और चीज की कल्पना करता है, जो इसके अस्तित्व के कारण को भग करती है। इसलिए (भाग ३, साध्य १९) इस तथ्य के कारण वह शोकाकुल होगा। इ० सि०

साध्य ४३—द्वेष जवाबी द्वेष से बढ़ता है, और दूसरी ~~द्वेष~~ प्रेम से विनष्ट हो सकता है।

उपपत्ति—जो मनुष्य ख्याल करता है कि जिससे वह द्वेष करता है वह उससे द्वेष करता है, वह अपने अन्दर एक नये द्वेष का उद्भव अनुभव करेगा (भाग ३, साध्य ४०), जब कि पहला द्वेष अभी मौजूद है। परन्तु, इसके विपरीत, यदि वह ख्याल करता है कि जिससे वह द्वेष करता है वह उससे प्रेम करता है, तो, जिस हद तक वह ऐसा ख्याल करता है, वह अपनी बाबत चिन्तन करते हुए प्रसन्न होगा (भाग ३, साध्य ३०), और (भाग ३, साध्य २९) अपने द्वेष के विषय को प्रसन्न करने का यत्न करेगा, अर्थात् (भाग ३, साध्य ४०) वह यत्न करेगा कि उससे द्वेष न करे और उसे दुःख न दे, और यह यत्न जिस उद्वेग से उद्भूत होता है, उसके अनुसार अधिक या न्यून होगा (भाग ३, साध्य ३७)। और इस तरह यदि यह यत्न उस यत्न से अधिक हो, जो द्वेष से उत्पन्न हुआ था और जिसके द्वारा उसने द्वेष्य प्राणी को दुखी करना चाहा था (भाग ३, साध्य २६), तो यह विजयी होगा और मन से द्वेष को दूर कर देगा। इ० सि०

साध्य ४४—जो द्वेष पूर्ण रूप में प्रेम में जीता जाता है, वह प्रेम बन जाता है, और इस कारण से प्रेम की मात्रा उससे अधिक होती है जितनी यह द्वेष के पहले न हो चुकने की हालत में होती।

उपपत्ति—यह उपपत्ति उसी प्रकार चलती है, जिस प्रकार भाग ३, साध्य ३८ की। क्योंकि जो मनुष्य उस वस्तु से प्रेम करने लगता है जिससे वह द्वेष करता था, या जिसके चिन्तन से वह दुखी हुआ करता था, वह केवल इस तथ्य से कि वह अब उसमें प्रेम करता है, प्रसन्न होगा, और इस प्रसन्नता के साथ जो प्रेम में निहित होती है (परिभाषा, भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) वह प्रसन्नता मिल जाती है जो इस तथ्य से पैदा होती है कि द्वेष में निहित दुःख को दूर करने का यत्न (जैसा हमने भाग ३, साध्य ३७ में दिखाया था) पुष्टि प्राप्त करता है, और इसके साथ युक्त यह बोध होता है कि जिससे वह द्वेष करता था, वह इसका कारण है।

टिप्पणी—यद्यपि स्थिति ऐसी है, तो भी कोई मनुष्य यह यत्न नहीं करेगा

कि किसी प्राणी से द्वेष करे या उसके सम्बन्ध में दुखी हो, ताकि वह इस बढी हुई प्रसन्नता को अनुभव करे, अर्थात् कोई मनुष्य अपने प्रति अभद्र इस आशा से करना नहीं चाहता कि इस अभद्र में छुटकारा पायेगा, न इसलिए बीमार होना चाहता है कि फिर दुःख होगा। क्योंकि हरएक यत्न करेगा कि अपनी सत्ता को सुरक्षित रखे और यथासंभव दुःख को दूर करे। परन्तु यदि इसके विपरीत कल्पना की जा सके, तो किसी दूसरे से इस ख्याल से द्वेष करने की इच्छा कर सकता है कि वह पीछे उसे अपने प्रेम से प्रेम करेगा और उससे द्वेष करने की सदा इच्छा करेगा। क्योंकि जितना अधिक द्वेष होगा, उतना ही अधिक पीछे आनेवाला प्रेम होगा। और इसलिए वह सदा चाहेगा कि उसका द्वेष बढता ही जाय, और इसी कारण के तर्क से, मनुष्य अधिक से अधिक बीमार होना चाहेगा ताकि पीछे आनेवाली रोगमुक्ति से अधिक सुख भोग सके, और इसलिए वह बीमार रहने की सदा इच्छा करेगा, जो अर्थहीन है (भाग ३, साध्य ६)।

साध्य ४५—यदि कोई मनुष्य ख्याल करता है कि कोई व्यक्ति जो उसके समान है, किसी दूसरे से, जो भी उसके समान है और जिससे वह प्रेम करता है, द्वेष करता है, तो वह इन दोनों में पहले से द्वेष करेगा।

उपपत्ति—जिस मनुष्य में प्रेम किया जाता है, वह अपने द्वेषी से उत्तर में द्वेष करता है (भाग ३, साध्य ४०)। और इसलिए प्रेमी जो समझता है कि कोई उसके प्रीत से द्वेष करता है, इस तथ्य से ही ख्याल करता है कि प्रीति द्वेष से प्रभावित है, अर्थात् (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी), दुःख से, और इसके फलस्वरूप (भाग ३, साध्य २१) वह दुखी होगा और इसके साथ उसे यह ज्ञान होगा कि उसके प्रीत से द्वेष करनेवाला इस दुःख का कारण है, अर्थात् (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी), वह उस मनुष्य से द्वेष करेगा। इ० सि०

साध्य ४६—यदि किसी मनुष्य को अपने वर्ग या राज्य में भिन्न वर्ग या राज्य के किसी मनुष्य से सुख या दुःख प्राप्त हो, और इसके साथ यह ज्ञान भी हो कि वह मनुष्य उस वर्ग या राज्य के सदस्य के रूप में उस सुख या दुःख का कारण है, तो वह मनुष्य उस पुरुष से ही प्रेम या द्वेष नहीं करेगा, अपितु उस सारे वर्ग या राज्य से करेगा।

उपपत्ति—इसका प्रमाण भाग ३, साध्य १६ से स्पष्ट है।

साध्य ४७—जो प्रसन्नता इस तथ्य से उदय होती है कि हम कल्पना करते हैं कि जिस वस्तु से हम द्वेष करते हैं, वह नष्ट हो गयी है या कोई विपत्ति

उस पर आ पड़ी है, तो इसके उदय के साथ सदा हमें कुछ दुःख भी अनुभूत होता है।

उपपत्ति—यह भाग ३, साध्य २७ से स्पष्ट है। क्योंकि जिस अश में हम अपने जैसे किसी प्राणी को दुःखी कल्पना करते हैं, हम शोकाकुल होते हैं।

टिप्पणी—यह साध्य भाग २, साध्य १७ के उपप्रमेय से भी सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि जितनी बार हम किसी वस्तु का स्मरण करते हैं, चाहे उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं, हम उसे वर्तमान ही समझते हैं, और शरीर एक ही प्रकार से प्रभावित होता है। इसके फलस्वरूप जिस अश में स्मरण बलिष्ठ है, मनुष्य इसका चिन्तन करते हुए दुःख अनुभव करता है। यह निर्णीतता, जब तक कि वस्तु का बिम्ब विद्यमान रहता है, उन वस्तुओं की याद से जो इसके अस्तित्व को काटती हैं, बाधित होती हैं, परन्तु दूर नहीं होती। और इसलिए उस मनुष्य की प्रसन्नता इसी अश में होती है कि यह निर्णीतता रुकी है; इसका परिणाम यह होता है कि यह प्रसन्नता जो द्वेष्य वस्तु की आपत्ति से उदित होती है, उतनी बार दुहराई जाती है जितनी बार हम उस वस्तु को याद करते हैं। क्योंकि जैसा हमने कहा है, जब उस वस्तु का चित्र हमारे सामने आता है, तो जिस अश में इसमें उस वस्तु का अस्तित्व निहित है, यह उस मनुष्य को बाधित करता है कि उसके चिन्तन में वैसा ही दुःख अनुभव करे, जैसा उसके विद्यमान होने के समय किया करता था। परन्तु चूंकि इस वस्तु के चित्र के साथ वह अन्य वस्तुओं के चित्रों को युक्त करता है, और वे वस्तुएँ इसके अस्तित्व को काटती हैं, यह दुःख की अनुभूति तुरन्त रुक जाती है, और वह मनुष्य फिर प्रसन्न होता है, और जब-जब भी यह दुहराया जाता है, ऐसा ही होता है। और यही कारण है कि मनुष्य जब कभी किसी की बीबी हुई आपत्ति को याद करते हैं, तो प्रसन्न होते हैं, और उन खतरों का वर्णन करके खुश होते हैं, जिनसे वे बच निकले थे। क्योंकि जब वे किसी खतरे की कल्पना करते हैं, वे इसे विषय में देखते हैं, और इससे भयभीत होते हैं, परन्तु यह भय-प्रवृत्ति छुटकारे के ख्याल से दब जाती है, जिसे उन्होंने छुटकारा पाने के समय इस खतरे के ख्याल के साथ युक्त किया था, और जो उन्हें फिर सुरक्षित बना देता है, और इस तरह एक बार फिर वे प्रसन्न होते हैं।

साध्य ४८—दृष्टान्त के तौर पर, पीटर के प्रति प्रेम और द्वेष नष्ट हो जाते हैं, यदि वह दुःख जो द्वेष में निहित है, और वह सुख जो प्रेम में निहित है, किसी अन्य वस्तु का परिणाम समझे जाते हैं; और ये सुख और दुःख उसी अश में कम

हो जायेंगे, जिसमे हम ख्याल करते हैं कि पीटर ही सुख या दुःख का अकेला कारण नहीं।

उपपत्ति—यह प्रेम और द्वेष की परिभाषा से ही स्पष्ट है, जिसे भाग ३, साध्य १३ की टिप्पणी में देखो। क्योंकि सुख पीटर के प्रति प्रेम और दुःख पीटर के प्रति द्वेष केवल इसी लिए कहलाते हैं कि उसे इनमें से एक या दूसरे परिणाम का कारण समझा जाता है। इसलिए जब यह पूर्ण रूप में या अश रूप में दूर हो जाता है, तो पीटर के प्रति उद्वेग भी पूर्ण रूप में या अश रूप में दूर हो जाता है। **इ० सि०**

साध्य ४९—जिस वस्तु को हम स्वाधीन ख्याल करते हैं, उसके प्रति हमारा प्रेम या द्वेष अधिक होता है, बर्निस्वत उस प्रेम या द्वेष के जो निर्णीत वस्तु के प्रति होता है, इस शर्त पर कि दोनों एक ही कारण के अधीन हैं।

उपपत्ति—जिस वस्तु को हम स्वाधीन समझते हैं, उसका ज्ञान (भाग १, परि० ७) अवश्यमेव उसी के द्वारा, अन्य वस्तुओं के बिना, होना चाहिए। इसलिए यदि हम इसे उपर्युक्त सुख या दुःख का कारण समझें, तो केवल इसी तथ्य के कारण (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) हम इससे प्रेम या द्वेष करेंगे, और यह (पूर्व साध्य) अधिकाधिक प्रेम या द्वेष के साथ जो उस उद्वेग का परिणाम हो सकता है। परन्तु यदि हम ख्याल करें कि उस परिणाम का कारण निर्णीत वस्तु है, तो (भाग १, परि० ७) हम उसका चिन्तन अकेला नहीं करेंगे, अपितु अन्य वस्तुओं के साथ, इसे उस परिणाम का कारण समझेंगे; और इसलिए (पूर्व साध्य) इसके प्रति हमारा प्रेम या द्वेष कम होगा। **इ० सि०**

टिप्पणी—इसका परिणाम यह है कि मनुष्य जहाँ तक वे अपने आप को स्वाधीन समझते हैं, एक दूसरे से अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक प्रेम या द्वेष करते हैं, इसके साथ उद्वेगों का अनुसरण भी मिल जाता है, जिसकी बाबत भाग ३, साध्य २७, ३४, ४० और ४३ देखो।

साध्य ५०—कोई वस्तु भी आकस्मिक रूप में आशा या भय का कारण हो सकती है।

उपपत्ति—यह साध्य उसी प्रकार सिद्ध होता है, जिस प्रकार भाग ३, साध्य १५, जिसे भाग ३, साध्य १८ की टिप्पणी के साथ देखो।

टिप्पणी—जो वस्तुएँ आकस्मिक रूप में आशा या भय का कारण होती हैं, उन्हें अच्छे या बुरे शकुन कहते हैं। अब जिस हद तक ये शकुन आशा या भय का कारण हैं, वे (देखो परि० आशा और भय की और भाग ३, साध्य १९ की

टिप्पणी २) मुख या दुःख का कारण है, और इसके परिणामस्वरूप (भाग ३, साध्य १५, उपप्रमेय) उस हृद तक हम उनसे प्रेम या द्वेष करते हैं, और (भाग ३, साध्य २८) हम उन्हें अपनी आशाओं को पूरा करने के लिए आकर्षित करने, या बाधाओं या भय के कारणों की स्थिति में दूर करने का यत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त भाग ३, साध्य २५ से परिणाम निकलता है कि हम अपनी प्रकृति से ही उस चीज को सहज मान लेते हैं जिसकी हम आशा करते हैं, और जिससे भय करते हैं उसे मानने में कठिनाई अनुभव करते हैं, और इनका बहुत अधिक या बहुत कम मूल्य लगाते हैं। इसका फल मिथ्या विश्वास होता है, जिससे हर ओर मनुष्य आक्रान्त होते हैं। इस पर भी मैं यहाँ मन की उन अस्थिरताओं का जो आशा और भय से उत्पन्न होती है, वर्णन करना उचित नहीं समझता, क्योंकि यह उन उद्वेगों की परिभाषाओं से ही स्पष्ट है कि भय आशा के बिना स्वीकृत नहीं हो सकता और आशा भय के बिना स्वीकृत नहीं हो सकती। (जैसा मैं इसके उचित स्थान में विस्तार से बताऊँगा), और चूँकि हम जिम हृद तक किसी वस्तु की आशा या आशंका करते हैं, उस हृद तक हम उससे प्रेम या द्वेष करते हैं। और इसलिए जो कुछ हमने प्रेम और द्वेष की बाबत कहा है, वह कोई भी आशा और भय पर लागू कर सकता है।

साध्य ५१—भिन्न मनुष्य एक ही पदार्थ से भिन्न प्रकारों में प्रभावित हो सकते हैं, और एक ही मनुष्य एक ही पदार्थ से भिन्न अवसरों पर भिन्न प्रकारों में प्रभावित हो सकता है।

उपपत्ति—मनुष्य का मन (भाग २, स्वीकृत पक्ष ३) बाहरी पदार्थों में अनेक रूपों में प्रभावित होता है। इसलिए दो मनुष्य एक ही समय भिन्न रूपों में प्रभावित हो सकते हैं, और इसलिए (भाग २, साध्य १३ के पीछे आनेवाली प्रमेयिका ३ के पीछे आनेवाला स्वयत्तथ्य १) वे एक ही पदार्थ से अनेक रूपों में प्रभावित हो सकते हैं। फिर, (भाग २, स्वीकृत पक्ष ३) मनुष्य का शरीर कभी एक आकार में और कभी दूसरे आकार में प्रभावित हो सकता है, और इसके फलस्वरूप (वही स्वयत्तथ्य) यह एक ही पदार्थ से भिन्न समयों पर भिन्न प्रकारों में प्रभावित हो सकता है। इ०सि०

टिप्पणी—इस तरह हम देखते हैं कि ऐसा हो सकता है कि जिस वस्तु से एक प्रेम करता है, दूसरा उससे द्वेष करता है, और जिस वस्तु से एक भयभीत होता है, दूसरा नहीं होता, और एक ही मनुष्य अब उस वस्तु से प्रेम कर सकता है, जिससे वह पहले द्वेष करता था, और अब उसे करने का साहस करता है, जिससे वह पहले

डरता था, इत्यादि। फिर, चूँकि प्रत्येक अपने उद्वेग के अनुसार राय कायम करता है कि अच्छा या बुरा, अधिक अच्छा या अधिक बुरा क्या है (देखो भाग ३, साध्य ३९, टिप्पणी), इसका परिणाम यह है कि मनुष्य अपने विचारों में और उद्वेगों में एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं (जैसा हमने भाग २, साध्य १७ की टिप्पणी में दिखाया है, मानुष मन के दैवी बुद्धि का अंश होने पर भी ऐसा हो सकता है); और इसके फलस्वरूप ऐसा होता है कि जब हम मनुष्यों की एक दूसरे से तुलना करते हैं, तो हम उनमें केवल उनके उद्वेगों की नींव पर भेद करते हैं, और कुछ को साहसी कहते हैं, कुछ को कायर, और कुछ को कोई और नाम देते हैं। उदाहरण के लिए, मैं उस मनुष्य को साहसी कहता हूँ, जो उस खतरे से जिससे मैं डरा करता हूँ, घृणा करता है, और इसके अतिरिक्त यदि मैं देखूँ कि अपने द्वेष को हानि पहुँचाने और अपने प्रियतम से भलाई करने की उसकी इच्छा उस खतरे के भय से रुकती नहीं, जो मुझे रोकने के लिए पर्याप्त है, तो मैं उसे निडर वीर कहता हूँ। दूसरी ओर, मैं उस मनुष्य को कायर समझता हूँ, जो ऐसे खतरे से डरता है जिससे मैं घृणा किया करता हूँ, और यदि मैं अधिक ध्यान से देखूँ कि जो भय मुझे रोक नहीं सकता, उसकी इच्छा को रोक देता है, तो मैं उसे अति भीरु कहता हूँ, और इसी तरह सभी निर्णय देगे। फिर, मनुष्यों की इस प्रकृति और निर्णय की अस्थिरता से, अर्थात् इससे कि मनुष्य प्रायः वस्तुओं की बाबत केवल अपने उद्वेगों से राय कायम करता है, और वे वस्तुएँ जिन्हें वह सुखद या दुःखद समझता है, और जिन्हें वह (भाग ३, साध्य २८) विद्यमान करने या दूर करने का यत्न करता है, बहुधा काल्पनिक ही होती है, और अन्य बातों से, जिनका जिक्र वस्तुओं की अनिश्चितता की बाबत भाग २ में हो चुका है, हम आसानी से ख्याल कर सकते हैं कि मनुष्य सहज ही अपने सुख या दुःख का कारण हो सकता है, अन्य शब्दों में उसे सुख या दुःख का अनुभव होता है, और इसके साथ यह बोध कि वह आप इसका कारण है। और इसलिए हम आसानी से समझ सकते हैं कि पश्चात्ताप और सतुष्टि क्या है, अर्थात् पश्चात्ताप वह दुःख है जिसके साथ यह ज्ञान मिला होता है कि व्यक्ति आप कारण है, और सतुष्टि वह प्रसन्नता है जिसके साथ यह ज्ञान मिला है कि व्यक्ति आप कारण है, और ये उद्वेग अति बलवान् होते हैं, क्योंकि मनुष्य अपने आपको स्वाधीन समझते हैं (देखो भाग ३, साध्य ४९)।

साध्य ५२—जिस पदार्थ को हमने पहले अन्य पदार्थों के साथ देखा है, या जिसकी बाबत हम ख्याल करते हैं कि इसमें कोई ऐसी बात नहीं, जो अन्य पदार्थों

मे न पायी जाती हो, उसे हम अपने ध्यान में उतनी देर नहीं रख सकते, जितनी देर उस पदार्थ को रख सकते हैं जिसकी बाबत हम ख्याल करते हैं कि उसमें कुछ विलक्षणता है।

उपपत्ति—ज्यो ही हम ऐसे पदार्थ की कल्पना करते हैं जिसे हमने अन्य पदार्थों के साथ देखा है, हम तुरन्त इन अन्यो की याद करते हैं (भाग २, साध्य १८ और इसकी टिप्पणी), और इस तरह एक का ध्यान करते ही हमें दूसरे का ध्यान आता है। और यही स्थिति उस पदार्थ की है जिसमें हमें कोई ऐसी चीज नहीं दीखती, जो बहुत पदार्थों में साझी नहीं। क्योंकि हम फर्ज कर रहे हैं कि हमें इसमें कोई ऐसी बात दिखाई नहीं देती, जिसे हमने दूसरों में नहीं देखा। परन्तु जब हम फर्ज करते हैं कि हम किसी पदार्थ में किसी विलक्षणता की कल्पना करते हैं, किसी ऐसे गुण की जिसे हमने पहले कभी नहीं देखा, तो हम इतना ही कहते हैं कि इसका चिन्तन करते हुए, मन में और कुछ नहीं जिससे वह किसी वस्तु के चिन्तन की ओर चल पड़े। और इसलिए यह उसी के चिन्तन के लिए निर्णीत होता है। इसलिए जिस पदार्थ को हमने, इत्यादि। इ० सि०

टिप्पणी—मन का यह रूपभेद या किसी विशेष पदार्थ की प्रशंसा, जहाँ तक कि यह मन में ही विद्यमान होती है, आश्चर्य कहलाता है, परन्तु यदि यह किसी ऐसे पदार्थ का परिणाम हो जिससे हम डरते हैं, तो इसे भयातुरता कहते हैं, क्योंकि जब मनुष्य किसी अभद्र वस्तु पर चकित होता है, तो उसका मन इसका ध्यान करते हुए अस्थिर रहता है, जिससे वह ऐसी अन्य वस्तुओं का चिन्तन नहीं कर सकता, जिनकी सहायता से वह अपने आप को इससे विमुक्त कर सके। परन्तु यदि वह गुण जिसे देखकर हम चकित होते हैं, किसी मनुष्य की दूरदर्शिता, मेहनत या कोई अन्य ऐसा गुण हो, जिसमें वह हमसे बहुत उत्कृष्ट है, तो यह आश्चर्य सत्कार कहलाता है, इसके विपरीत यदि हम किसी के क्रोध या ईर्ष्या पर हैरान होते हैं, तो यह त्रास है। फिर यदि हम किसी ऐसे पुरुष की दूरदर्शिता आदि की प्रशंसा करते हैं, जिससे हम प्रेम करते हैं, तो इसी तथ्य से हमारा प्रेम बढ़ जायगा (भाग ३, साध्य १२), और हम आश्चर्य या सत्कार से मिले हुए इस प्रेम को भक्ति कहते हैं। और इसी तरह हम द्वेष, आशा, विश्वास और अन्य उद्वेगों की बाबत आश्चर्य के संयोग में चिन्तन कर सकते हैं; और इस तरह हम उससे अधिक उद्वेगों का अनुमान कर सकते हैं, जितनों के लिए हमारी साधारण शब्दावली में नाम मौजूद है। इससे स्पष्ट है कि उद्वेगों के नाम साधारण प्रयोग से लिये जाते हैं, उनके यथार्थ ज्ञान से नहीं लिये जाते।

आश्चर्य के प्रतिकूल तिरस्कार है, जिसका अधिकांश में कारण यह है कि जब हम किसी मनुष्य को किसी वस्तु पर आश्चर्य करते, उससे प्रेम करते या उससे भयभीत होते देखते हैं, या पहली दृष्टि में कोई वस्तु हमें उन वस्तुओं के समान दीखती है, जिन पर हम आश्चर्य करते हैं, जिनसे प्रेम करते या भयभीत होते हैं (भाग ३, साध्य १५, टिप्पणी सहित, और साध्य २७), हम उस पर आश्चर्य करने, उससे प्रेम करने या उससे भयभीत होने पर निर्णीत होते हैं। परन्तु यदि उस वस्तु की उपस्थिति या यथार्थ परीक्षा से उस सब कुछ को अस्वीकार करने पर बाधित होते हैं, जो कि आश्चर्य, भय, प्रेम आदि का कारण हो सकता था, तो मन उन गुणों का चिन्तन करने में अधिक प्रवृत्त रहता है, जो उसमें विद्यमान नहीं, बल्कि उन गुणों के जो विद्यमान हैं; दूसरी ओर, वस्तु की उपस्थिति के कारण, मन उसके विद्यमान गुणों का चिन्तन करने के लिए अधिक प्रवृत्त होता है। अब जैसे भक्ति प्रिय वस्तु पर आश्चर्य करने का परिणाम है, वैसे हँसी-ठट्ठा उस वस्तु के तिरस्कार का फल है जिससे द्वेष या भय करते हैं, और घोर अनादर मूर्खता के तिरस्कार का फल है, जैसे सत्कार दूरदर्शिता पर आश्चर्य करने से प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त हम प्रेम, आशा, सम्मान और अन्य उद्देश्यों का तिरस्कार के संयोग में चिन्तन कर सकते हैं, और इस तरह अन्य उद्देश्यों का अनुमान कर सकते हैं, जिन्हें हम विशेष नामों से नहीं जानते।

साध्य ५३—जब मन अपनी बाबत और अपनी शक्ति की बाबत चिन्तन करता है, तो प्रसन्न होता है, और जितना स्पष्ट अपनी और अपनी शक्ति की बाबत इसका चिन्तन होता है, उतनी ही अधिक इसकी प्रसन्नता होती है।

उपपत्ति—मनुष्य अपने आप को अपने शरीर के रूपभेदों और उनके प्रत्ययों के द्वारा ही जानता है (भाग २, साध्य १९ और २३)। इसलिए जब कभी मन अपनी बाबत चिन्तन कर सकता है, तो इस तथ्य से यह समझ लिया जाता है कि इसने पूर्णता की उच्चतर अवस्था को प्राप्त कर लिया है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) यह अधिक प्रसन्नता अनुभव कर रहा है, और जितना स्पष्ट इसकी अपनी बाबत और क्रिया-शक्ति की बाबत इसका चिन्तन होता है, उतनी ही अधिक इसकी प्रसन्नता होती है। इ० सि०

उपप्रमेय—यह प्रसन्नता उतनी ही बढ़ती जाती है, जितना कोई मनुष्य कल्पना करता है कि दूसरे उसकी प्रशंसा करते हैं। क्योंकि जितनी अधिक उसकी कल्पना के अनुसार दूसरे उसकी प्रशंसा करते हैं, उतनी ही अधिक, केवल इस तथ्य के कारण,

वह प्रसन्नता होती है, जो उसके विचारानुसार दूसरे अनुभव करते हैं, और इसके साथ यह बोध मिला होता है कि वह इस प्रसन्नता का कारण है (भाग ३, साध्य २९, टिप्पणी)। और इसलिए (भाग ३, साध्य २७) उतनी ही अधिक, उसके अपने प्रत्यय से मिली हुई, उसकी प्रसन्नता होगी। इ० सि०

साध्य ५४—मन केवल उन वस्तुओं की कल्पना करने का यत्न करता है, जो इसे इसकी क्रिया-शक्ति देती है।

उपपत्ति—मन का प्रयत्न या शक्ति इसका सार ही है (भाग ३, साध्य ७)। परन्तु मन का सार (जैसा स्वतः सिद्ध है) केवल उसी की घोषणा करता है जो मन है और कर सकता है, न उसकी कि जो यह नहीं और कर नहीं सकता। और इसलिए यह केवल उसी की कल्पना करने का यत्न करता है, जो इसकी क्रिया-शक्ति की घोषणा करता है या इसे देता है। इ० सि०

साध्य ५५—जब मन अपनी निर्बलता की कल्पना करता है, तो ऐसा करने से ही दुखी होता है।

उपपत्ति—मन का सार केवल उसी की घोषणा करता है जो मन है और कर सकता है, अन्य शब्दों में मन की प्रकृति यह है कि यह उन वस्तुओं की ही कल्पना करे जो इसे इसकी क्रिया-शक्ति देती है (पूर्व साध्य)। इसलिए जब हम कहते हैं कि मन अपनी बाबत चिन्तन करते हुए अपनी निर्बलता की कल्पना करता है, तो हम यही कहते हैं कि जब मन किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करने का यत्न करता है, जो इसे क्रिया-शक्ति देती है, तो इसका यत्न बाधित होता है, या यह कि (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) यह दुखी होता है। इ० सि०

उपप्रेम १—यह दुःख या शोक बढ़ जाता है, यदि कोई कल्पना करे कि दूसरे उसकी निन्दा करते हैं। इसे उसी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है, जैसे भाग ३, साध्य ५३ का उपप्रेम।

टिप्पणी—यह दुःख, जिसके साथ अपनी दुर्बलता का बोध मिला होता है, दीनता कहलाता है; दूसरी ओर जो प्रसन्नता अपनी बाबत सोचने से पैदा होती है, आत्म-प्रेम या सतुष्टि कहलाती है। और चूँकि जब-जब भी मनुष्य अपने सद्गुणों या क्रिया-शक्ति का चिन्तन करता है, तब-तब यह दुहराया जाता है, परिणाम यह होता है कि हरएक को शौक होता है कि अपने वीरता के कार्यों को सुनाता रहे और अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति का प्रदर्शन करता रहे, और यह भी कि इस कारण से मनुष्य एक दूसरे के लिए कण्टक बन जाते हैं। इसका यह भी परिणाम

है कि मनुष्य स्वभाव से ईर्ष्यालु है (भाग ३, साध्य २४ की टिप्पणी और सा ३२ की टिप्पणी देखो), या अन्य शब्दों में वे अपने बराबर के लोगों की निर्बलता। प्रसन्न होने और उनकी शक्ति पर शोकाकुल होने की प्रवृत्ति रखते हैं। क्योंकि जब कभी कोई अपने कार्यों का चिन्तन करता है, वह प्रसन्न होता है (भाग साध्य ५३), और यह प्रसन्नता उतनी ही अधिक होती है जितना अधिक स्प उसका चिन्तन होता है, या जितनी अधिक पूर्णता को यह व्यक्त करता है, अथ (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी की व्याख्या के अनुसार) जितना वह इन कार्यों। अन्य कार्यों से अलग कर सकता और इन्हें विलक्षण समझ सकता है। इसके फ स्वरूप प्रत्येक मनुष्य को अपने आप पर चिन्तन करने से अति अधिक प्रसन्नता होग जब वह अपने आप में किसी ऐसे गुण की कल्पना करता है, जिसे वह दूसरो अस्वीकार करता है। परन्तु यदि वह गुण जिसका वह दावा करता है, मनुष्य अ पशु के सामान्य प्रत्यय की ओर सकेत करता है, तो उसकी प्रसन्नता इतनी अधिक नहीं होगी, और दूसरी ओर, यदि वह ख्याल करता है कि दूसरो के कर्मों की अपे उसके कर्म निर्बल है, तो उसे रज होगा, जिस रज को (भाग ३, साध्य २८) करने के लिए वह दूसरो के कर्मों को अयथार्थ रग-रूप में देखने या अपने कर्मों। यथासंभव अलंकृत करने का यत्न करेगा। इसलिए यह स्पष्ट है कि मनुष्यो द्वेष और ईर्ष्या की स्वाभाविक प्रवृत्ति मौजूद है, जिसे उनकी शिक्षा से भी सहाय मिलती है। क्योंकि माता-पिता अपने बच्चों को सदाचार की ओर प्रोत्साहित करने के लिए प्रायः प्रतिष्ठा की आशा दिलाते हैं या ईर्ष्या को पुष्ट करते हैं। पर भी शायद यहाँ कोई आशंका करेगा और कहेगा कि हम अनेक बार मनुष्यो नेकियों को देखकर हैरान होते हैं, और उनका मान करते हैं। इस आशंका को द करने के लिए मैं निम्न उपप्रमेय दूँगा।

उपप्रमेय २—कोई मनुष्य अपने बराबर के मनुष्य के अतिरिक्त किसी दूस के सदाचार से ईर्ष्या नहीं करता।

उपपत्ति—ईर्ष्याद्वेष ही है (भाग ३, साध्य २४ की टिप्पणी देखो) या (भाग ३, साध्य १३, टिप्पणी) शोकातुरता है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) ऐसा रूपभेद है जिससे किसी मनुष्य की क्रिया-शक्ति या यत्न में बाधा पड़ती है परन्तु मनुष्य (भाग ३, साध्य ९, टिप्पणी) वही करने का यत्न करता या क की इच्छा करता है, जो उसकी प्रस्तुत प्रकृति का परिणाम हो सकता है। इसलिए मनुष्य चाहता है कि वह अपने आप में किसी ऐसी शक्ति या (जो एक ही बात है

श्रेष्ठता की कल्पना न करे, जो किसी अन्य प्रकृति के अनुकूल और उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है। और इसलिए इस तथ्य से कि किसी असमान व्यक्ति में उसे कोई श्रेष्ठता दीखती है, उसकी इच्छा में बाधा नहीं पड़ सकती, न उसे दुःख हो सकता है, और इसके परिणामस्वरूप वह उससे ईर्ष्या नहीं कर सकता, परन्तु वह अपने बराबर के मनुष्य से ईर्ष्या कर सकता है, जिसे उसकी प्रकृति का समझा जाता है।

इ० सि०

टिप्पणी—जब हमने भाग ३, साध्य ५२ की टिप्पणी में कहा कि किसी मनुष्य का सत्कार इसलिए करते हैं कि हम उसकी दूरदर्शिता, साहस आदि पर हैरान होते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह था कि ऐसा होता है (जैसा साध्य से ही स्पष्ट है), क्योंकि हम ख्याल करते हैं कि वे श्रेष्ठताएँ उस मनुष्य में ही पायी जाती हैं, और हमारी प्रकृति में सामान्य नहीं; इसलिए हम उससे ईर्ष्या नहीं करते, जैसा हम वृक्ष से उसकी ऊँचाई के लिए या शेर से उसके साहस के लिए ईर्ष्या नहीं करते।

साध्य ५६—सुख, दुःख और इच्छा की, और इसके परिणामस्वरूप किसी उद्वेग की जो इनका मिश्रण है, जैसे मन का डॉवाडोल होना, या इनसे निकला है, जैसे प्रेम, भय, आशा, द्वेष आदि, उतनी ही श्रेणियाँ हैं, जितनी उन पदार्थों की हैं, जिनसे हम प्रभावित होते हैं।

उपपत्ति—सुख, दुःख और इसके फलस्वरूप वे उद्वेग जो इनके मिश्रण हैं या इनसे प्रकट हुए हैं, बहिर्जात उद्वेग हैं (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी), जिस अंश में हमारे प्रत्यय अपर्याप्त होते हैं, उसमें भी हम आक्रान्त होते हैं (भाग ३, साध्य १), और जिस अंश में हमारे प्रत्यय अपर्याप्त हैं, उसी अंश में हम आक्रान्त हैं (भाग ३, साध्य ३), अर्थात् (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी देखो) हम अनिवार्य रूप से उसी हद तक आक्रान्त होते हैं, जहाँ तक कल्पना करते हैं, या (भाग २, साध्य १७ और इसकी टिप्पणी देखो) जहाँ तक हम ऐसे उद्वेग से प्रभावित होते हैं जिसमें हमारे शरीर और किसी बाहरी पदार्थ की प्रकृति निहित है। इसलिए प्रत्येक बहिर्जात उद्वेग की प्रकृति अनिवार्य रूप से इस तरह व्याख्यात होनी चाहिए कि जिस पदार्थ से हम प्रभावित हुए हैं, उसकी प्रकृति भी स्पष्ट हो सके। उदाहरण के लिए, जो प्रसन्नता पदार्थ अ से उत्पन्न होती है, अ की प्रकृति की सूचक है, व से उत्पन्न होनेवाली प्रसन्नता व की प्रकृति की सूचक है, और इसलिए ये दोनों प्रसन्नताएँ भिन्न प्रकृतियों की हैं, क्योंकि वे भिन्न प्रकृतियों के कारणों से उत्पन्न होती हैं। इसी तरह शोकातुरता का उद्वेग जो एक पदार्थ से उत्पन्न होता है, वह

अपनी प्रकृति में दूसरे पदार्थ से उत्पन्न होनेवाले उद्वेग से भिन्न होता है, और यही प्रेम, द्वेष, आशा, भय, मन की अस्थिरता आदि की बाबत भी समझना चाहिए। और इसलिए सुख, दुःख, प्रेम आदि की उतनी ही श्रेणियाँ हैं, जितनी उन पदार्थों की हैं जिनसे हम प्रभावित होते हैं। परन्तु इच्छा प्रत्येक का सार या स्वभाव है, जहाँ तक ख्याल किया जाता है कि यह मनुष्य की किसी प्रस्तुत प्रवृत्ति से कुछ करने के लिए निर्णीत होती है (भाग ३, साध्य ९ की टिप्पणी देखो)। इसलिए, जिस तरह किसी मनुष्य को बाहरी कारण एक या दूसरे प्रकार के सुख, दुःख, प्रेम, द्वेष से प्रभावित करते हैं, अर्थात् जिस तरह उसकी प्रकृति इस या उस प्रकार में बनी है, उसी तरह उसकी इच्छा भी यह या वह होगी, और एक इच्छा की प्रकृति दूसरी इच्छा की प्रकृति से अनिवार्य रूप में उतनी ही भिन्न होगी, जितनी वे उद्वेग एक दूसरे से भिन्न हैं, जिनसे हर एक इच्छा उत्पन्न हुई है। इसलिए इच्छाओं की उतनी ही श्रेणियाँ हैं, जितनी सुख, दुःख, प्रेम आदि की हैं, और इसके फलस्वरूप उन पदार्थों की श्रेणियाँ हैं, जिनसे हम प्रभावित होते हैं। इ० सि०

टिप्पणी—उद्वेगों की श्रेणियों में, जिनकी संख्या (पूर्व साध्य) बहुत बड़ी है, अति प्रसिद्ध ये हैं—चटोरापन, मदिरापान, काम, लोभ और लालसा। ये प्रेम या इच्छा के भेद ही हैं, जो एक या दूसरे उद्वेग की प्रकृति को उन पदार्थों के अनुसार, जिनकी ओर वे सकेत करते हैं, स्पष्ट करते हैं। क्योंकि चटोरापन, मदिरापान, काम, लोभ और लालसा का अभिप्राय यही है कि दावते खाने, शराब पीने, विषय भोग, धन और प्रतिष्ठा के लिए अपरिमित प्रेम या इच्छा है। इसके अतिरिक्त, इन उद्वेगों का, जहाँ तक हम इन्हें अन्य उद्वेगों से केवल उन वस्तुओं के आधार पर पृथक् करते हैं, कोई प्रतिकूल उद्वेग नहीं होता। क्योंकि खाने में सयम, मदिरा प्रयोग का अभाव, आचार की शुद्धता, जिन्हें हम प्रायः चटोरापन, मदिरापान, काम आदि के मुकाबिले रखते हैं, उद्वेग या बहिर्जात उद्वेग नहीं हैं, वे मन की शक्ति को प्रकट करते हैं, जो इन उद्वेगों को सयम में रखती है। उद्वेगों की बाकी श्रेणियों की मैं यहाँ व्याख्या नहीं कर सकता (क्योंकि उनकी संख्या उतनी ही है, जितनी पदार्थों की है), और यदि मैं यह कर भी सकता, तो इसकी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि जो कुछ हमारे विचारगर्भीय है, उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि उद्वेगों की शक्ति को और उन्हें नियम में रखने की मन की योग्यता को निश्चित कर दिया जाय, और व्यापक प्रयोग वाले प्रत्येक उद्वेग का लक्षण किया जाय। मैं कहता हूँ कि हमारे लिए इतना पर्याप्त है कि हम उद्वेगों और मन के सामान्य

लक्षणों को समझ ले, ताकि हम यह जान सकें कि उद्वेगों को नियम में रखने और रोकने के लिए मन की किस प्रकार की और कितनी शक्ति आवश्यक है। और इस तरह, यद्यपि प्रेम, द्वेष या इच्छा के भिन्न-भिन्न उद्वेगों में बहुत अन्तर है, जैसे सन्तान के प्रति प्रेम और पत्नी के प्रति प्रेम में, तो भी हमें यहाँ इन भेदों को देखना नहीं है, न उद्वेगों के स्रोत और प्रकृति की बाबत अधिक विचार करना है।

साध्य ५७—हर एक व्यक्ति का कोई उद्वेग किसी दूसरे के उद्वेग से उसी अंश में भिन्न होता है, जिसमें कि एक का सार दूसरे के सार से भिन्न होता है।

उपपत्ति—यह साध्य स्वयतः १ में, जो भाग २, साध्य १३, टिप्पणी, प्रमेयिका १ के बाद मिलेगा, स्पष्ट है। इस पर भी हम इसे तीन मौलिक उद्वेगों की परिभाषाओं से सिद्ध करेंगे।

सभी उद्वेग इच्छा, सुख, या दुःख की ओर सकेत करते हैं, जैसा उनकी परिभाषाओं से जो हमने दी है, स्पष्ट है। परन्तु इच्छा प्रत्येक वस्तु की प्रकृति और सार है (भाग ३, साध्य ९ की टिप्पणी में इसकी परिभाषा देखो)। इसलिए एक मनुष्य की इच्छा दूसरे मनुष्य की इच्छा से उसी अंश में भिन्न है जिसमें एक का सार दूसरे के सार या प्रकृति से भिन्न है। सुख और दुःख वे उद्वेग हैं, जिनसे हर एक मनुष्य की अपनी सत्ता को बनाये रखने की शक्ति या चेष्टा बढ़ती या घटती, सहायता पाती या रुकती है (भाग ३, साध्य ११, और इसकी टिप्पणी)। परन्तु चूंकि अपनी सत्ता को बनाये रखने का यत्न एक साथ मन और शरीर की ओर सकेत करता है, हम इसे तृषा या इच्छा के अर्थ में लेते हैं (भाग ३, साध्य ९, टिप्पणी), इसलिए सुख और दुःख इच्छा या तृषा ही हैं, जिस अंश में कि यह बाहरी कारणों से बढ़ती या घटती है, सहायता पाती या रुकती है, अर्थात् (वही टिप्पणी), वे हर एक की प्रकृति हैं। और इसलिए एक मनुष्य का सुख या दुःख दूसरे के सुख या दुःख से उसी अंश में भिन्न होता है, जिसमें एक की प्रकृति या सार दूसरे की प्रकृति या सार से भिन्न है, और इसके परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति का उद्वेग, इत्यादि। इ० सि०

टिप्पणी—इसका परिणाम यह है कि पशुओं के उद्वेग, जिन्हें बुद्धिहीन कहा जाता है (क्योंकि अब जब कि हम मन के उद्भव को जानते हैं, हम उनकी अनुभूति में तो सन्देह कर नहीं सकते), मनुष्य के उद्वेगों से भिन्न हैं, क्योंकि उनकी प्रकृति मनुष्य की प्रकृति से भिन्न है। घोड़े और मनुष्य दोनों में प्रजनन की प्रबल इच्छा है, परन्तु पहले की इच्छा घोड़े की इच्छा है, और दूसरे की मानव इच्छा

है। इसी तरह कीड़ों, मछलियों और पक्षियों की अभिलाषाएँ और तृप्ताएँ भी भिन्न होनी चाहिए। इस तरह यद्यपि प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति से सतुष्ट और प्रसन्न होता है, तो भी वह जीवन, जिसमें वह सतुष्ट और प्रसन्न है, उस व्यक्ति का प्रत्यय या आत्मा ही है और इसलिए एक की प्रसन्नता दूसरे की प्रसन्नता से उसी हद तक भिन्न है, जिस तक एक का सार दूसरे के सार से भिन्न है। फिर, पूर्व साध्य से यह परिणाम निकलता है कि एक शराबी और एक दार्शनिक की प्रसन्नता में बहुत भेद है, जिसका जिक्र यहाँ मैं प्रसंगवश करना चाहता था।

उन उद्वेगों की बाबत जो मनुष्य की ओर उसके आक्रान्त होने की स्थिति में सकेत करते हैं, मुझे इतना ही कहना है। इतना और करना है कि कुछ बातें ऐसी कहूँ जो मनुष्य के कर्मशील होने की स्थिति में उसकी ओर सकेत करती हैं।

साध्य ५८—उस सुख और इच्छा के अतिरिक्त जो बहिर्जात उद्वेग है, मुख और दुःख के अन्य उद्वेग ऐसे भी हैं, जो हमारी ओर सकर्मक या क्रियाशील होने की स्थिति में सकेत करते हैं।

उपपत्ति—जब मन अपनी बाबत और अपनी क्रिया-शक्ति की बाबत चिन्तन करता है, तो प्रसन्न होता है (भाग ३, साध्य ५३)। परन्तु जब किसी सत्य या पर्याप्त प्रत्यय का चिन्तन करता है, तो यह अवश्यमेव अपना चिन्तन करता है (भाग २, साध्य ४३)। परन्तु मन विशेष पर्याप्त प्रत्ययों का चिन्तन करता है (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी २)। इसलिए जिस अश में यह पर्याप्त प्रत्ययों का चिन्तन करता है, उसमें भी यह प्रसन्न होगा, अर्थात् (भाग ३, साध्य १) जिस अश में यह क्रियाशील है। फिर मन, चाहे इसके प्रत्यय विमल और स्पष्ट हो, या अस्पष्ट हो, अपनी सत्ता को बनाये रखने का यत्न करता है (भाग ३, साध्य ९)। परन्तु यत्न से हमारा अभिप्राय इच्छा होता है (भाग ३, साध्य ९, टिप्पणी)। इसलिए इच्छा भी हमारी ओर सकेत करती है, जिस अश में हम समझते या भली-भाँति जानते हैं, या (भाग ३, साध्य १) जिस अश में हम क्रियाशील होते हैं। इ० सि०

साध्य ५९—उन उद्वेगों में जो मन की ओर इसके क्रियाशील होने की स्थिति में सकेत करते हैं, कोई ऐसे नहीं जो सुख या इच्छा की ओर सकेत न करे।

उपपत्ति—सभी उद्वेग, जैसा उनकी परिभाषाओं से जो हमने दी थी स्पष्ट है, मुख, दुःख या इच्छा की ओर सकेत करते हैं। परन्तु दुःख से हमारा अभिप्राय यह होता है कि मन की चिन्तन की शक्ति कम होती है या रुकती है (भाग ३,

कि प्रमुख उद्वेगो की गणना कर दी गयी है, जिन उद्वेगो को मैंने छोड़ दिया है, उनका वर्णन खोजियो की तुष्टि के लिए होता, उनके लिए नहीं जो इससे लाभ उठाना चाहते हैं। इस पर भी अभी प्रेम की बावत यह देखना है कि कई बार ऐसा होता है कि जब हम किसी वस्तु का, जिसकी हम इच्छा करते थे, उपभोग कर रहे होते हैं, तो शरीर इस उपभोग से एक नयी प्रवृत्ति ग्रहण करता है, जिसके कारण एक नयी दिशा में निर्णीत होता है, और इसमें वस्तुओं के अन्य प्रतिबिम्ब उदय हो जाते हैं, और उसी समय मन अन्य वस्तुओं की कल्पना और इच्छा करने लगता है। उदाहरण के लिए, जब हम किसी ऐसी चीज की कल्पना करते हैं जो अपने स्वाद में प्रसन्न किया करती है, तो हम इसका उपभोग करना अर्थात् इसे खाना चाहते हैं। परन्तु हमारे उपभोग के साथ ही हमारा मेदा भर जाता है और शरीर की इच्छा एक नयी दिशा में फिर जाती है। परन्तु जब तक शरीर इस अवस्था में है, यदि इस खाद्य पदार्थ का चित्र, इसकी उपस्थिति की हालत में, उत्तेजित हो, और इसके परिणामस्वरूप इसे खाने का यत्न या इच्छा उत्तेजित हो, तो शरीर की नयी स्थिति इस इच्छा या यत्न के प्रति घृणा अनुभव करेगी, और इसके फलस्वरूप खाद्यपदार्थ की उपस्थिति, जिसे पहले हम चाहते थे, अब हमारे लिए घृणित या अप्रिय हो जायगी। इस हालत को हम अतीवृता या तग आना कहते हैं।

यह भी कहना है कि मैंने शरीर के बाहरी रूपभेदों को जो उद्वेगों में दीवते हैं, जैसे काँपना, रग उड़ जाना, सिसकना, हँसना, अपने विवरण में छोड़ दिया है, क्योंकि वे मन के साथ संबंधित न होते हुए शरीर की ओर सकेत करते हैं। इसके अतिरिक्त, चूँकि उद्वेगों की परिभाषाओं के सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं, मैं उन्हें इस क्रम में दुहराऊँगा, साथ ही ऐसी टिप्पणियाँ भी दूँगा, जिन्हें मैं आवश्यक समझता हूँ।

उद्वेगों की परिभाषाएँ

१ इच्छा मनुष्य का सार ही है, जिस अंग में हम समझते हैं कि यह अपने किसी प्रस्तुत रूपभेद से कुछ करने के लिए निर्णीत होती है।

टीका—ऊपर भाग ३, साध्य ९ की टिप्पणी में हमने कहा था कि इच्छा तृप्ता है जिसे अपना बोध है, और कि तृप्ता मनुष्य का सार ही है, जिस अंग में यह ऐसी क्रियाएँ करने पर निर्णीत होती है, जो इसे सुरक्षित रखने में सहायक होंगी। परन्तु उसी टिप्पणी में मैंने यह चेतावनी भी दे दी थी कि वास्तव में मैं मानव तृप्ता और

इच्छा में कोई भेद स्वीकार नहीं करता। क्योंकि चाहे किसी मनुष्य को अपनी तृषा का ज्ञान हो या न हो, दोनों हालतों में उसकी तृषा तो वही रहती है, और इसलिए इस ख्याल से कि मैं पुनरुक्ति का अपराधी न समझा जाऊँ, मैंने इच्छा को तृषा के द्वारा व्याख्यात करना चाहा, परन्तु साथ ही मैंने इस प्रकार से इसका लक्षण करने का यत्न किया कि मैं एक ही शब्द में मानव प्रकृति के उन सब यत्नों को सम्मिलित कर दूँ जिन्हें हम तृषा, सकल्प, इच्छा या प्रवृत्ति का नाम देते हैं। मैं वस्तुतः यह कह सकता था कि इच्छा मनुष्य का सार ही है, जिस अंश में हम समझते हैं कि यह कुछ करने के लिए निर्णीत होती है; परन्तु इस परिभाषा से (भाग २, साध्य २३) यह नतीजा न निकलता कि मन को अपनी तृषा या इच्छा का ज्ञान हो सकता था। इसलिए, इस ज्ञान के कारण को बीच ले आने के लिए इतना और कह देना आवश्यक था (वही साध्य) — 'जिस अंश में समझा जाता है कि यह अपने किसी रूपभेद से निर्णीत होती है।' क्योंकि मानव-प्रकृति के रूप-भेद से हम उस प्रकृति की हर एक प्रवृत्ति समझते हैं, चाहे वह स्वाभाविक हो, चाहे उसे चिन्तन या विस्तार में से किसी एक के तले समझा जाय, या वह एक साथ उन दोनों की ओर संकेत करे। इसलिए इच्छा से मेरा अभिप्राय उन प्रयत्नों, प्रवृत्तियों, तृषाओं या संकल्पों से है, जो किसी मनुष्य की विविध अभिरूचियों के अनुसार बहुरूप है, और अनेक बार एक दूसरे के प्रतिकूल होते हैं, क्योंकि मनुष्य विविध दिशाओं में आकृष्ट होता है और नहीं जानता कि किधर जाय।

२ सुख मनुष्य का वह स्थिति-परिवर्तन है जिसमें वह पूर्णता की अधम स्थिति से उत्तम स्थिति को जाता है।

३ दुःख मनुष्य का वह स्थिति-परिवर्तन है जिसमें वह पूर्णता की उत्तम स्थिति से अधम स्थिति को जाता है।

टीका—मैं स्थिति-परिवर्तन कहता हूँ, क्योंकि सुख स्वयं पूर्णता नहीं, क्योंकि यदि वह पूर्णता जिसे मनुष्य प्राप्त करता है, जन्मजात होती, तो उसकी प्रकृति में सुख का उद्वेग न होता, और यह बात अपने विपरीत से और भी स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि कोई मनुष्य इससे इन्कार नहीं कर सकता कि दुःख किसी बड़ी पूर्णता से छोटी पूर्णता को जाना है, स्वयं छोटी पूर्णता नहीं, क्योंकि जिस अंश में मनुष्य किसी पूर्णता में साक्षी है, वह इतना दुःखी नहीं हो सकता, न ही हम यह कह सकते हैं कि दुःख अधिक पूर्णता का लुप्त होना है, क्योंकि लोप कोई वस्तु नहीं। परन्तु शोकातुरता या दुःख एक क्रिया है जो पूर्णता की अधम स्थिति को जाने की क्रिया

ही हो सकती है, अर्थात् ऐसी क्रिया जिससे किसी मनुष्य की क्रिया-शक्ति कम होती है या रुकती है (भाग ३, साध्य ११ की टिप्पणी देखो)। हँसी, खिसियाना, चिन्ताकुलता और शोक की परिभाषाएँ मैं नहीं करता, क्योंकि उनका सबन्ध अधिकतर शरीर से है, और वे सुख या दुःख के रूपभेद नहीं हैं।

४ आश्चर्य किसी वस्तु की ऐसी कल्पना है जिसमें मन गतिहीन, स्थिर रहता है, क्योंकि इस विशेष वस्तु की कल्पना शेष से सबद्ध नहीं होती (साध्य ५२ और इसकी टिप्पणी देखो)।

टीका—भाग १, साध्य १८ की टिप्पणी में हमने दिखाया था कि क्यों मन एक वस्तु के चिन्तन करने पर तुरन्त किसी दूसरी वस्तु का चिन्तन करने लगता है, अर्थात् उन वस्तुओं के चित्र इस तरह गुंथे और क्रमबद्ध थे कि एक दूसरे के बाद प्रस्तुत होता था, जिसकी कल्पना नहीं हो सकती। यदि यह चित्र नया हो, परन्तु मन उस वस्तु के चिन्तन में बँधा रहेगा, जब तक कोई अन्य कारण इसे भिन्न चिन्तन पर बाधित न करे। इसलिए किसी नयी वस्तु की कल्पना, अपने आप में, अन्य कल्पनाओं की प्रकृति की ही है, और इसलिए मैं आश्चर्य को उद्वेगों में नहीं गिनता, न मुझे ऐसा करने का कोई कारण दिखाई देता है, क्योंकि मन की यह विचलितता किसी भावात्मक कारण से उदय नहीं होती, जो मन को अन्य वस्तुओं से हटाकर अपनी ओर आकृष्ट करती है, अपितु केवल इसलिए कि कोई ऐसा कारण विद्यमान नहीं जिसके प्रभाव में मन एक वस्तु के चिन्तन पर अन्य वस्तुओं का चिन्तन कटूने लगे। इसलिए (जैसा मैंने भाग ३, साध्य ११ की टिप्पणी में कह दिया था) मैं केवल तीन मौलिक उद्वेगों को स्वीकार करता हूँ, अर्थात् सुख, दुःख, और इच्छा। मैंने आश्चर्य का वर्णन केवल इसलिए किया है कि यह प्रथा चली हुई है कि कुछ उद्वेगों को जो तीन मौलिक उद्वेगों से उदित होते हैं, विशेष नाम दिये जाते हैं, जब वे ऐसी वस्तुओं की ओर सकेत करते हैं जो हमें चकित कर देती हैं। और इसी कारण से मैं घृणा की परिभाषा करने पर भी उद्यत होता हूँ।

५. घृणा ऐसी वस्तु की कल्पना है जो मन को इतना कम स्पर्श करती है कि मन उसकी उपस्थिति से उन वस्तुओं की कल्पना करने में प्रवृत्त होता है जो उसके अन्तर्गत नहीं आती, न कि उन वस्तुओं की जो उसके अन्तर्गत आती हैं (भाग ३, साध्य ५२ की टिप्पणी देखो)।

मैं यहाँ सत्कार और तिरस्कार की परिभाषा नहीं करता, क्योंकि मुझे ऐसे उद्वेगों का बोध नहीं जो इनसे उदित होते हैं।

६ प्रेम वह सुख है जिसके साथ किसी बाहरी कारण का प्रत्यय मिला हो।

टीका—यह परिभाषा पर्याप्त रूप में प्रेम के सार को प्रकट करती है। जो लेखक इसकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि प्रेम प्रेमी के प्रिय से युक्त होने की अभिलाषा है, वे प्रेम की परिभाषा नहीं करते, अपितु इसके एक गुण का वर्णन करते हैं; और चूँकि इन लेखकों ने प्रेम के सार को पर्याप्त रूप में नहीं देखा, इसलिए उन्हें इसके गुण का भी स्पष्ट ज्ञान नहीं, और इसलिए उनकी परिभाषा सबको अति अस्पष्ट दीखती है। परन्तु यह कह दूँ कि जब मैं कहता हूँ कि प्रेम के सार का यह एक गुण है कि प्रेमी अपने प्रेम-विषय से सयुक्त होने की इच्छा करता है, तो सकल्प या इच्छा से मेरा अभिप्राय स्वीकृति, निश्चय या स्वाधीन निर्णय नहीं (क्योंकि हम भाग २, साध्य ४८ में दिखा चुके हैं कि यह कल्पना मात्र है), न प्रिय की अनुपस्थिति में प्रेमी की उससे मिलने की अभिलाषा, न ही उसकी उपस्थिति में उसके साथ टिके रहने की अभिलाषा (क्योंकि इन दोनों अभिलाषाओं के अभाव में प्रेम की कल्पना ही सकती है)। अभिलाषा से मेरा अभिप्राय वह तुष्टि है जो प्रिय वस्तु की उपस्थिति के कारण प्रेम में विद्यमान होती है, जिससे प्रेमी की प्रसन्नता कायम रहती है, कम से कम अभीष्ट होती है।

७ द्वेष वह दुःख है जिसके साथ बाहरी कारण का प्रत्यय भी होता है।

टीका—जो कुछ यहाँ ध्यान में रखने योग्य है, वह सहज ही, जो कुछ पूर्व परिभाषा की टीका में कहा गया था, उससे विदित हो सकता है (भाग ३, साध्य १३ की टिप्पणी भी देखो)।

८. झुकाव या रुझान वह सुख है जिसके साथ किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यय भी होता है जो योग से सुख का कारण है।

९ विमुखता वह दुःख है जिसके साथ किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यय भी होता है जो योग से दुःख का कारण है (भाग ३, साध्य १५ की टिप्पणी देखो)।

१० भक्ति ऐसे व्यक्ति के प्रति प्रेम है जिसकी हम प्रशंसा करते हैं या जिस पर हिरान होते हैं।

टीका—भाग ३ के साध्य ५२ में हमने दिखाया था कि आश्चर्य किसी पदार्थ के नयेपन से होता है। इसलिए यदि स्थिति ऐसी हो जाय कि हम जिस वस्तु पर आश्चर्य करते हैं, उसकी अक्सर कल्पना करें, तो हम उस पर आश्चर्य करना बन्द कर देंगे, और इस तरह हम देखते हैं कि भक्ति सहज ही निरप्रेम में परिवर्तित हो जाती है।

११. ठट्ठा इस तथ्य से उदय होनेवाला सुख है कि हम अपने द्वेष्य में ऐ चीज की उपस्थिति की कल्पना करते हैं जिससे हम घृणा करते हैं।

टीका—जिस अश में हम ऐसी वस्तु से जिससे हम द्वेष करते हैं, घृणा करते उसी अश में हम उसके अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं (भाग ३, साध्य ५ टिप्पणी), और उस अश में हम प्रसन्न होते हैं (भाग ३, साध्य २०)। परन्तु चूं हम फर्ज करते हैं कि जिस वस्तु से मनुष्य ठट्ठा-मखौल करता है, उससे द्वेष कर है, परिणाम यह है कि यह प्रसन्नता मुख्य नहीं (भाग ३, साध्य ४७ की टिप्प देखो)।

१२ आशा ऐसा अनिश्चित सुख है जो किसी भूत या भविष्यत् घटना प्रत्यय से पैदा होता है, जिसके घटने की बाबत हमें अभी किसी अश में सदेह हो है।

१३ भय—भय ऐसा अनिश्चित दुःख है जो किसी भूत या भविष्यत् घट के प्रत्यय से पैदा होता है, जिसके घटने की बाबत हमें अभी किसी अश में सन्न होता है।

टीका—इन परिभाषाओं का परिणाम यह है कि भय आशा के बिना न हो सकता, न आशा भय के बिना हो सकती है। क्योंकि जो मनुष्य आशा पर भरो करता है, और घटना के घटने में सन्देह करता है, वह ऐसी चीज की कल्पना कर समझा जाता है, जो भविष्य में होने वाली उस वस्तु के अस्तित्व को काटती है और इसलिए इस हद तक वह दुःखी होता है (भाग ३, साध्य १९), और इसके फलस्वरूप, जब वह आशा पर भरोसा करता है, उसे घटना के घटने की बाबत आशा होती है। परन्तु दूसरी ओर वह, जिसे आशका है कि जिस घटना से वह द्वेष कर है, वह शायद न ही घटे, ऐसी वस्तु की कल्पना भी करता है, जो उस चीज के अस्तित्व को काटती है, और इसलिए (भाग ३, साध्य २०) वह प्रसन्न होता है, अं इसके फलस्वरूप इस हद तक आशा करता है कि घटना नहीं घटेगी।

१४ विश्वास या निश्चिन्तता भूत या भविष्य में घटने वाली घटना के प्रत्यय से पैदा होने वाला सुख है, जिसके सदिग्ध होने का कारण वशीभूत हो गया है

१५. निराशा भूत या भविष्य में घटने-वाली घटना के प्रत्यय से पैदा होने वाला दुःख है, जिसके सदिग्ध होने का कारण सर्वथा दूर हो गया है।

टीका—इस तरह विश्वास आशा से उदित होता है और निराशा आशा से, जब घटना के घटने की बाबत सदेह का समस्त कारण दूर हो जाता है, जिस

कारण यह होता है कि मनुष्य भूत या भविष्य वस्तु को वर्तमान समझ लेता है, या यह कि वह अन्य ऐसी वस्तुओं की कल्पना करता है जो उन वस्तुओं के अस्तित्व को काट देती है, जिन्होंने उसे सन्देह में डाल दिया था। क्योंकि यद्यपि हम विशेष घटनाओं के घटने की बाबत कभी निश्चित नहीं हो सकते (भाग २, साध्य ३१, टिप्पणी), तो भी यह हो सकता है कि हमें उनके घटने की बाबत कोई सन्देह न हो। क्योंकि हम दिखा चुके हैं कि किसी वस्तु की बाबत सन्देह न होने और उसकी बाबत निश्चय होने में भेद है (भाग २, साध्य ४९ की टिप्पणी देखो); और इसलिए यह हो सकता है कि जो सुख या दुःख हमें एक विद्यमान वस्तु से होता है, वही भूत या भविष्य वस्तु की कल्पना से अनुभूत हो, जैसा हमने भाग ३, साध्य १८ में दिखाया था। इसे इसकी दूसरी टिप्पणी के साथ देखो।

१६ आनन्द किसी बीती हुई घटना के प्रत्यय से युक्त वह सुख है जो अपने घटने में हमारी आशा से अधिक हुआ।

१७ मायूसी किसी बीती हुई घटना के प्रत्यय से युक्त वह दुःख है जो अपने घटने में हमारी प्रतीक्षा से अधिक हुआ।

१८ दया वह दुःख है जो ऐसी आपत्ति के प्रत्यय से युक्त है जो ऐसे व्यक्ति पर आयी जिसे हम अपने समान ख्याल करने हैं (भाग ३, साध्य २२ की टिप्पणी, और साध्य २७ की टिप्पणी देखो)।

टीका—दया और करुणा में कोई भेद प्रतीत नहीं होता, शायद सिवाय इसके कि दया किसी विशेष उद्वेग की ओर सकेत करती है, और करुणा आदत की ओर।

१९ प्रशंसा ऐसे मनुष्य के प्रति प्रेम है जिसने किसी के साथ नेकी की है।

२० क्रोध ऐसे मनुष्य के प्रति द्वेष है जिसने किसी के साथ बुरा व्यवहार किया है।

टीका—मैं जानता हूँ कि मैं इन शब्दों को प्रचलित अर्थ से विस्तृत अर्थ में ले रहा हूँ, परन्तु मेरा उद्देश्य शब्दों का अर्थ बताना नहीं, अपितु वस्तुओं के स्वरूप की व्याख्या करना है, और इस व्याख्या में ऐसे शब्दों का प्रयोग करना है जिनके प्रचलित अर्थ उन अर्थों से जिनमें मैं उन्हें लेना चाहता हूँ, दूषित न हो। यह चेतावनी सदा के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। इन उद्वेगों के कारण की बाबत भाग ३, उपप्रमेय १, और साध्य २२, उपप्रमेय देखो।

२१. पक्षपात किसी वस्तु का प्रेम के प्रभाव में अति अधिक मूल्य लगाना है।

२२. तिरस्कार किसी वस्तु का द्वेष के कारण बहुत कम मूल्य लगाना है।

टीका—इसलिए पक्षपात प्रेम का परिणाम या गुण है और तिरस्कार द्वेष का परिणाम या गुण है, और इसलिए पक्षपात की परिभाषा यो भी हो सकती है—पक्षपात प्रेम है, जिस अश में यह मनुष्य को किसी वस्तु का अति अधिक मूल्य लगाने की प्रेरणा करता है, और दूसरी ओर तिरस्कार द्वेष है, जिस अश में यह द्वेष्य वस्तु का बहुत थोड़ा मूल्य लगाने की प्रेरणा करता है (इस विचाराश पर भाग ३, साध्य २६ की टिप्पणी देखो)।

२३. ईर्ष्या द्वेष है, जिस अश में कि यह मनुष्य को दूसरे सौभाग्य पर दुखी होने और दुर्भाग्य पर सुखी होने पर प्रवृत्त करता है।

टीका—आम तौर पर ईर्ष्या को करुणा के विपरीत समझा जाता है। इसलिए प्रचलित अर्थ की उपेक्षा में इसकी परिभाषा यो की जा सकती है।

२४. सहानुभूति प्रेम है, जिस अश में कि यह मनुष्य को दूसरे के सौभाग्य पर सुखी होने और उसके दुर्भाग्य पर दुखी होने को प्रवृत्त करता है।

टीका—ईर्ष्या की बावत शेष जानने के लिए भाग ३, साध्य २४ की टिप्पणी और साध्य ३२ की टिप्पणी देखो। ये सुख और दुःख के उद्भेग हैं जिनके साथ किसी बाहरी पदार्थ के कारण होने का प्रत्यय मिला होता है, यह पदार्थ स्वभाव से कारण होता है या योग से।

अब मैं उन उद्भेगों की ओर आता हूँ, जिनके साथ कारण की स्थिति में किसी आन्तरिक वस्तु का प्रत्यय मिला होता है।

२५. सतुष्टि ऐसा सुख है जो मनुष्य के अपनी और अपनी क्रिया-शक्ति की बावत चिन्तन करने का परिणाम होता है।

२६. दीनता ऐसा दुःख है जो इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि मनुष्य अपनी शक्तिहीनता या दुर्बलता का चिन्तन करता है।

टीका—सतुष्टि इस अश में दीनता के प्रतिकूल है कि यह सुख हमें अपनी क्रिया-शक्ति के चिन्तन से प्राप्त होता है, परन्तु जहाँ तक हम इसका अर्थ ऐसा मुख समझते हैं जिसके साथ ऐसे कर्म का प्रत्यय मिला होता है, जिसे हमने अपने ख्याल में मन के स्वाधीन निश्चय से किया है, तो यह पश्चात्ताप के विपरीत होता है, जिसकी परिभाषा हम यो कर सकते हैं।

२७. पश्चात्ताप वह दुःख है जो किसी ऐसे कर्म के प्रत्यय से मिला होता है, जिसे हमने अपने ख्याल में मन के स्वाधीन निश्चय से किया है।

टीका—हमने भाग ३, साध्य ५१ की टिप्पणी, साध्य ५३, ५४, ५५

और इसकी टिप्पणी में इन उद्वेगों के कारण दिखाये हैं। मन के स्वाधीन निश्चय की बाबत भाग २, साध्य ३५ की टिप्पणी देखो। परन्तु यहाँ यह प्रसिद्ध विचाराश भी उठ खड़ा होता है कि यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं कि उन तमाम कर्मों से जिन्हें रिवाज के अनुसार दुष्ट कर्म कहा जाता है, दुःख होता हो, और शुभ कहलाने वाले कर्मों से सुख हो। क्योंकि जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे हम समझ सकते हैं कि यह निस्सन्देह शिक्षा का परिणाम है। माता-पिता दुष्ट कर्मों की निन्दा करते हैं, और ऐसे कर्मों के करने पर बच्चों को डाँटते हैं; दूसरी ओर शुभ कर्मों की प्रशंसा करते हैं और बच्चों को ऐसे कर्मों के करने की प्रेरणा करते हैं। ऐसा करके उन्होंने यह परिणाम पैदा कर दिया है कि दुष्ट कर्म दुःख से और शुभ कर्म सुख से युक्त हो। अनुभव भी इसकी पुष्टि करता है। क्योंकि रिवाज और धर्म सब के लिए एक ही नहीं; परन्तु इसके विपरीत, जो कुछ लोगो के लिए पवित्र है, वह दूसरो के लिए अपवित्र है; जो कुछ कुछ के लिए प्रशसनीय है वह दूसरो के लिए निन्दनीय है। इसलिए जैसी किसी की शिक्षा हुई है, उसके अनुसार वह अपने कर्मों के लिए पश्चात्ताप करता है या गौरव अनुभव करता है।

२८. अभिमान आत्म-प्रेम के कारण अपना अति अधिक मूल्य लगाना है।

टीका—अभिमान पक्षपात से भिन्न है, क्योंकि पक्षपात में किसी बाहरी पदार्थ का मूल्य अधिक डाला जाता है, और अभिमान में यह अपनी बाबत किया जाता है। इस पर भी, जिस तरह पक्षपात प्रेम का परिणाम या गुण है, उसी तरह अभिमान आत्म-प्रेम का है। इसलिए, हम अभिमान का लक्षण आत्म-प्रेम या सतुष्टि कर सकते हैं, जिस अंश में यह मनुष्य को इस तरह प्रभावित करता है कि वह अपना मूल्य अति अधिक आँके (भाग ३, साध्य २६ की टिप्पणी देखो)। इस उद्वेग का कोई विपरीत उद्वेग नहीं। क्योंकि कोई मनुष्य आत्म-द्वेष से प्रभावित होकर अपना मूल्य थोड़ा नहीं आँकता, अर्थात् जिस अंश में वह कल्पना करता है कि वह किसी विशेष कर्म को कर नहीं सकता, वह अपना मूल्य कम नहीं आँकता। क्योंकि जिस कर्म की बाबत वह कल्पना करता है कि वह उसे कर नहीं सकता, वह अनिवार्य रूप में यह कल्पना करता है और उसी कल्पना से उसकी प्रवृत्ति ऐसी हो जाती है कि जो कुछ वह अपनी कल्पना के अनुसार कर नहीं सकता, वह वास्तव में भी उसे करने के अयोग्य होता है। क्योंकि जितनी देर तक उसे ख्याल रहता है कि वह किसी विशेष कर्म को कर नहीं सकता, उतनी देर तक वह इसे न करने में निर्णीत

रहता है; और इसके परिणामस्वरूप उतनी देर तक उसके लिए उस काम का करना असंभव होता है। इस पर भी यदि हम इन बातों की ओर ध्यान दें, जो निरी सम्मति पर ही आधारित हैं, तो हम यह चिन्तन कर सकेंगे कि मनुष्य के लिए अपना न्यून मूल्य लगाना संभव है। क्योंकि यह हो सकता है कि कोई मनुष्य, जब वह दुःख में अपनी निर्वलता का चिन्तन करे, तो यह समझ ले कि सभी उससे घृणा करते हैं, और यह उस अवस्था में जब कि दूसरों को उसकी घृणा का ख्याल तक न हो। इसके अतिरिक्त, एक मनुष्य इस तरह भी अपना मूल्य कम लगा सकता है कि वह वर्तमान में अपनी बावत, भविष्य के संबन्ध में, जिसकी बावत उसे निश्चय नहीं, किसी बात को अस्वीकार करे; जैसे उदाहरण के लिए, यदि वह कहे कि वह किसी विशेष बात का चिन्तन नहीं कर सकता, या दुष्ट या घृणित इच्छा या कर्म के बिना कोई इच्छा या कर्म कर नहीं सकता। इसके अतिरिक्त, हम कह सकते हैं कि कोई मनुष्य अपना मूल्य कम लगाता है, जब हम देखते हैं कि वह लज्जा के अति अधिक भय के कारण, कुछ ऐसे कर्म करने का साहस नहीं करता, जिन्हें उसके बराबर के लोग किसी भय के बिना करते हैं। इसलिए हम इस उद्वेग को अभिमान के विपरीत रख सकते हैं, मैं इसे आत्म-घृणा या आत्महीनता कहूँगा। क्योंकि जैसे आत्म-सन्तुष्टि अभिमान से उदय होती है, वैसे आत्मघृणा दीनता से उदय होती है, और इसलिए यह इस तरह परिभाषित हो सकती है।

२९ आत्म-घृणा या आत्म-अनादर दुःख के कारण अपना मूल्य कम लगाता है।

टीका—इस पर भी हम अभिमान का मुकाबला दीनता से किया करते हैं, परन्तु ऐसा अधिक उस हालत में होता है जब हम उसकी प्रकृति की अपेक्षा उसके परिणामों का चिन्तन करते हैं। क्योंकि हम प्रायः उस मनुष्य को अभिमानी कहते हैं जो अपनी प्रशंसा अति अधिक करता है (भाग ३, साध्य ३० की टिप्पणी देखो), जो अपने कारनामों और दूसरों के बुरे कर्मों का ही वर्णन करता रहता है, जो दूसरों से अग्रसर होना चाहता है, और जो उस गम्भीरता और सज्जधज से रहता है, जो उन लोगों के लिए स्वाभाविक है जो पद में उससे बहुत ऊँचे स्तर पर हैं। दूसरी ओर, हम उस मनुष्य को दीन कहते हैं जिसका मुख अक्सर लज्जा से लाल पड़ जाता है, जो अपने दोषों को स्वीकार करता है, जो दूसरों की खूबियों और बड़े कामों का वर्णन करता है, जो सबके सामने झुक जाता है, जो सिर नीचा करके चलता है, और अपने पहनावे में श्रृंगार का ख्याल नहीं करता। परन्तु आत्म-

घृणा और दीनता के ये उद्वेग विरल ही हैं, क्योंकि मानवप्रकृति, अपने आप में विचारी हुई, यथासंभव इनके विरुद्ध यत्न करती है (भाग ३, साध्य १५ और ५४ देखो); और इसलिए जिन लोगों को अति अधम और दीन समझा जाता है, वे आम तौर पर अति लालसी और ईर्ष्यालु होते हैं।

३०. सम्मान या गौरव वह सुख है जिसके साथ हमारे किसी ऐसे कर्म का प्रत्यय मिला होता है, जिसकी, हमारे विचारानुसार, दूसरे प्रशंसा करते हैं।

३१. लज्जा वह दुःख है जिसके साथ हमारे किसी ऐसे कर्म का प्रत्यय मिला होता है जिसकी, हमारे विचारानुसार, दूसरे निन्दा करते हैं।

टीका—इनके सबन्ध में भाग ३, साध्य ३० की टिप्पणी देखो। परन्तु लज्जा और शर्मिलेपन में जो भेद है, उसे ध्यान में रखना आवश्यक है। लज्जा वह दुःख है जो ऐसे कर्म का परिणाम है, जिससे हम लज्जित होते हैं, परन्तु शर्मिलेपन वह भय या आशंका है जिसके विचार से मनुष्य लजाजनक कर्म करने से रुका रहता है। आम तौर पर शर्मिलेपन के विपरीत धृष्टता को रखा जाता है, परन्तु जैसा मैं उचित स्थान पर दिखाऊंगा, धृष्टता उद्वेग नहीं है; परन्तु, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, उद्वेगों के नाम उनकी प्रकृति की अपेक्षा उनके प्रयोग को अधिक बताते हैं।

और इस तरह मुझे उन उद्वेगों की बाबत जो सुख और दुःख से उदित होते हैं, जो कुछ कहना था वह मैंने कह दिया है। अब मैं उन उद्वेगों की ओर आता हूँ, जिन्हें मैं इच्छा से सबन्धित करता हूँ।

३२ शोक किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा या तृप्ति है, जो उस वस्तु की याद से पोषित होती है, और इसके साथ ही अन्य वस्तुओं की याद से, जो उस वस्तु के अस्तित्व को काटती हैं, रुकती हैं।

टीका—जैसा मैं कई बार कह चुका हूँ, जब हम किसी वस्तु की याद करते हैं, तो इसे स्मरण-क्रिया से हम उसका चिन्तन उसी प्रकार करने में प्रवृत्त होते हैं, मानो वह वस्तु विद्यमान है, परन्तु जागरित में यह प्रवृत्ति बहुधा उन वस्तुओं के प्रतिबिम्बों से, जो स्मृत वस्तु के अस्तित्व को काट देती हैं, रुक जाती है। इसलिए जब हम किसी ऐसी वस्तु की याद करते हैं जो हमें सुखी करती है, तो ऐसा करने में ही हम उसे उसी प्रसन्नता के उद्वेग के साथ विद्यमान ख्याल करने का यत्न करते हैं; परन्तु यह यत्न तुरन्त उन वस्तुओं की याद से, जो इसके अस्तित्व को काटती हैं, बाधित हो जाता है। इस तरह, शोक वास्तव में उस सुख के विपरीत दुःख है जो उस वस्तु के

अभाव से उत्पन्न होता है, जो हमारे लिए द्वेष का विषय है। इसके सम्बन्ध में भाग ३, साध्य ४७ की टिप्पणी देखो। परन्तु चूँकि शोक शब्द इच्छा की ओर संकेत करता प्रतीत होता है, इसलिए मैंने इसका जिक्र उन उद्देश्यों में किया है जो इच्छा से उद्दिष्ट होते हैं।

३३. अनुसरण-अभिलाषा (रिपूक) किसी वस्तु की ऐसी इच्छा है जो हममें इस कारण पैदा होती है कि हमारे विचार में अन्य मनुष्य भी इसकी इच्छा करते हैं।

टीका—जो मनुष्य दूसरे को भागते देखकर भागने लगता है, या दूसरे को भय में देखकर भयभीत हो जाता है, या किसी दूसरे के हाथ को जलता देखकर अपना हाथ पीछे खींच लेता है, और अपने शरीर को ऐसी गति देता है मानो उसका हाथ जल गया है, वह दूसरे के उद्देश्य की नकल करता कहा जाता है, दूसरे का अनुसरण-अभिलाषी नहीं कहलाता। यह इसलिए नहीं कि हमें नकल और अनुसरण-अभिलाषा के कारण में किसी भेद का ज्ञान है, किन्तु इसलिए कि जिस चीज को हम आदरणीय, लाभदायक या सुखद समझते हैं, उसका अनुकरण करनेवाले को अनुसरण-अभिलाषी कहने का रिवाज हो गया है। अनुसरण-अभिलाषा के कारण की बाबत शेष भाग ३ का साध्य २७ और इसकी टिप्पणी देखो। ईर्ष्या को इस उद्देश्य से प्रायः व्योक्त किया जाता है; भाग ३, साध्य ३२ और इसकी टिप्पणी से स्पष्ट होगा।

३४. कृतज्ञता प्रेम के लिए वह इच्छा या उत्साह है, जिससे हम उस पुरुष को, जिसने हमें उसी प्रकार के प्रेम के उद्देश्य के प्रभाव में लाभ पहुँचाया है, लाभ पहुँचाने का यत्न करते हैं (भाग ३, साध्य ३९, और साध्य ४१ की टिप्पणी देखो)।

३५. परोपकार उन लोगों को लाभ पहुँचाने की इच्छा है जिन पर हम दया करते हैं (भाग ३, साध्य २७ की टिप्पणी देखो)।

३६. क्रोध वह इच्छा है जिससे द्वेष द्वारा हम उस मनुष्य को जिससे हम द्वेष करते हैं, हानि पहुँचाना चाहते हैं (भाग ३, साध्य ३९ देखो)।

३७. बदला वह इच्छा है जिससे हम प्रति-द्वेष के भाव से उत्तेजित होते हैं कि जिस मनुष्य ने उसी प्रकार से उद्देश्य से हमें हानि पहुँचायी है, उसे हानि पहुँचाये (भाग ३, साध्य ४० का उपप्रमेय २, इसकी टिप्पणी के साथ देखो)।

३८. निर्दयता या क्रूरता वह इच्छा है जिससे कोई मनुष्य ऐसे प्राणी का अपकार करने पर उत्तेजित होता है, जिससे हम प्रेम करते हैं या जिस पर हम दया करते हैं।

टीका—निर्दयता करुणा के प्रतिकूल है, जो उद्वेग नहीं, अपितु मन की वह शक्ति है जिस से मनुष्य अपनी क्रोध या बदले की इच्छा को हलका करता है।

३९. कायरता बड़ी आपत्ति से जिसका हमें भय है, छोटी आपत्ति को स्वीकार करके बचने की इच्छा है (भाग ३, साध्य ३९ की टिप्पणी देखो)।

४०. साहस वह इच्छा है जिससे कोई मनुष्य ऐसे खतरे का मुकाबला करने के लिए उत्तेजित होता है, जिसका मुकाबला करने का साहस उसके बराबर के मनुष्य नहीं कर सकते।

४१. भीरुता उस मनुष्य का गुण है जिसकी इच्छा उस खतरे के भय से रुक जाती है, जो उसके बराबर के लोगों के लिए असह्य नहीं।

टीका—इसलिए भीरुता किसी ऐसी आपत्ति का भय ही है, जिससे बहुतेरे नहीं डरते; इसलिए मैं इसे इच्छा के उद्वेगों की ओर निर्दिष्ट नहीं करता। तो भी मैं इसकी व्याख्या यहाँ करना चाहता था, क्योंकि जहाँ तक हम इच्छा की बाबत विचार करते हैं, भीरुता वास्तव में वीरता के उद्वेग के प्रतिकूल है।

४२. व्याकुलता उस मनुष्य का गुण है जिसकी आपत्ति से बचे रहने की इच्छा उस आपत्ति पर, जिससे वह डरता है, चकित होने से बाधित होती है।

टीका—इसलिए व्याकुलता कायरता का एक रूप है, परन्तु चूँकि यह दुहरे भय से उत्पन्न होती है, इसलिए इसकी उपयुक्त परिभाषा यों भी हो सकती है—व्याकुलता वह भय है जो मनुष्य को इस तरह विवेकहीन या सदेहग्रस्त कर देता है कि वह अपने मार्ग की कठिनाई को हटा नहीं सकता। मैं 'विवेकहीन' कहता हूँ, जिस अर्थ में कि हमारे विचारानुसार उसकी इच्छा चकित होने से बाधित होती है; मैं दूसरी ओर सदेहग्रस्त कहता हूँ जिस अर्थ में कि हमारे विचारानुसार उसकी इच्छा किसी अन्य आपत्ति के भय से रुकती है, जो उसे उतनी ही पीड़ित करती है। इस तरह परिणाम यह होता है कि उसे यह पता नहीं लगता कि किस आपत्ति से बचे। इसके सबन्ध में भाग ३, साध्य ३९ की टिप्पणी और साध्य ५२ की टिप्पणी देखो। भीरुता और साहस के लिए, भाग ३, साध्य ५१ की टिप्पणी देखो।

४३. विनयशीलता ऐसे कर्मों के करने की इच्छा है जो मनुष्यों को प्रसन्न करते हैं, और ऐसे कर्मों को न करने की इच्छा है जो उन्हें प्रसन्न नहीं करते।

४४. लालसा यश या सम्मान की अपरिमित इच्छा है।

टीका—लालसा ऐसी इच्छा है जिससे सभी उद्वेग (भाग ३, साध्य ३१ और २७) पोषित और प्रोत्साहित होते हैं, और इस तरह यह उद्वेग कठिनता से ही काबू

मे आ सकता है। क्योंकि जब तक मनुष्य को कोई भी अभिलाषा रहती है, लालसा बनी रहती है। सिसिरो कहता है—‘श्रेष्ठतम मनुष्य विशेषकर यश से प्रेरित होते हैं। दार्शनिक जो यश की निन्दा में लिखते हैं, वे भी अपनी पुस्तकों पर अपना नाम देते हैं’, इत्यादि।

४५. चटकोरापन दावतो की अपरिमित इच्छा, बल्कि प्रेम भी है।

४६. मदमत्तता मदिरापान की अपरिमित इच्छा, बल्कि प्रेम भी है।

४७. लोभ धन की अपरिमित इच्छा या प्रेम है।

४८. कामवासना लैंगिक ससर्ग में इच्छा या प्रेम है।

टीका—लैंगिक ससर्ग की यह इच्छा परिमित हो या न हो, इसे कामवासना कहा जाता है। इसके अतिरिक्त, जैसा मैंने भाग ३, साध्य ५६ की टिप्पणी में कह दिया था, पिछले पाँच उद्देशों के कोई विपरीत उद्देश नहीं है। क्योंकि सकोच लालसा का एक भेद है (भाग ३, साध्य २९ की टिप्पणी देखो)। मैंने यह चेतावनी भी दे दी थी कि रसना-सयम, मदिरापान से बचा रहना और शुद्धाचरण मन की शक्ति के सूचक हैं, उद्देश नहीं। इस पर भी यह हो सकता है कि कोई लोभी, लालसी या कायर मनुष्य अधिक खाने, अधिक पीने या विषय-भोग से बचा रहे, तो भी लोभ, शराबी होना और साहसहीनता, रसना-व्यसन, मदमत्तता और आचार की पवित्रता के प्रतिकूल नहीं। क्योंकि लोभी मनुष्य की इच्छा होगी कि दूसरे के भोग्य पदार्थों से पेट भर ले, लालसी मनुष्य हर प्रकार का असयम कर लेगा यदि उसे ख्याल हो कि यह गुप्त रहेगा, और यदि वह शराब पीनेवाला और कामी पुरुषों में रहता हो, तो उसकी लालसा उसे इन व्यसनो में और भी प्रवृत्त कर देगी। अन्त में, कायर मनुष्य जो कुछ करना नहीं चाहता, उसे करता है। क्योंकि यद्यपि लालची मनुष्य अपना जीवन बचाने के लिए सारी सम्पत्ति को समुद्र में फेंक देगा, इस पर भी वह लालची तो बना रहता है; और यदि किसी कामी पुरुष को इस तरह पीड़ित किया जाय कि वह कामवासना को साधारण रीति से तृप्त नहीं कर सकता, तो भी वह कामी तो रहता है। इस तरह, असदिग्ध तथ्य यह है कि इन उद्देशों का सम्बन्ध खाने, पीने आदि क्रियाओं से इतना नहीं जितना उनकी इच्छा या प्रेम से है। इसलिए इन उद्देशों के प्रतिकूल कुछ रखा जा सकता है, तो वह श्रेष्ठता और उदारता ही है, जिनकी बाबत मैं अभी कहूँगा।

रकाबत (प्रेम-स्पर्धा) और मन की अन्य चंचलताओं की परिभाषाओं को मैं छोड़ता हूँ, क्योंकि इनका उद्भव उन उद्देशों से होता है जिनका वर्णन किया जा

चुका है, और उनमें से बहुतेरों के विशेष नाम ही नहीं, जिससे पता लगता है कि साधारण व्यवहार के लिए उन्हें सामान्य रूप में जानना पर्याप्त है। इस पर भी जिन उद्वेगों की मैंने व्याख्या की है, उनकी परिभाषाओं से यह परिणाम निकलता है कि वे सब इच्छा, सुख या दुःख से प्रकट हुए हैं, या यह कहना अधिक उचित होगा कि इन तीनों का ही अस्तित्व है, और इनमें प्रत्येक को इसके अनेक सन्बन्धों और बाहरी चिह्नों के कारण अनेक नाम दिये जाते हैं। इसलिए यदि हम इन तीनों को और जो कुछ ऊपर मन की प्रकृति की बाबत कहा गया था उसे ध्यान में रखें, तो हम इस तरह उद्वेगों का लक्षण कर सकते हैं, जिस अर्थ में कि ये स्वयं मन की ओर सकेत करते हैं।

उद्वेगों की सामान्य परिभाषा

उद्वेग जिसे आत्मा की प्रहारितता कहते हैं, एक अस्पष्ट प्रत्यय है, जिससे मन अपने शरीर या इसके किसी भाग की बाबत प्रतिज्ञा करता है कि पहले की अपेक्षा इसकी अस्तित्व की शक्ति बढ़ गयी है या घट गयी है, और इसकी स्वीकृति पर मन उसके कारण किसी विशेष पदार्थ का चिन्तन करने पर निर्णीत होता है।

टीका—प्रथम तो मैं कहता हूँ कि उद्वेग या आत्मा का बहिर्जात वेग एक अस्पष्ट प्रत्यय है। क्योंकि हम दिखा चुके हैं कि जिस हृद तक मन के प्रत्यय अपर्याप्त या अस्पष्ट होते हैं, उसी हृद तक यह आक्रान्त या निर्धारित होता है। फिर मैं कहता हूँ कि इसके साथ मन अपने शरीर या इसके किसी भाग की बाबत पहले की अपेक्षा अधिक या न्यून अस्तित्व की शक्ति की प्रतिज्ञा करता है। क्योंकि पदार्थों के जितने भी प्रत्यय हम में होते हैं, वे बाहरी पदार्थ की प्रकृति की अपेक्षा हमारे शरीर की वास्तविक परिस्थिति की बाबत सूचना देते हैं (भाग ३, साध्य १६, उपप्रमेय २), परन्तु यह आवश्यक है कि यह प्रत्यय, जो उद्वेग की आकृति है, शरीर या उसके किसी भाग की परिस्थिति को प्रकट या सूचित करे, जो परिस्थिति शरीर या इसके भाग ने इस तथ्य के परिणामस्वरूप प्राप्त की है कि इसकी क्रिया-शक्ति या अस्तित्व-शक्ति बढ़ी या घटी है, पुष्ट हुई या सूखी है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब मैं 'पहले की अपेक्षा अधिक या न्यून अस्तित्व-शक्ति' कहता हूँ, तो मेरा अभिप्राय यह नहीं कि मन शरीर की वर्तमान स्थिति की तुलना भूतकाल की स्थिति से करता है, अपितु यह कि जो प्रत्यय उद्वेग की आकृति है; शरीर की बाबत ऐसी प्रतिज्ञा करता है, जिससे पहले की अपेक्षा अधिक या

न्यून अस्तित्व वास्तव में निर्दिष्ट है। और चूँकि मन का सार इसी में है (भाग २, साध्य ११ और १३) कि यह अपने शरीर के वस्तुगत अस्तित्व की प्रतिज्ञा करता है, और चूँकि हम पूर्णता को वस्तु के सार के अर्थ में ही लेते हैं, इसलिए परिणाम यह है कि मन की पूर्णता अधिक या न्यून हो जाती है, जब यह अपने शरीर या इसके किसी भाग की बाबत ऐसी प्रतिज्ञा करता है, जिसमें पहले की अपेक्षा अधिक या न्यून सत्ता निहित होती है। इसलिए, जब मैंने ऊपर कहा कि मन की चिन्तन-शक्ति बढ़ या घट गयी, तो मेरा अभिप्राय इतना ही था कि मन ने अपने शरीर या इसके किसी भाग का ऐसा प्रत्यय बनाया था, जिसने उससे अधिक या न्यून सत्ता व्यक्त की, जितनी कि पहले इसने शरीर की बाबत वर्णन किया था। क्योंकि प्रत्ययो की श्रेष्ठता और चिन्तन की वास्तविक शक्ति का परिमाण विषय की श्रेष्ठता से होता है। इसके अतिरिक्त मैंने यह भी कहा था—‘और जिस की स्वीकृति पर, मन उसके कारण किसी विशेष पदार्थ का चिन्तन करने पर निर्णीत होता है।’ यह इसलिए कहा था कि सुख और दुःख की प्रकृति के अतिरिक्त, जिसकी व्याख्या परिभाषा का पहला भाग करता है, मैं इच्छा के स्वरूप को भी व्यक्त कर सकूँ।

चौथा भाग

मानव-दासता या उद्वेगों की शक्ति

प्राक्कथन

मनुष्य मे उद्वेगो को हलका करने या रोकने की शक्ति के अभाव को मैं दासता कहता हूँ। क्योंकि जो मनुष्य अपने उद्वेगो के सामने झुक जाता है, उसे अपने ऊपर काबू नहीं, अपितु वह इतनी सीमा तक भाग्य के हाथों मे है कि वह अनेक बार उत्कृष्ट को देखते हुए भी निष्कृष्ट करने पर बाधित होता है। इसलिए मैं इस भाग मे इसका कारण दिखाना चाहता हूँ, और यह भी कि उद्वेगो मे शुभ और अशुभ क्या है। परन्तु इसे आरम्भ करने से पहले, मैं पूर्णता और अपूर्णता की बाबत, और फिर शुभ और अशुभ की बाबत प्राक्कथन के रूप मे कहना आवश्यक समझता हूँ।

जो मनुष्य कुछ करने का निश्चय करता है, और उसे कर लेता है, वह उसे पूर्ण कहता है; और स्वयं वही नहीं कहता अपितु हर एक अन्य मनुष्य भी, जो उस वस्तु के निर्माता के मन को या उसके आशय को जानता है, या ख्याल करता है कि जानता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई मनुष्य किसी वस्तु को (जिसे मैं अभी अपूर्ण फर्ज करता हूँ) देखता है, और जानता है कि उसके निर्माता का उद्देश्य एक भवन बनाना है, तो वह उसे अपूर्ण भवन कहेगा, और इसके विपरीत उसे पूर्ण कहेगा, ज्यों ही वह देखेगा कि जो अन्तिम रूप निर्माता इसे देना चाहता था, वह इसे प्राप्त हो गया है। परन्तु यदि कोई मनुष्य किसी ऐसी वस्तु को देखे, जैसी वस्तु उसने पहले कभी नहीं देखी, और उसे यह भी मालूम न हो कि निर्माता का उद्देश्य क्या है, तो स्पष्टतः वह यह नहीं जानेगा कि वस्तु पूर्ण है या अपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शब्दों का आरम्भिक अर्थ यह था। परन्तु पीछे, जब मनुष्यो ने सामान्य प्रत्ययो का बनाना और धरो, इमारतो, बुर्जों आदि के लिए सामान्य प्रत्ययो का चिन्तन करना आरम्भ किया, और वे कुछ प्रत्ययो को दूसरो से उत्तम समझने लगे, तो परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक ने उस वस्तु

को पूर्ण कहा, जिसे उसने उस प्रकार की वस्तुओं में अपने प्रत्यय के अनुकूल पाया, और इसके प्रतिकूल उसे अपूर्ण कहा, जिसे अपने प्रत्यय के इतना अनुकूल नहीं देखा, यद्यपि स्वयं निर्माता की सम्मति में यह निर्दोष होता। इसके अतिरिक्त कोई कारण मालूम नहीं होता कि क्यों मनुष्य प्राकृत वस्तुओं को जिन्हें मनुष्यों ने नहीं बनाया, पूर्ण या अपूर्ण कहे, क्योंकि मनुष्य निर्मित वस्तुओं की तरह प्राकृतिक वस्तुओं के सामान्य प्रत्यय बनाने के भी अभ्यासी है, और वे इन्हीं ऐसे नमूने समझते हैं, जिन्हें कुदरत भी अपने लिए मार्गप्रदर्शक बनाती है। (क्योंकि उनके विचारानुसार कुदरत जो कुछ करती है, किसी उद्देश्य से ही करती है।) इसलिए जब वे कुदरत में कोई ऐसी घटना देखते हैं, जो पूर्णरूप में उनके कल्पित नमूने या आदर्श के अनुकूल नहीं होती, तो वे समझते हैं कि कुदरत से कुछ भूल हो गयी है, और उसने उस वस्तु को अपूर्ण छोड़ दिया है। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य कुदरत की चीजों को सत्य ज्ञान के आधार पर नहीं, अपितु पक्षपात के आधार पर पूर्ण या अपूर्ण कहते रहे हैं, क्योंकि हमने पहले भाग के परिशिष्ट में दिखाया था कि प्रकृति किसी उद्देश्य से क्रिया नहीं करती। क्योंकि वह अनादि और अनन्त सत्ता, जिसे हम ईश्वर या ब्रह्मा इ कहते हैं, उसी अनिवार्यता से क्रिया करती है, जिससे वह अपना अस्तित्व रखती है, क्योंकि हम ने दिखाया था कि वह अपनी प्रकृति की उसी अनिवार्यता से क्रिया करती है, जिससे वह अस्तित्व रखती है (भाग १, साध्य १६ देखो)। इसलिए एक ही कारण या हेतु है जिससे ईश्वर या ब्रह्माण्ड क्रिया करना है या उसका अस्तित्व है, इसलिए चूँकि ईश्वर का अस्तित्व में कोई प्रयोजन नहीं, वह किसी प्रयोजन के लिए क्रिया भी नहीं कर सकता। परन्तु अस्तित्व या क्रिया में उनका कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं। इस तरह ऐसा कारण जिसे प्रयोजनात्मक कहा जाता है, मनुष्य की तृषा के बिना कुछ नहीं, जहाँ तक कि इसे किसी वस्तु का तत्त्व या मूल कारण समझा जाता है। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि इस या उस मकान का प्रयोजनात्मक कारण निवास है, तो हम इसमें यही समझते हैं कि मनुष्य ने पारिवारिक जीवन की सुविधाओं की कल्पना करने पर मकान बनाने की इच्छा की। इसलिए निवास, जहाँ तक कि इसे प्रयोजनात्मक कारण समझा जाता है, यह विशेष तृषा (या इच्छा) ही है जो वास्तव में उत्पादक कारण है जिसे मूल कारण समझा जाता है, क्योंकि मनुष्यों को आम तौर पर अपनी तृषाओं के कारणों का ज्ञान नहीं होता। क्योंकि जैसा मैं कह चुका हूँ,

उन्हे अपने कर्मों और तृषाओ का ज्ञान तो होता है, परन्तु यह ज्ञान नहीं होता कि वे किन कारणों से किसी वस्तु की इच्छा करने के लिए निर्णीत होते हैं। जनसाधारण का यह सामान्य कथन कि कुदरत कभी-कभी भूल करती है और अपूर्ण वस्तुएँ पैदा कर देती है, मैंने उस टीका में शामिल कर लिया है जो मैंने पहले भाग के परिशिष्ट में दी है। इसलिए पूर्णता और अपूर्णता वास्तव में चिन्तन के रूप अर्थात् प्रत्यय ही है, जिनकी रचना हम इसलिए किया करते हैं कि हम एक ही वर्ग या श्रेणी के व्यक्तियों की एक दूसरे से तुलना करते हैं। और इसलिए (भाग २ परिभाषा ६ देखो) मैंने कहा था कि सत्ता और पूर्णता से मैं एक ही वस्तु समझता हूँ। क्योंकि हम कुदरत के सभी पदार्थों को एक ही श्रेणी के अन्तर्गत रखते हैं, जिसे हम सामान्यतम कहते हैं, अर्थात् सत्ता के प्रत्यय के अन्तर्गत, जो ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थों पर निरपेक्ष रूप में लागू होता है। जिस अंश में हम कुदरत के पदार्थों को इस वर्ग की ओर निर्दिष्ट करते हैं, और उनकी एक दूसरे से तुलना करते हैं, और देखते हैं कि कुछ पदार्थों में दूसरों की अपेक्षा अधिक सत्ता या पूर्णता है, उसी अंश में हम कुछ पदार्थों को अन्य पदार्थों से अधिक पूर्ण कहते हैं, और जिस अंश में हम उनमें कोई ऐसा गुण ठहराते हैं जिसमें निषेध या अभाव निहित है, जैसे सीमा, अन्त, निर्बलता आदि, उसी अंश में हम उन्हें अपूर्ण कहते हैं, क्योंकि वे हमारे मन को इतना प्रभावित नहीं करते, जितना वे पदार्थ करते हैं जिन्हें हम पूर्ण कहते हैं, इसलिए अपूर्ण नहीं कहते कि उनमें उनकी प्रकृति का कोई अंश विद्यमान नहीं, या कुदरत ने गलती कर दी है। क्योंकि किसी वस्तु की प्रकृति में कोई चीज व्यक्त नहीं होती, सिवाय उसके कि जो उत्पादक कारण की प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम हो, और जो कुछ उत्पादक कारण की प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम होता है, वह अनिवार्य परिणाम होता है।

जहाँ तक शुभ और अशुभ, अच्छे और बुरे का सम्बन्ध है, ये पद स्वयं वस्तुओं के किसी गुण की ओर सकेत नहीं करते, न ये उन चिन्तन के रूपों या प्रत्ययों से भिन्न हैं, जो हम वस्तुओं की आपसी तुलना के फलस्वरूप बनाते हैं। क्योंकि एक ही वस्तु एक ही समय अच्छी, बुरी और गुण-दोष-विहीन हो सकती है। उदाहरण के तौर पर, संगीत उदास मनुष्य के लिए अच्छा है, विलाप करने वालों के लिए बुरा है, और बहरे के लिए न अच्छा है न बुरा। यद्यपि तथ्य ऐसा है, तो भी हमें इन शब्दों का त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि जहाँ तक हम

मनुष्य का चिन्तन मानव प्रकृति के नमूने की स्थिति में करना चाहते हैं, हमें इन शब्दों का प्रयोग उस अर्थ में करते रहना चाहिए जिसका मैंने जिक्र किया है। इसलिए आनेवाले साध्यों में मैं भद्र या शुभ से वह वस्तु समझूंगा जिस की बाबत हमें निश्चित ज्ञान है कि वह मानव-प्रकृति के उस आदर्श की सिद्धि का साधन है, जिसे हमने लक्ष्य बनाया है; और अभद्र या अशुभ से वह वस्तु समझूंगा जो निश्चित ज्ञान के अनुसार उपर्युक्त आदर्श की सिद्धि में बाधक होती है। फिर हम मनुष्यों को अच्छा या बुरा उस अंश में कहेंगे जिसमें वे इस आदर्श के निकट हैं या इससे दूर हैं। क्योंकि अति विशेष रूप में इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि जब मैं कहता हूँ कि कोई मनुष्य न्यून से अधिक पूर्णता की ओर गति करता है या इसके विपरीत, तो मेरा आशय यह नहीं होता कि वह एक सार या आकृति को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करता है। उदाहरण के लिए, घोड़ा विनष्ट हो जायगा, चाहे वह मनुष्य में परिवर्तित हो जाय, चाहे कीड़े में; मनुष्य की स्थिति बदलने का अभिप्राय यह है कि उसकी क्रिया-शक्ति, जहाँ तक कि यह उसकी प्रकृति से समझी जाती है, हमारे विचारानुसार बढ़ती या घटती है। अन्त में, जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं सामान्य पूर्णता को सत्ता के अर्थ में लूँगा, अर्थात् किसी वस्तु का सार, जहाँ तक कि यह, काल की उपेक्षा में, किसी विशेष प्रकार में अस्तित्व रखती और क्रिया करती है। क्योंकि कोई वस्तु इसलिए अधिक पूर्ण नहीं कहला सकती कि यह अधिक काल तक स्थित रही है। वस्तुओं की अवधि उनके सार से निर्धारित नहीं हो सकती, क्योंकि वस्तुओं के सार में अस्तित्व का विशेष और निश्चित काल निहित नहीं; परन्तु प्रत्येक वस्तु, चाहे वह अधिक पूर्ण हो या न्यून, उसी शक्ति से जिससे उसने अस्तित्व आरम्भ किया, अपना अस्तित्व बनाये रखेगी; इस तरह इस पहलू में सभी वस्तुएँ बराबर हैं।

परिभाषाएँ

१. शुभ या भद्र से मैं ऐसी वस्तु समझता हूँ, जिसकी बाबत हम निश्चित जानते हैं कि वह हमारे लिए लाभकारक है।

२. अशुभ या अभद्र से मैं ऐसी वस्तु समझता हूँ जिसकी बाबत हम निश्चित जानते हैं कि वह हमें किसी शुभ के उपभोग से रोकेंगी।

इन परिभाषाओं के सम्बन्ध में उपर्युक्त प्राक्कथन के अन्त की ओर देखो।

३. मैं विशेष पदार्थों को इस अंश में आकस्मिक कहता हूँ कि जब हम केवल

ः सार की बाबत चिन्तन करते हैं, तो हमें कोई ऐसी चीज दिखाई नहीं जो अनिवार्य रूप में उनका अस्तित्व उन पर ठोस होती हो, या अनिवार्य रूप से निषेध करती हो।

४. मैं उन्हीं विशेष पदार्थों को इस अर्थ में सम्भव कहता हूँ कि जब हम कारणों का चिन्तन करते हैं, जिनसे वे अवश्य उत्पन्न होने चाहिए, तो यह नहीं जानते कि क्या वे उन्हें उत्पन्न करने में निर्णीत हैं।

भाग १, साध्य ३३ की टिप्पणी १ में मैंने सम्भव और आकस्मिक में कोई नहीं किया, क्योंकि वहाँ उनमें भेद करना आवश्यक न था।

५. आगे आनेवाले साध्यों में विपरीत उद्वेगों से मैं ऐसे उद्वेग समझूँगा, जो प्रकार के होने पर भी मनुष्य को विपरीत दिशाओं में खींचते हैं, जैसे त-व्यसन और लोभ, जो दोनों प्रेम की किस्में हैं, और प्रकृति से एक दूसरे विपरीत नहीं, अपितु योग से हैं।

६ जो कुछ भविष्य, वर्तमान या भूत वस्तु की ओर उद्वेग से मेरा अभिप्राय उसे मैंने भाग ३, साध्य १८ की टिप्पणी १ और २ में व्यक्त कर दिया है, देखो।

परन्तु यहाँ यह देखने का उपयुक्त अवसर है कि हम, देश के अन्तर की तरह, के अन्तर की स्पष्ट कल्पना केवल एक निश्चित सीमा तक ही कर सकते अर्थात् जिस तरह हम उन वस्तुओं को जो हम से २०० पगो से अधिक दूर या जिनका अन्तर हमारे स्थिति-स्थान से उस अन्तर से अधिक है जिसकी स्पष्ट कल्पना कर सकते हैं, एक ही दूरी पर ख्याल करते हैं, मानो वे सब ही समतल में थीं, उसी तरह उन वस्तुओं को, जिनका अस्तित्व-काल वर्तमान से अधिक दूर है जिसकी हम स्पष्ट कल्पना किया करते हैं, तो उन सबको वर्तमान से एक ही दूरी पर समझते हैं, और सबको एक ही क्षण ओर निर्दिष्ट करते हैं।

७ प्रयोजन से, जिसे ध्यान में रखकर हम कोई कर्म करते हैं, मैं कोई ग समझता हूँ।

८. वृत्त या सद्गुण और शक्ति से मैं एक ही वस्तु समझता हूँ, अर्थात् ग ३, साध्य ७) वृत्त, जहाँ तक कि इसका मनुष्य से सम्बन्ध है, उसका सार प्रकृति है, जिस अर्थ में कि उसमें ऐसी क्रिया करने की शक्ति है, जो उस के नियमों से ही समझ में आ सकती है।

स्वयंतध्य

विश्व या सर्ग में कोई ऐसा विशेष पदार्थ नहीं, जिससे अधिक शक्तिमान् पदार्थ विद्यमान न हो; परन्तु जो कुछ प्रस्तुत है, उससे अधिक बलवान् पदार्थ भी प्रस्तुत है, जिससे वह प्रस्तुत पदार्थ विनष्ट हो सकता है।

साध्य

साध्य १—किसी अयथार्थ प्रत्यय में जो भावात्मक अश है, वह सत्य की मौजूदगी से, जहाँ तक कि यह सत्य है, दूर नहीं होता।

उपपत्ति—अयथार्थता ज्ञान का लुप्त होना ही है, जो अपर्याप्त प्रत्ययों में निहित है (भाग २, साध्य ३५)। न ही इनमें कोई भावात्मक अश होता है, जिसके कारण इन्हें अयथार्थ कहा जाता है (भाग २, साध्य ३३), परन्तु इसके विपरीत, जिस अश में वे ईश्वर की ओर संकेत करते हैं, वे सत्य हैं (भाग २, साध्य ३२)। इसलिए, यदि वह, जो है और अयथार्थ प्रत्यय का अश है, सत्य की मौजूदगी से, जहाँ तक कि यह सत्य है, हटाया जाता, तो एक सत्य प्रत्यय अपने आप से हटाया जाता, जो (भाग ३, साध्य ४) अर्थहीन है। इसलिए किसी अयथार्थ प्रत्यय में, इत्यादि। इ० सि०

टिप्पणी—यह साध्य भाग २, साध्य १६, उपप्रमेय २ से अधिक स्पष्ट रूप में समझा जाता है। क्योंकि कल्पना ऐसा प्रत्यय है जो किसी बाहरी पदार्थ की प्रकृति की अपेक्षा मानव-शरीर की प्रवृत्ति को प्रकट करता है, हों स्पष्ट रूप में नहीं, अपितु अस्पष्ट रूप में; इसके परिणामस्वरूप हम कहते हैं कि मन को भ्रान्ति हुई है। उदाहरण के लिए, जब हम सूर्य की ओर देखते हैं, तो हमें ख्याल होता है कि यह हमसे दो सौ पग दूर है, यह भ्रान्ति उस समय तक कायम रहती है, जब तक कि हमें यथार्थ अन्तर का ज्ञान नहीं होता। जब अन्तर का ज्ञान होता है, तो भ्रान्ति दूर हो जाती है, परन्तु वह कल्पना दूर नहीं होती, अर्थात् सूर्य का प्रत्यय जो इसकी प्रकृति को केवल उसी अश में व्यक्त करता है जिसमें शरीर इससे प्रभावित होता है; और इसलिए, यद्यपि हमें वास्तविक अन्तर का ज्ञान होता है, तो भी हम कल्पना करते हैं कि हम इसके निकट हैं। क्योंकि, जैसा मैंने भाग २, साध्य ३५ की टिप्पणी में कहा था, हम सूर्य को इसलिए निकट ख्याल नहीं करते कि हमें उसके यथार्थ अन्तर का ज्ञान नहीं, अपितु इसलिए कि मन सूर्य के परिमाण की कल्पना उसी अश में करता है, जिसमें कि शरीर इससे प्रभा-

वित होता है। इस तरह जब सूर्य की किरणें पानी की सतह पर पड़कर हमारी आँखों पर प्रतिबिम्ब डालती हैं, तो हम सूर्य की पानी में कल्पना करते हैं, यद्यपि हम जानते हैं कि यह कहाँ है। और इस तरह अन्य कल्पनाएँ, जिनसे मन को धोखा होता है, चाहे वे शरीर की प्राकृत प्रवृत्ति की सूचक हों, या यह बताये कि शरीर की क्रिया-शक्ति बढ़ती या घटती है, यथार्थ के प्रतिकूल नहीं होती, न ही यथार्थता के उपस्थित होने पर लुप्त हो जाती है। निश्चय ऐसा होता है कि जब हम भ्रान्ति में किसी आपत्ति से भयभीत होते हैं, तो सत्य ज्ञान प्राप्त होने पर हमारा भय जाता रहता है, परन्तु इसके विपरीत यह भी होता है कि जब हम ऐसी आपत्ति से भयभीत होते हैं जिसे अवश्य आना है, तो इसकी बावत मिथ्या वर्णन सुनने से भय जाता रहता है। और ये कल्पनाएँ सत्य की उपस्थिति पर इसलिए लुप्त नहीं हो जाती कि सत्य सत्य है, परन्तु इसलिए कि अन्य कल्पनाएँ जो इनसे अधिक बलवान् होती हैं, प्रस्तुत हो जाती हैं और उन वस्तुओं के वर्तमान अस्तित्व को काट देती हैं जिनकी हम कल्पना करते हैं, जैसा हमने भाग २, माध्य १७ में दिखाया था।

साध्य २—हम उस अंश में आक्रान्त या परवश हैं जिसमें हम सर्ग का ऐसा भाग हैं, जिसका चिन्तन अन्य भागों के बिना अपने आप में नहीं हो सकता।

उपपत्ति—हम आक्रान्त कहलाते हैं जब हममें कोई ऐसी घटना घटती है, जिसके हम केवल आशिक कारण हैं (भाग ३, परि० २), अर्थात् (भाग ३, परि० १) ऐसी घटना जिसका अनुमान हमारी प्रकृति के नियमों से ही नहीं हो सकता। इसलिए, हम उस अंश में आक्रान्त हैं जिसमें हम सर्ग का ऐसा भाग हैं जिसका चिन्तन अन्य भागों के बिना, अपने द्वारा नहीं हो सकता। इ० सि०

साध्य ३—जिस शक्ति से मनुष्य अपना अस्तित्व बनाये रखता है, वह सीमित है, और बाहरी कारणों की शक्ति उससे कहीं अधिक होती है।

उपपत्ति—यह इस भाग के स्वयतथ्य से स्पष्ट है। क्योंकि किसी विशेष मनुष्य के प्रस्तुत होने के साथ एक अन्य पदार्थ अ भी प्रस्तुत होता है, जो उस मनुष्य से अधिक बलवान् है, और अ के प्रस्तुत होने के साथ एक अन्य पदार्थ ब भी प्रस्तुत होता है, जो अ से अधिक बलवान् है, और यह क्रम अनन्त है। इसलिए, मनुष्य की शक्ति किसी अन्य पदार्थ की शक्ति से सीमित होती है, और बाहरी कारण अनन्त मात्रा में इससे अधिक होते हैं। इ० सि०

साध्य ४—यह हो नहीं सकता कि मनुष्य सर्ग का भाग न हो और वह परि-

वर्तन से बचा रह सके, सिवाय उन परिवर्तनों के कि जिन्हें उसकी अपनी प्रकृति का परिणाम समझा जा सकता है, और जिनका वह पर्याप्त कारण है।

उपपत्ति—जिस शक्ति से विशेष पदार्थ, और इसलिए मनुष्य, अपने अस्तित्व को कायम रखता है, वह ईश्वर या सर्ग की शक्ति ही है (भाग १, साध्य २४, उपप्रमेय), इस अंश में नहीं कि ईश्वर अनन्त है, परन्तु जिस अंश में वह वास्तविक मानव सार से व्याख्यात होता है (भाग ३, साध्य ७)। इसलिए मनुष्य की शक्ति, जिस अंश में कि यह अपने वास्तविक सार के द्वारा व्याख्यात होती है, ईश्वर या सर्ग की अनन्त शक्ति का एक भाग है, अर्थात् उसके सार का (भाग १, साध्य ३४), जो पहला विचारांश था। फिर यदि यह हो सके कि मनुष्य सिवाय उन परिवर्तनों के कि जो उसकी प्रकृति के द्वारा ही समझे जा सकते हैं, अन्य परिवर्तनों से बचा रह सके, तो इसका परिणाम यह होगा (भाग ३, साध्य ४ और ६) कि वह मर न सके और अनिवार्य रूप से सदा जीवित रहे। परन्तु ऐसा सान्त या अनन्त शक्ति रखनेवाले कारण का ही फल हो सकता है। अर्थात् या तो मनुष्य की शक्ति का फल होगा कि वह बाहरी कारणों से उत्पन्न होनेवाले परिवर्तनों को अपने आपसे हटा सके, या सर्ग की अनन्त शक्ति का फल होगा जो सभी वस्तुओं की ऐसी व्यवस्था करे कि मनुष्य में वेही परिवर्तन हो सके जो उसे बचाये रखने में सहायक हों। परन्तु पहली बात (पूर्व साध्य से, जो व्यापक रूप में लागू है) अर्थहीन है। इसलिए यदि ऐसा हो सके कि मनुष्य में वे ही परिवर्तन हों जो केवल उसकी प्रकृति से ही समझे जा सकते हैं, और इसके परिणाम-स्वरूप, जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, वह सदा के लिए जीवित रहे, तो यह ईश्वर की अनन्त शक्ति का ही परिणाम हो सकेगा। इसके परिणामस्वरूप (भाग १, साध्य १६) जहाँ तक सर्ग की व्यवस्था का चिन्तन दैवी प्रकृति की अनिवार्यता से चिन्तन और विस्तार के गुणों के नीचे किया जाता है, इसका अनुमान इस विचार से करना होगा कि यह किसी विशेष मनुष्य के प्रत्यय से किस तरह प्रभावित होता है। और इसलिए (भाग १, साध्य २१) परिणाम यह होगा कि मनुष्य अनन्त है, जो (इस उपपत्ति के पहले भाग से) अर्थहीन है। इसलिए यह हो नहीं सकता कि मनुष्य सिवाय उन परिवर्तनों के कि जिनका वह पर्याप्त कारण है, अन्य परिवर्तनों से प्रभावित न हो। **इ० सि०**

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि मनुष्य सदा अनिवार्य रूप से उद्वेगों के वशीभूत हो सकता है, वह सदा सर्ग के सामान्य नियम का अनुसरण करता

वित होता है। इस तरह जब सूर्य की किरणें पानी की सतह पर पड़कर हमारी आँखों पर प्रतिबिम्ब डालती हैं, तो हम सूर्य की पानी में कल्पना करते हैं, यद्यपि हम जानते हैं कि यह कहाँ है। और इस तरह अन्य कल्पनाएँ, जिनसे मन को धोखा होता है, चाहे वे शरीर की प्राकृत प्रवृत्ति की सूचक हों, या यह बताये कि शरीर की क्रिया-शक्ति बढ़ती या घटती है, यथार्थ के प्रतिकूल नहीं होती, न ही यथार्थता के उपस्थित होने पर लुप्त हो जाती है। निश्चय ऐसा होता है कि जब हम भ्रान्ति में किसी आपत्ति से भयभीत होते हैं, तो सत्य ज्ञान प्राप्त होने पर हमारा भय जाता रहता है, परन्तु इसके विपरीत यह भी होता है कि जब हम ऐसी आपत्ति से भयभीत होते हैं जिसे अवश्य आना है, तो इसकी वास्तव मिथ्या वर्णन सुनने से भय जाता रहता है। और ये कल्पनाएँ सत्य की उपस्थिति पर इसलिए लुप्त नहीं हो जाती कि सत्य सत्य है, परन्तु इसलिए कि अन्य कल्पनाएँ जो इनसे अधिक बलवान् होती हैं, प्रस्तुत हो जाती हैं और उन वस्तुओं के वर्तमान अस्तित्व को काट देती हैं जिनकी हम कल्पना करते हैं, जैसा हमने भाग २, माध्य १७ में दिखाया था।

साध्य २—हम उस अंश में आक्रान्त या परवश हैं जिसमें हम सर्ग का ऐसा भाग हैं, जिसका चिन्तन अन्य भागों के बिना अपने आप में नहीं हो सकता।

उपपत्ति—हम आक्रान्त कहलाते हैं जब हममें कोई ऐसी घटना घटती है, जिसके हम केवल आशिक कारण हैं (भाग ३, परि० २), अर्थात् (भाग ३, परि० १) ऐसी घटना जिसका अनुमान हमारी प्रकृति के नियमों से ही नहीं हो सकता। इसलिए, हम उस अंश में आक्रान्त हैं जिसमें हम सर्ग का ऐसा भाग हैं जिसका चिन्तन अन्य भागों के बिना, अपने द्वारा नहीं हो सकता। **इ० सि०**

साध्य ३—जिस शक्ति से मनुष्य अपना अस्तित्व बनाये रखता है, वह सीमित है, और बाहरी कारणों की शक्ति उससे कहीं अधिक होती है।

उपपत्ति—यह इस भाग के स्वयत्थ से स्पष्ट है। क्योंकि किसी विशेष मनुष्य के प्रस्तुत होने के साथ एक अन्य पदार्थ अ भी प्रस्तुत होता है, जो उस मनुष्य से अधिक बलवान् है, और अ के प्रस्तुत होने के साथ एक अन्य पदार्थ ब भी प्रस्तुत होता है, जो अ से अधिक बलवान् है, और यह क्रम अनन्त है। इसलिए, मनुष्य की शक्ति किसी अन्य पदार्थ की शक्ति से सीमित होती है, और बाहरी कारण अनन्त मात्रा में इससे अधिक होते हैं। **इ० सि०**

साध्य ४—यह हो नहीं सकता कि मनुष्य सर्ग का भाग न हो और वह परि-

साध्य ५) और उससे अधिक बलवान् है (भाग ४, स्वयतथ्य)। और इसलिए (भाग २, साध्य १२) मन पहले रूपभेद से अधिक बलवान् और उससे विपरीत रूपभेद के प्रत्यय से प्रभावित होता है, अर्थात् (उद्वेगों की सामान्य परिभाषा) मन पहले उद्वेग से अधिक बलवान् और उससे विपरीत उद्वेग से प्रभावित होगा, जो पहले उद्वेग के अस्तित्व का अन्त कर देता है। और इस तरह उद्वेग किसी अन्य विपरीत और अधिक बलवान् उद्वेग से ही रोका या हटाया जा सकता है।

इ० सि०

उपप्रमेय—कोई उद्वेग, जहाँ तक कि यह मन की ओर सकेत करता है, शरीर के किसी विपरीत रूपभेद के प्रत्यय से रोका या समाप्त किया जा सकता है, जो उस रूपभेद से जिसके हम वशीभूत हैं अधिक बलवान् है। क्योंकि जिस उद्वेग के वश में हम हैं, वह अपने विपरीत और अपने से अधिक बलवान् उद्वेग से ही रोका या दूर किया जा सकता है (पूर्व साध्य), अर्थात् (उद्वेगों की सामान्य परि०) शरीर के किसी रूपभेद के प्रत्यय से, जो उस रूपभेद से जिसमें हम ग्रस्त हैं, अधिक बलवान् है और उसके विपरीत है।

साध्य ८—शुभ या अशुभ का ज्ञान सुख या दुःख के उद्वेग के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिस अर्थ में कि हमें इसका बोध है।

उपपत्ति—जो कुछ हमारी रक्षा के लिए लाभकारी है, उसे हम शुभ कहते हैं, जो कुछ इसके प्रतिफल है, उसे अशुभ कहते हैं (भाग ४, परि० १ और २), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) जो हमारी क्रिया-शक्ति को बढ़ाता या घटाता है, इसका सहायक होता है या इसे रोकता है। और इसलिए जहाँ तक (भाग ३, साध्य ११ की टिप्पणी में सुख और दुःख की परिभाषा देखो) हम देखते हैं कि कोई वस्तु हमें सुखी या दुःखी करती है, हम उसे शुभ या अशुभ कहते हैं; और इसलिए शुभ या अशुभ का ज्ञान उस सुख या दुःख के प्रत्यय के अतिरिक्त कुछ नहीं, जो सुख या दुःख के उद्वेग के बाद अवश्यमेव प्रस्तुत होता है (भाग २ साध्य २२)। परन्तु यह प्रत्यय उद्वेग के साथ उसी तरह युक्त होता है, जिस तरह मन शरीर के साथ युक्त है (भाग २, साध्य २१), अर्थात् (जैसा उस साध्य की टिप्पणी में दिखाया गया था) यह प्रत्यय वास्तव में उस उद्वेग से भिन्न नहीं, या (उद्वेगों की सामान्य परि०) शरीर के रूपभेद के प्रत्यय से भिन्न नहीं, केवल विचार में भिन्न है। इसलिए शुभ और अशुभ का यह ज्ञान उद्वेग से अभिन्न है, जहाँ तक कि हमें इसका बोध है। **इ० सि०**

साध्य ९—वह उद्वेग जिसके कारण को हम अपने साथ वर्तमान में विद्यमान समझते हैं, उससे अधिक बलवान् होता है जितना उस हालत में होता, यदि हम कारण को विद्यमान न समझते।

उपपत्ति—कल्पना ऐसा प्रत्यय है जिससे मन किसी वस्तु को विद्यमान समझता है (भाग २, साध्य १७ की टिप्पणी में परि० देखो), जो इस पर भी बाहरी वस्तु की प्रकृति की अपेक्षा मानव शरीर की प्रवृत्ति को अधिक व्यक्त करता है (भाग २, साध्य १६, उपप्रेम २)। इसलिए कल्पना एक उद्वेग है (उद्वेग की सामान्य परि०) जहाँ तक कि यह शरीर की प्रवृत्ति को प्रकट करता है। परन्तु कल्पना (भाग २, साध्य १७) उस समय तक अधिक तीव्र रहती है जब तक हम किसी ऐसी वस्तु का चिन्तन नहीं करते जो बाहरी वस्तु के वर्तमान अस्तित्व को काट देती है। इसलिए ऐसा उद्वेग भी जिसके कारण को हम अपने साथ वर्तमान में विद्यमान समझते हैं, अधिक तीव्र और बलवान् होता है, बनिस्वत उस हालत के कि हम इसे अपने साथ विद्यमान न समझते।
इ० सि०

टिप्पणी—जब मैंने ऊपर, भाग ३, साध्य १८ में, कहा था कि हम किसी भविष्य या भूत वस्तु से उसी उद्वेग से प्रभावित होते हैं, जिससे कल्पित वस्तु के विद्यमान होने की हालत में होते, तो मैंने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दे दी थी कि यह उसी हद तक ठीक था जिस तक कि हम केवल उस वस्तु के प्रतिबिम्ब का चिन्तन करते हैं (क्योंकि वस्तु तो एक ही प्रकृति की रहती है, चाहे हम उसकी कल्पना करें या न करें), परन्तु मैंने इससे इन्कार नहीं किया था कि यह प्रतिबिम्ब निर्बल हो जाता है, जब हम अन्य वस्तुओं को अपने सम्मुख विद्यमान ख्याल करते हैं, जो भविष्य वस्तु के वर्तमान अस्तित्व को काट देती है। उस समय मैंने इसकी ओर ध्यान आकर्षित नहीं किया था, क्योंकि मैंने निश्चय कर लिया था कि उद्वेगों की शक्ति की चर्चा इस भाग में करूँगा।

उपप्रेम—किसी भविष्य या भूत वस्तु का प्रतिबिम्ब, अर्थात् ऐसी वस्तु का बिम्ब जिसका विचार हम वर्तमान काळ के सम्बन्ध में नहीं, अपितु भविष्य या भूतकाल के सम्बन्ध में करते हैं, समान हालात में, वर्तमान वस्तु के प्रतिबिम्ब से निर्बल होता है और इसके फलस्वरूप भविष्य या भूत की ओर उद्वेग, शेष स्थिति के अभिन्न होने की हालत में, वर्तमान वस्तु की ओर उद्वेग से कम तीव्र होता है।

साध्य १०—जिस वस्तु की हम निकट भविष्य में कल्पना करते हैं, उसकी ओर हमारा भाव अधिक तीव्र होता है, बनिस्बत उस हालत के कि हम उसके घटने के काल को वर्तमान से अधिक दूर समझते; और इसी तरह जिस वस्तु को निकट भूत में कल्पना करते हैं, उसकी ओर हमारा भाव अधिक तीव्र होता है, बनिस्बत उस हालत के कि हम कल्पना करें कि उसे घटे बहुत काल बीत चुका है।

उपपत्ति—क्योंकि जहाँ तक हम किसी वस्तु को अति निकट भविष्य या भूत में समझते हैं, हम ऐसी अन्य वस्तु का, जो इसकी उपस्थिति का निषेध करती है, कम ख्याल करते हैं, बनिस्बत उस हालत के कि हम कल्पना करें कि अभी इसके घटने में बहुत देर है, या इसे घटे हुए बहुत समय बीत चुका है (जैसा स्वतः सिद्ध है); इसलिए (पूर्व साध्य) हमारा भाव इसके प्रति अधिक तीव्र होगा।
इ० सि०

टिप्पणी—जो कुछ हमने भाग ४, परि० ६ में कहा था, उसका परिणाम यह है कि उन वस्तुओं के प्रति हमारा भाव एक समान निर्बल होता है, जो वर्तमान से उस अन्तर से अधिक दूर हैं, जिसे हम कल्पना द्वारा निश्चित कर सकते हैं, यद्यपि हम जानते हैं कि उन वस्तुओं में एक दूसरी से बहुत अन्तर है।

साध्य ११—जिस वस्तु को हम अनिवार्य समझते हैं, उसकी ओर हमारा उद्वेग, शेष स्थिति के अभिन्न होने की हालत में, उस वस्तु की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है जो संभव, आकस्मिक है, या अनिवार्य नहीं।

उपपत्ति—जिस हद तक हम किसी वस्तु को अनिवार्य समझते हैं हम इसके अस्तित्व की प्रतिज्ञा करते हैं, और इसके विपरीत, जिस हद तक हम समझते हैं कि यह अनिवार्य नहीं, उस हद तक हम उसके अस्तित्व का निषेध करते हैं (भाग १, साध्य ३३, टिप्पणी १); और इस तरह किसी अनिवार्य वस्तु के प्रति उद्वेग, शेष स्थिति के अभिन्न होने पर, उस उद्वेग से अधिक तीव्र होता है, जो ऐसी वस्तु के प्रति होता है जो अनिवार्य नहीं। **इ० सि०**

साध्य १२—जिस वस्तु की बाबत हम जानते हैं कि वर्तमान में उसका अभाव है, और जिसे संभव ख्याल करते हैं, उसकी ओर, शेष स्थिति के अभिन्न होने की हालत में, उद्वेग अधिक तीव्र होता है, बनिस्बत उस उद्वेग के जो आकस्मिक वस्तु के प्रति होता है।

उपपत्ति—जिस हद तक हम किसी वस्तु को आकस्मिक ख्याल करते हैं,

हम किसी अन्य वस्तु के प्रतिबिम्ब से प्रभावित नहीं होते, जो इस वस्तु पर इसका अस्तित्व ठोसती है (भाग ४, परि० ३), परन्तु, दूसरी ओर (प्रतिज्ञा के अनुसार), हम कल्पना करते हैं कि कुछ वस्तुएँ उसके वर्तमान अस्तित्व को काटती हैं। परन्तु जिस हद तक हम कल्पना करते हैं कि भविष्य में इस वस्तु की सभावना है, हम ऐसी वस्तुओं की कल्पना करते हैं जो इस पर अस्तित्व को ठोसती हैं (भाग ४, परि० ४), अर्थात् (भाग ३, साध्य १८) जो आशा या आशका को पोषित करती हैं; और इसलिए जो वस्तु संभव है उसके प्रति उद्वेग अधिक तीव्र होता है। इ० सि०

उपप्रमेय—जिस वस्तु की बाबत हम जानते हैं कि वर्तमान में उसका अभाव है, और जिसे आकस्मिक ख्याल करते हैं, उसके प्रति उद्वेग बहुत नर्म होता है, बनिस्वत उस हालत के कि हम अपने साथ उसके उपस्थित होने की कल्पना करें।

उपपत्ति—जिस वस्तु को हम वर्तमान में विद्यमान समझते हैं, उसके प्रति उद्वेग उससे अधिक तीव्र होता है जितना उसकी भविष्य कल्पना करने की हालत में होता (भाग ४, साध्य ९, उपप्रमेय), और यह अति अधिक तीव्र होता है यदि हम कल्पना करें कि भविष्य काल वर्तमान से बहुत दूर नहीं (भाग ४, साध्य १०)। इसलिए जिस वस्तु के अस्तित्व-काल को हम वर्तमान से बहुत दूर ख्याल करते हैं, उसके प्रति उद्वेग उसके विद्यमान कलित होने की अपेक्षा बहुत निर्बल होता है, और इस पर भी यह उससे अधिक तीव्र होता है (पूर्व साध्य) जितना उस हालत में होता यदि हम उसे आकस्मिक ख्याल करते। इसलिए किसी आकस्मिक वस्तु की ओर अधिक निर्बल होता है बनिस्वत उसके कि हम उस वस्तु को अपने साथ वर्तमान में विद्यमान कल्पित करते। इ० सि०

साध्य १३—किसी आकस्मिक वस्तु के प्रति, जिसकी बाबत हम जानते हैं कि वर्तमान में उसका भाव नहीं, उद्वेग, शेष स्थिति के अभिन्न होने पर, उस उद्वेग से अधिक नर्म होता है जो किसी बीती हुई वस्तु के प्रति होता है।

उपपत्ति—जिस अंश में हम किसी वस्तु की कल्पना आकस्मिक वस्तु के रूप में करते हैं, हम किसी अन्य ऐसी वस्तु की कल्पना से प्रभावित नहीं होते जो उस वस्तु का अस्तित्व ठोसती हो (भाग ४, परि० ३), परन्तु इसके विपरीत (प्रतिज्ञा के अनुसार) हम कुछ ऐसी वस्तुओं की कल्पना करते हैं जो इसके वर्तमान अस्तित्व को काटती हैं। परन्तु जिस अंश में हम भूतकाल के संबन्ध में इसकी कल्पना करते हैं, यह फर्ज किया जाता है कि हम किसी ऐसी चीज की कल्पना करते हैं जो इसे स्मरण में ले आती है, या जो इसके प्रतिबिम्ब को प्रस्तुत कर देती है (भाग २,

साध्य १८ को इसकी टिप्पणी के साथ देखो), और इस तरह इस हद तक प यह होता है कि हम इसे विद्यमान ही समझते हैं (भाग २, साध्य १७, उपप और इसलिए (भाग ४, साध्य ९) किसी आकस्मिक वस्तु के प्रति, जिसकी हम जानते हैं कि वर्तमान में उसका अस्तित्व नहीं, उद्वेग, शेष स्थिति के होने पर उस उद्वेग से अधिक नर्म होता है जो किसी बीती हुई वस्तु के प्रति हैं इ० सि०

साध्य १४—शुभ और अशुभ का सत्य ज्ञान, ज्ञान के सत्य होने की रि किसी उद्वेग को रोक नहीं सकता, परन्तु उद्वेग होने की स्थिति में ही रोक है।

उपपत्ति—उद्वेग एक प्रत्यय है जिससे मन अपने शरीर की अधिक अस्तित्व-शक्ति की प्रतिज्ञा करता है (उद्वेगों की सामान्य परि०), और इसमें कोई भावात्मक अश नहीं जो कि सत्य की उपस्थिति से दूर किया जा है, और इसलिए शुभ और अशुभ का सत्य ज्ञान सत्य होने की स्थिति में उद्वेग को रोक नहीं सकता। परन्तु जिस अश में यह एक उद्वेग है (भाग ४ ८), यदि यह उद्वेग को रोकने के लिए अधिक बलवान् है, उस अश में ही ४, साध्य ७) यह किसी उद्वेग को रोक सकता है। इ० सि०

साध्य १५—जो इच्छा शुभ और अशुभ के सत्य ज्ञान से उत्पन्न होती अनेक अन्य इच्छाओं से, जो उन उद्वेगों से जिनसे हम आक्रान्त होते हैं, वि सकती है या रोकी जा सकती है।

उपपत्ति—शुभ और अशुभ के सत्य ज्ञान से, जहाँ तक कि यह (भाग ४ ८) एक उद्वेग है, अनिवार्य रूप से इच्छा का उद्भव होता है (उद्वेग, परि जो उतनी ही अधिक बलवान् होती है जितना अधिक बलवान् वह उद्वेग। जिससे यह उत्पन्न होती है (भाग ३, साध्य ३७)। परन्तु चूँकि यह इच्छा (के अनुसार) इस तथ्य का परिणाम है कि हमें किसी वस्तु का सत्य ज्ञान है, परिणाम यह भी होता है कि यह हमारे अन्दर है, जिस हद तक कि हम क्रिया (भाग ३, साध्य ३)। और इसलिए इसे हमारे सार के द्वारा ही समझना (भाग ३, परि० २), और इसके परिणामस्वरूप (भाग ३, साध्य ७) इसकी और वृद्धि मानवशक्ति से ही लक्षित होनी चाहिए। फिर, जो इच्छाएँ उन से उत्पन्न होती हैं जिनसे हम आक्रान्त होते हैं, वे उद्वेगों की तीव्रता के प्रबल होती हैं; और इसलिए उनकी शक्ति और वृद्धि (भाग ४, सा

बाहरी कारणों की शक्ति से लक्षित होनी चाहिए, जो हमारी शक्ति के मुकाबले में अनिश्चित मात्रा में अधिक होती है (भाग ४, साध्य ३)। और इसलिए जो इच्छाएँ उसी प्रकार के उद्वेगों से पैदा होती हैं, उस इच्छा से अधिक तीव्र हो सकती हैं जो शुभ और अशुभ के ज्ञान से उत्पन्न होती हैं; और इसलिए (भाग ४, साध्य ७) वे इसे रोकने या विनष्ट करने में समर्थ होगी। इ० सि०

साध्य १६—जो इच्छा शुभ और अशुभ के ज्ञान से उत्पन्न होती है, वह यदि भविष्य की ओर सकेत करती है, तो वह वर्तमान में सुख देनेवाली वस्तुओं की इच्छा की अपेक्षा अधिक सुगमता से रोकी जा सकती या नाश की जा सकती है।

उपपत्ति—जिस वस्तु की कल्पना हम भविष्य में करते हैं, उसके प्रति उद्वेग विद्यमान वस्तु के प्रति उद्वेग से कम तीव्र होता है (भाग ४, साध्य ९, उपप्रेम्य)। परन्तु जो इच्छा शुभ और अशुभ के ज्ञान से उत्पन्न होती है, वह, यद्यपि यह ज्ञान उन वस्तुओं के सबन्ध में हो जो वर्तमान में शुभ हैं, किसी हठी इच्छा से विनष्ट की जा सकती या रोकी जा सकती है (पूर्व साध्य, जिसकी उपपत्ति व्यापक है)। इसलिए जो इच्छा ऐसे ज्ञान से उत्पन्न होती है, वह, जहाँ तक कि इसका सकेत भविष्य की ओर है, अधिक सुगमता से नष्ट की जा सकती या रोकी जा सकती है, इत्यादि। इ० सि०

साध्य १७—जो इच्छा शुभ और अशुभ के सत्य ज्ञान से उत्पन्न होती है, वह यदि आकस्मिक वस्तुओं के साथ सबन्ध रखती है, तो वह विद्यमान वस्तुओं की इच्छा की अपेक्षा बहुत सुगमता से रोकी जा सकती है।

उपपत्ति—यह साध्य पूर्व साध्य की तरह भाग ४, साध्य १२, उपप्रेम्य से सिद्ध होता है।

उपपत्ति—इस तरह मेरा ख्याल है कि मैं ने दिखा दिया है कि क्यो मनुष्य यथार्थ हेतु की अपेक्षा सम्मति से अधिक प्रभावित होते हैं, और क्यो शुभ और अशुभ का सत्य ज्ञान मन को कई बार व्याकुल कर देता है, और क्यो वह अनेक बार हर प्रकार की उत्कट लालसाओं से पराजित हो जाता है। इसी से कवि की कहावत चली है—‘मैं शुभ को देखता हूँ, इसकी प्रशंसा करता हूँ’, परन्तु अनुकरण अशुभ का करता हूँ (ओविड)। ऐसा प्रतीत होता है कि एकलेसिएस्टीस के मन में भी यही था जब उसने कहा—‘जो मनुष्य ज्ञान को बढ़ाता है, वह शोक को बढ़ाता है।’ इस पर भी मैंने यह इस उद्देश्य से नहीं लिखा कि यह सिद्ध करूँ या इससे यह अनुमान करूँ कि ज्ञानवान होने की अपेक्षा ज्ञानहीन अच्छा होना है, या यह

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

करते जिसकी इच्छा दूसरे मनुष्यों के लिए भी नहीं करते, और इसलिए वे निष्पक्ष, वफादार और आदरणीय होते हैं।

ये बुद्धि के आदेश हैं जिनका मैं इन थोड़े शब्दों में वर्णन करना चाहता था, पूर्व इसके कि मैं इन्हें विस्तार में सिद्ध करने लगूँ। मैंने यह इसलिए किया है कि मैं, यदि संभव हो तो, उन लोगों के ध्यान को आकृष्ट कर सकूँ जो विश्वास करते हैं कि यह नियम कि प्रत्येक को अपने हित की खोज करनी चाहिए; वृत्त और पुण्यवृत्ति की नहीं, अपितु पापवृत्ति की नीव है। इसलिए यह दिखाने के बाद कि तथ्य इसके विपरीत है, मैं इसे उसी विधि के अनुसार प्रमाणित करना आरंभ करता हूँ जिसका अभी तक हमने प्रयोग किया है।

साध्य १९—प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के नियमों के अधीन, अनिवार्य रूप में उन वस्तुओं की इच्छा करता है जिन्हें वह शुभ समझता है, उन वस्तुओं से परे हटता है जिन्हें वह अशुभ समझता है।

उपपत्ति—शुभ और अशुभ का ज्ञान (भाग ४, साध्य ८) सुख या दुःख का उद्वेग है, जिस अर्थ में कि हमें इसका बोध होता है; और इसलिए (भाग ३, साध्य २८) प्रत्येक मनुष्य अवश्यमेव उस वस्तु की इच्छा करता है जिसे वह शुभ समझता है और उस वस्तु से दूर होता है जिसे अशुभ समझता है। परन्तु यह इच्छा मनुष्य का सार या प्रकृति ही है (इच्छा की परि० जिसे भाग ३, साध्य ९ की टिप्पणी में देखो, और उद्वेगों में परि० १)। इसलिए प्रत्येक मनुष्य, अपनी प्रकृति के नियमों से ही, अनिवार्य रूप में उन वस्तुओं को चाहता या उनसे परे रहना चाहता है, इत्यादि। इ० सि०

साध्य २०—जितना अधिक कोई मनुष्य ऐसी वस्तु की तलाश करता है जो उसके लिए लाभकारी है, अर्थात् जितना अधिक वह अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए यत्न करता है और इसकी क्षमता रखता है, उतना ही अधिक वह वृत्त-सम्पन्न है, और, इसके विपरीत, जितना वह हितकर वस्तु या अपनी सत्ता को बचाने में बेपरवाह होता है, उतना ही वह निर्बल या अशक्त होता है।

उपपत्ति—वृत्त या सदाचार मानव-शक्ति ही है, जो केवल मनुष्य के सार से लक्षित होती है (भाग ४, परि० ८), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७), जो उस यत्न से रक्षित होती है जिसके साथ वह अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसलिए जितना अधिक वह यत्न करता और अपनी सत्ता बनाये रखने में सफल होता है, उतना ही अधिक वह वृत्त-सम्पन्न होता है, और इसके परिणामस्वरूप

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रक्ती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे अभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है—जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

साध्य २२—अपने आप को सुरक्षित रखने के यत्न के इस वृत्त से उत्कृष्ट किसी अन्य वृत्त का चिन्तन नहीं हो सकता।

उपपत्ति—अपनी रक्षा का यत्न किसी पदार्थ का सार ही है (भाग ३, साध्य ७)। इसलिए, यदि किसी वृत्त का इस वृत्त अर्थात् यत्न से प्रथम होने का चिन्तन हो सके, तो पदार्थ के सार का (भाग ४, परि० ८) अपने आप से प्रथम होने का चिन्तन होगा, जो, जैसा स्वतः सिद्ध है, अर्थहीन है, इसलिए कोई वृत्त, इत्यादि।

इ० सि०

उपप्रमेय—अपने आप को सुरक्षित रखने का यत्न वृत्त की प्रथम और अकेली नींव है, क्योंकि इस नियम से प्रथम किसी अन्य वस्तु का चिन्तन नहीं हो सकता (पूर्व साध्य), और इसके बिना (भाग ४, साध्य २१) किसी वृत्त का चिन्तन नहीं हो सकता।

साध्य २३—जिस अश में मनुष्य कोई क्रिया करने में इस तथ्य से निर्णीत होता है कि उसके प्रत्यय अपर्याप्त है, उसकी बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह वृत्त के प्रभाव में क्रिया करता है; ऐसी क्रिया तो उसी अश में होती है जिसमें वह इस तथ्य से निर्णीत होता है कि वह समझता है।

उपपत्ति—जिस अश में मनुष्य इस तथ्य के प्रभाव में क्रिया करता है कि उसके प्रत्यय अपर्याप्त है, वह प्रभावित होता है या प्रक्रिया शील, दीन है (भाग ३, साध्य १), अर्थात् (भाग ३, परि० १ और २), वह ऐसी क्रिया करता है जो इसके अपने सार से ही समझी नहीं जा सकती, अर्थात् (भाग ४, परि० ८) जो उसके वृत्त का परिणाम नहीं। परन्तु जिस अश में वह इस तथ्य के प्रभाव में कुछ करता है कि वह समझता है, वह क्रियाशील है (भाग ३, साध्य १), अर्थात् (भाग ३, परि० २) वह ऐसी क्रिया करता है जो इसके अपने सार से ही देखी जा सकती है या (भाग ४, परि० ८) जो उसके वृत्त से पर्याप्त रूप में उद्भूत होती है। **इ० सि०**

साध्य २४—निरपेक्ष रूप में वृत्त के अनुसार क्रिया करना यही है कि व्यक्ति, जो कुछ उसके लिए लाभदायक है उसकी नींव पर, बुद्धि के नेतृत्व में कर्म करे, इसके अनुसार जीवन व्यतीत करे, और अपनी सत्ता को सुरक्षित रखे (इन तीनों का अर्थ एक ही है)।

उपपत्ति—निरपेक्ष रूप में वृत्त के प्रभाव में क्रिया करना (भाग ४, परि० ८) अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार क्रिया करना ही है। परन्तु हम उसी अश में क्रिया करते हैं, जिसमें हम समझते हैं (भाग ३, साध्य ३)। इसलिए वृत्त के

अनुसार क्रिया करना हमारे लिये यही है कि बुद्धि के मार्ग-प्रदर्शन के अनुसार जो कुछ व्यक्ति के लिए हितकर है उसकी नींव पर, क्रिया करे, जिधे, और अपनी सत्ता को सुरक्षित रखे। इ० सि०

साध्य २५—कोई मनुष्य किसी अन्य वस्तु के लिए अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने का यत्न नहीं करता।

उपपत्ति—जिस यत्न से प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्व बनाये रखने का यत्न करती है, वह उसके अपने सार से ही लक्षित होता है (भाग ३, साध्य ७), और इसी सार से, किसी अन्य वस्तु के सार से नहीं, यह अनिवार्य रूप में परिणाम निकलता है (भाग ३, साध्य ६) कि प्रत्येक मनुष्य अपने सार को सुरक्षित रखने का यत्न करता है। यह साध्य भाग ४, साध्य २२ के उपप्रमेय से भी स्पष्ट है। क्योंकि यदि मनुष्य किसी अन्य वस्तु के लिए अपने अस्तित्व को बचाये रखने का यत्न करे, तो वह वस्तु उसके वृत्त की मौलिक नींव हो जायगी (जैसा स्वतः कोई अन्य वस्तु स्पष्ट है), जो (उस उपप्रमेय के अनुसार) अर्थहीन है। इसलिए कोई मनुष्य किसी अन्य वस्तु इत्यादि। इ० सि०

साध्य २६—जो कुछ हम बुद्धि के नेतृत्व में करने का यत्न करते हैं, वह समझना (विवेक) ही है, न ही मन, जिस अंश में यह बुद्धि का प्रयोग करता है, किसी वस्तु को अपने लिए हितकर समझता है, सिवाय उसके जो समझने में सहायक हो।

उपपत्ति—अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने का यत्न वस्तु का सार ही है (भाग ३, साध्य ७)। जहाँ तक यह इस स्थिति में अस्तित्व रखती है, हम ख्याल करते हैं कि इसमें अपना अस्तित्व बनाये रखने (भाग ३, साध्य ६) और ऐसी क्रियाओं को करने की शक्ति है, जो अनिवार्य रूप में इसकी प्रस्तुत प्रकृति से उद्भूत होती है (भाग ३, साध्य ९ की टिप्पणी में इच्छा की परि० देखो)। परन्तु बुद्धि का सार स्वयं मन ही है जहाँ तक कि यह विमल और स्पष्ट रूप में समझता है (भाग २, साध्य ४० की टिप्पणी २ में परिभाषा देखो)। इसलिए (भाग २, साध्य ४०), जो कुछ हम बुद्धि के नेतृत्व में करना चाहते हैं, वह समझने के अतिरिक्त कुछ नहीं। फिर, चूँकि मन का यह यत्न, जहाँ तक कि मन बुद्धि का प्रयोग करता है, अपना अस्तित्व बनाये रखने का यत्न ही है, यह समझने के अतिरिक्त कुछ करता ही नहीं (इस साध्य का पहला भाग)। इसलिए समझने का यह यत्न (भाग ४, साध्य २२, उपप्रमेय) वृत्त की प्रथम और अकेली नींव है। हम समझने का यत्न

किसी प्रयोजन से भी नहीं करते, अपितु, इसके विपरीत, मन, जहाँ तक य का प्रयोग करता है, किसी वस्तु को अपने लिए प्रेय ख्याल ही नहीं कर सिवाय उसके जो समझने में सहायक हो (भाग ४, परि० १)।

साध्य २७—हम निश्चित रूप से किसी वस्तु को शुभ या अशुभ नहीं सिवाय उसके कि जो वास्तव में विवेक की सहायक हो या हमारे समझने में हो।

उपपत्ति—जिस अंश में मन बुद्धि का प्रयोग करता है, यह समझने के अ किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता, न ही यह किसी वस्तु को अपने लिए ख्याल करता है, सिवाय उसके जो समझने में सहायक हो (पूर्व साध्य)। मन को (भाग २ साध्य ४, और साध्य ४३ इसकी टिप्पणी के साथ) पर कोई निश्चितता नहीं होती, सिवाय उस अंश के कि इसमें पर्याप्त प्रत्यय (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी २) अन्य शब्दों में यह बुद्धि का प्रयोग करे। हम किसी वस्तु को निश्चित रूप से शुभ नहीं समझते, सिवाय उसके कि जो में सहायक हो, और, इसके विपरीत, उसी को अशुभ समझते हैं जो हमें स रोक सकता है। इ० सि०

साध्य २८—मन का परम शुभ ईश्वर का ज्ञान है, और मन का स्व वृत्त ईश्वर को जानना है।

उपपत्ति—महत्तम पदार्थ, जिसे मन समझ सकता है, ईश्वर है, अर्थात् १, परि० ६) ऐसी सत्ता जो निरपेक्ष रूप में निरपेक्ष है, और जिसके बिना वस्तु का न भाव हो सकता है (भाग १, साध्य १५), न चिन्तन हो सक इसलिए (भाग ४, साध्य २६ और २७) मन के लिए सबसे बढ़कर लाभ श्रेष्ठ वस्तु (भाग ४, परि० १) ईश्वर का ज्ञान है। फिर मन उसी अंश में शील है जिसमें यह विवेकयुक्त है (भाग ३, साध्य १ और ३), और इसी (भाग ४, साध्य २३) यह निरपेक्ष रूप में कहा जा सकता है कि यह वृत्त के क्रिया करता है। इसलिए, समझना, विवेक प्राप्त करना, मन का निरपेक्ष व परन्तु महत्तम पदार्थ, जिसे मन समझ सकता है, ईश्वर है (जैसा हमने अभ किया है)। इसलिए मन का सर्वश्रेष्ठ वृत्त ईश्वर को समझना या जान इ० सि०

साध्य २९—जिस वस्तु की प्रकृति हमारी प्रकृति से पूर्ण रूप में वि वह न हमारी चिन्तन-शक्ति की सहायक हो सकती है न इसे रोक सकती है

कोई वस्तु भी शुभ या अशुभ नहीं हो सकती सिवाय इसके कि इसमें और हम में कुछ साझा हो।

उपपत्ति—किसी विशेष वस्तु की शक्ति और इसलिए (भाग २, साध्य १०, उपप्रमेय) मनुष्य की शक्ति, जिससे वह जीवित रहता और क्रिया करता है, किसी ऐसी दूसरी वस्तु से ही निर्णीत होती है (भाग १, साध्य २८) जिसकी प्रकृति (भाग २, साध्य ६) उसी गुण के द्वारा समझी जानी चाहिए, जिसके द्वारा मानव-प्रकृति का चिन्तन होता है। इसलिए हमारी क्रिया-शक्ति, जिस रूप में भी इसका चिन्तन हो, किसी ऐसी अन्य वस्तु से निर्णीत होती है और इसके परिणामस्वरूप उससे सहायता पाती या रोकी जाती है जिसमें हमसे कुछ साझा है, और ऐसी वस्तु की शक्ति से प्रभावित नहीं होती जिसकी प्रकृति से हमारी प्रकृति सर्वथा भिन्न है, और चूँकि हम उस वस्तु को शुभ या अशुभ का नाम देते हैं जो सुख या दुःख का कारण है (भाग ४, साध्य ८), अर्थात् (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी) जो हमारी क्रिया-शक्ति को बढ़ाती या घटाती, सहायता देती या रोकती है, इसलिए जिस वस्तु की प्रकृति हमारी प्रकृति से सर्वथा भिन्न है, वह हमारे प्रति शुभ या अशुभ नहीं हो सकती। इ० सि०

साध्य ३०—कोई वस्तु उस अश के द्वारा जो उसमें हमारी प्रकृति से साझा है अशुभ नहीं हो सकती, परन्तु जिस अश में यह अशुभ है, उसमें वह हमारे प्रतिकूल है।

उपपत्ति—हम उस वस्तु को अशुभ कहते हैं जो दुःख का कारण है (भाग ४, साध्य ८), अर्थात् (परिभाषा से, जिसे भाग ३, साध्य ११ की टिप्पणी में देखो) जो हमारी क्रिया-शक्ति को बढ़ाती या घटाती है। इसलिए, यदि कोई वस्तु उस अश के द्वारा जो उसमें हमसे साझा है हमारे प्रति अशुभ होती, तो यह उस अश को जो उसमें हमसे साझा है, घटाने या रोकने के योग्य होती, जो (भाग ३, साध्य ४) अर्थहीन है। इसलिए कोई वस्तु उस अश के द्वारा जो उसमें और हममें साझा है, हमारे लिए अशुभ नहीं हो सकती, परन्तु इसके प्रतिकूल, जिस अश में यह अशुभ है, अर्थात् (जैसा हमने अभी दिखाया है), जिस अश में यह हमारी क्रिया-शक्ति को घटा या रोक सकती है, उस अश में (भाग ३, साध्य ५) यह हमारे प्रतिकूल है।

इ० सि०

साध्य ३१—जिस अश में कोई वस्तु हमारी प्रकृति के अनुकूल है, उस अश में वह अनिवार्य रूप में शुभ है।

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

अपनी प्रकृति की अनिवार्यता से ही अस्तित्व नहीं रखते, या इसमें कि बाहरी कारणों की शक्ति उनकी शक्ति से बहुत अधिक है, तो वह अनिवार्य रूप में यह कहता है कि मनुष्य और पत्थर में कोई अनुकूलता नहीं। क्योंकि जो वस्तुएँ निपेधात्मकता में ही समान हैं, या उसमें जिसका उनमें अभाव है, तो वास्तव में वे किसी अंश में अनुकूल नहीं।

साध्य ३३—जिन उद्वेगों में बाहर से आक्रमण होता है, उनके सबन्ध में मनुष्य प्रकृति में भिन्न हो सकते हैं, और इस हद तक एक ही मनुष्य चंचल और अस्थिर होता है।

उपपत्ति—उद्वेग की प्रकृति या सार हमारी प्रकृति या सार के द्वारा ही व्याख्यात नहीं हो सकती (भाग ३, परि० १ और २), परन्तु इसे बाहरी पदार्थों की शक्ति, अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) उनकी प्रकृति से, जैसी यह हमारी प्रकृति की अपेक्षा या तुलना में है, लक्षित होनी चाहिए। इसका परिणाम यह है कि प्रत्येक उद्वेग के उतने रूप होते हैं, जितने उन पदार्थों के जिनसे हम प्रभावित होते हैं (भाग ३, साध्य ५६), और मनुष्य एक ही पदार्थ से अनेक प्रकारों में प्रभावित होते हैं (भाग ३, साध्य ५१) और इस हद तक एक दूसरे से प्रकृति में भिन्न होते हैं, और यह भी कि एक ही मनुष्य (भाग ३, साध्य ५१) एक ही पदार्थ के प्रति अनेक भावनाएँ रखता है, और इस तरह अस्थिर होता है, इत्यादि। इ० सि०

साध्य ३४—मनुष्य जहाँ तक वे ऐसे उद्वेगों से प्रभावित होते हैं जो बाहरी प्रहार का फल हैं, एक दूसरे के विपरीत हो सकते हैं।

उपपत्ति—एक मनुष्य पीटर दूसरे मनुष्य पाल के लिए दुःख का कारण हो सकता है, क्योंकि पीटर के पास कोई ऐसी वस्तु है जैसी वस्तु से पाल द्वेष करता है (भाग ३, साध्य १६), या वह किसी ऐसी वस्तु का अकेला स्वामी है जिससे पाल प्रेम करता है (भाग ३, साध्य ३२, इसकी टिप्पणी के साथ), या अन्य कारणों से (प्रमुख कारण के लिए भाग ३, साध्य ५५ की टिप्पणी देखो)। और इसलिए पाल पीटर से द्वेष करने लगता है (उद्वेग परि० ७), और इसके फलस्वरूप यह आसानी से हो सकता है कि (भाग ३, साध्य ४०, इसकी टिप्पणी के साथ) दूसरी ओर पीटर पाल से द्वेष करता है, और इसलिए (भाग ३, साध्य ३९) कि वे एक दूसरे को हानि पहुँचाने का यत्न करते हैं, अर्थात् (भाग ४, साध्य ३०) वे एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं। परन्तु दुःख का उद्वेग सदा ऐसा उद्वेग होता है जिसमें बाहर से प्रहार होता है (भाग ३, साध्य ५९); इसलिए मनुष्य, जिस हद तक

वे ऐसे उद्देशों से आक्रान्त होते हैं जिनमें बाहर से प्रहार होता है, एक-दूसरे के विपरीत हो सकते हैं। ६० सि०

टिप्पणी—मैंने कहा है कि पाल पीटर से इस अश में द्वेष कर सकता है कि उसके ख्याल में पीटर ऐसी वस्तु का स्वामी है जिससे वह आप प्रेम करता है। पहली झलक में इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों एक ही वस्तु से प्रेम करते हैं और इसलिए प्रकृति में अनुकूल है और एक दूसरे के लिए द्वेष्य भी है; और इसलिए यदि यह तथ्य है, तो इस भाग के साध्य ३० और ३१ असत्य है। परन्तु यदि हम विषय की न्याययुक्त जाँच करने के लिए उद्यत हैं, तो हम देखेंगे कि ये बयान सर्वथा अनुकूल हैं। क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के लिए इस अश में घृणित नहीं कि वे प्रकृति में अनुकूल हैं, अर्थात् इस अश में कि वे एक ही पदार्थ से प्रेम करते हैं, अपितु इस अश में कि वे एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। क्योंकि जहाँ तक वे एक ही वस्तु से प्रेम करते हैं, इस तथ्य से ही उनका प्रेम पुष्ट होता है (भाग ३, साध्य ३१), अर्थात् (उद्देश पर ० ६) उस तथ्य से ही हर एक की प्रसन्नता पुष्ट होती है। इसलिए यह तो तथ्य से बहुत दूर है कि वे जिस अश में एक ही वस्तु से प्रेम करते हैं और प्रकृति में एक-दूसरे के अनुकूल हैं, वे एक-दूसरे के लिए द्वेष्य हैं; परन्तु इसका कारण जैसा मैंने कहा है, यही है कि वे प्रकृति में प्रतिकूल हैं। क्योंकि हम फर्ज करते हैं कि प्रिय वस्तु की बाबत पीटर का प्रत्यय यह है कि वह उसकी सम्पत्ति है और दूसरी ओर, पाल का विचार यह है कि वह वस्तु उससे छिन गयी है। इसका परिणाम यह होता है कि पहले को सुख और दूसरे को दुःख होता है, और इस हद तक वे एक-दूसरे के विरोधी हैं। और इस तरह हम सहज ही दिखा सकते हैं कि द्वेष के अन्य कारण केवल इसी बात के परिणाम हैं कि मनुष्य प्रकृति में प्रतिकूल है, न इस बात का कि वे प्रकृति में अनुकूल हैं।

साध्य ३५—जिस अश में मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में रहते हैं, उस अश में वे सदा अनिवार्य रूप में प्रकृति में अनुरूप हैं।

उपपत्ति—जिस अश में मनुष्य ऐसे उद्देशों से आक्रान्त होते हैं जिनमें बाहर से प्रहार होता है, उस अश में वे प्रकृति में भिन्न हो सकते हैं (भाग ४, साध्य ३३) और एक-दूसरे के विपरीत हो सकते हैं (वही साध्य)। परन्तु मनुष्य उसी हद तक क्रियाशील कहलाते हैं जिस तक वे बुद्धि के नेतृत्व में रहते हैं (भाग ३, साध्य ३), और इसलिए जो कुछ बुद्धि से लक्षित हुई मानव प्रकृति का परिणाम होता है, उसे (भाग ३, परि० २) ऐसा फल समझना चाहिए जिसका मानव-

प्रकृति निकट कारण है। परन्तु चूँकि प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार शुभ की इच्छा करता है, और जिसे अशुभ समझता है, उसे दूर करने का यत्न करता है (भाग ४, साध्य १९), और चूँकि जिस चीज को हम बुद्धि के आदेशानुसार शुभ या अशुभ समझते हैं, वह अनिवार्य रूप में शुभ या अशुभ है (भाग २, साध्य ४१), इसलिए मनुष्य जिस अश में वे बुद्धि के आदेशानुसार चलते हैं, ऐसी क्रियाएँ करते हैं जो अनिवार्य रूप में मानव-प्रकृति के हित में हैं, और इसलिए हर एक मनुष्य के लिए हितकर हैं, अर्थात् (भाग ४, साध्य ३१), उपप्रमेय) जो हर एक मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल है। और इसलिए मनुष्य भी अनिवार्य रूप में एक-दूसरे के अनुकूल होते हैं, जिस अश में कि वे बुद्धि के आदेशानुसार जीवन व्यतीत करते हैं। इ० सि०

उपप्रमेय १—मनुष्य के लिए जगत् में कोई वस्तु ऐसे व्यक्ति से अधिक लाभदायक नहीं जो बुद्धि के नेतृत्व में जीवन व्यतीत करता है। क्योंकि मनुष्य के लिए वही वस्तु सबसे अधिक लाभदायक है जो उसकी प्रकृति के अधिकाधिक अनुकूल है (भाग ४, साध्य ३१, उपप्रमेय), अर्थात् (जैसा स्वयं सिद्ध है) मनुष्य। परन्तु मनुष्य अपनी प्रकृति के नियमों के अनुकूल पूर्णरूप में क्रियाशील तभी होता है जब वह बुद्धि के नेतृत्व में जीवन व्यतीत करता है (भाग ३, परि० ३), और इसी हद तक वह अनिवार्य रूप में किसी अन्य मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल हो सकता है (पूर्व साध्य)। इसलिए मनुष्य के लिए मनुष्य से बढ़कर कोई वस्तु लाभदायक नहीं, इत्यादि। इ० सि०

उपप्रमेय २—चूँकि प्रत्येक मनुष्य उसी वस्तु की अधिकाधिक खोज करता है जो उसके लिए लाभदायक है, इसलिए मनुष्य एक-दूसरे के लिए सबसे अधिक लाभदायक है। क्योंकि जितना अधिक कोई मनुष्य ऐसी वस्तु को ढूँढता है जो उसके लिए लाभकारी है, और अपने आप को सुरक्षित रखने का यत्न करता है, उतना ही अधिक वह वृत्त-सम्पन्न होता है (भाग ४, साध्य २०) या अन्य शब्दों में, (भाग ४, परि० ८) उतनी ही अधिक शक्ति उसमें अपनी प्रकृति के अनुकूल क्रिया करने की होती है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ३) बुद्धि के नेतृत्व में विचरने की। परन्तु मनुष्यों में प्रकृति की अधिकाधिक समानता उस समय होती है जब वे बुद्धि के नेतृत्व में होते हैं। इसलिए (पूर्व उपप्रमेय) मनुष्य एक दूसरे के लिए उस समय अधिकाधिक लाभदायक होते हैं, जब प्रत्येक सबसे अधिक उस चीज की तलाश करता है जो उसके लिए लाभकारी है। इ० सि०

कि अपने उद्वेगो को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

साध्य ३४ को देखो) यह परिणाम नहीं होगा कि जो मनुष्य बुद्धि के आदेशानुसार विचरते हैं, अर्थात् (भाग ४, साध्य ३५) जहाँ तक वे प्रकृति में अनुकूल हैं, वे एक दूसरे के प्रतिकूल होंगे। इसका उत्तर यह है—यह योग का फल नहीं, अपितु बुद्धि की प्रकृति का ही परिणाम है कि मनुष्य का अधिकाधिक शुभ सबका साक्षात् हो, क्योंकि इसका अनुमान मानव के सार से ही होता है, जिस अंश में कि यह बुद्धि से लक्षित होता है, और चूँकि सबसे बड़े शुभ के उपभोग की शक्ति के बिना न मनुष्य का अस्तित्व हो सकता है, न उसका चिन्तन हो सकता है। मनुष्य के मन का सार ही (भाग २, साध्य ४७) उसे ईश्वर के अनादि और अनन्त सार का पर्याप्त ज्ञान देता है।

साध्य ३७—वृत्त के अनुसार आचरण करनेवाला मनुष्य जिस शुभ की कामना अपने लिए करता है, उसी की दूसरों के लिए भी कामना करता है, और जितना अधिक उसे ईश्वर का ज्ञान होता है, उतना ही अधिक वह ऐसा करता है।

उपपत्ति—जिस अंश में मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में विचरते हैं, वे मनुष्यों के लिए अधिक से अधिक लाभकारी हैं (भाग ४, साध्य ३५, उपप्रमेय १); और इसलिए (भाग ४, साध्य १९) हम बुद्धि के नेतृत्व में यत्न करते हैं कि मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में जीवन व्यतीत करे। परन्तु वह शुभ, जिसकी वह मनुष्य जो बुद्धि के आदेशानुसार जीता है, अर्थात् (भाग ४, साध्य ३४) जो वृत्त का अनुसरण करता है, अपने लिए कामना करता है, उसी की वह दूसरों के लिए भी कामना करता है। फिर कामना या इच्छा जहाँ तक यह मन की ओर सकेत करती है, मन का सार ही है। (उद्वेग परि० १); परन्तु मन का सार ज्ञान है (भाग २, साध्य ११), जिसमें ईश्वर का ज्ञान निहित है (भाग ३, साध्य ४७) और जिसके बिना (भाग १, साध्य १५) न इसका अस्तित्व हो सकता है, न चिन्तन हो सकता है। और इसलिए, जितना अधिक मन के सार में ईश्वर का ज्ञान निहित होता है, उतनी ही अधिक बलवान् वह इच्छा होती है, जिससे वृत्त का अनुसरण करनेवाला मनुष्य अपने शुभ की कामना के समान कामना से दूसरों का शुभ चाहता है। ६० सि०

दूसरा प्रमाण—जिस शुभ की कोई मनुष्य अपने लिए इच्छा करता है, वह उससे प्रेम करेगा, और यदि वह देखता है कि दूसरे भी इससे प्रेम करते हैं, तो वह इसे अधिक स्थिरता से प्रेम करता है (भाग ३, साध्य ३१)। और इसलिए (उसी साध्य का उपप्रमेय) वह यत्न करेगा कि दूसरे भी इसे पसन्द करें। और

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

प्रकृति अपने आप निश्चित करती है। अब मैंने भाग ४, साध्य १८ की टिप्पणी में इन बातों को प्रमाणित करने की प्रतिज्ञा की थी, इससे यह स्पष्ट है कि पशुओं की हत्या न करने का नियम यथार्थ बुद्धि की अपेक्षा निर्मूल अन्धविश्वास और स्त्रीरत दया पर आधारित है। जिस बुद्धि की सहायता से हम ऐसी वस्तुओं की खोज करते हैं जो हमारे लिए लाभकारी हैं, वह हमें सिखाती है कि हमारे लिए अपने आप को अन्य मनुष्यों से युक्त करना आवश्यक है, पशुओं और अन्य पदार्थों से नहीं जो मनुष्य जाति से प्रकृति में भिन्न हैं, परन्तु जो अधिकार हमें उन पर है, वही उन्हें हम पर है। फिर, चूँकि प्रत्येक का अधिकार उसकी सद्भावना या शक्ति से निर्णीत होता है, मनुष्यों को जो अधिकार पशुओं पर है, वह उस अधिकार से बहुत अधिक है जो पशुओं को मनुष्यों पर है। मैं इससे इन्कार नहीं करता कि पशुओं में सुख-दुःख की अनुभूति है, परन्तु मैं यह अस्वीकार करता हूँ कि इसके कारण हमें अपनी आवश्यकता को ध्यान में रखना चाहिए और उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार प्रयोग में न लाना चाहिए, अपनी मर्जी के अनुसार उनसे व्यवहार नहीं करना चाहिए। कारण यह कि उनकी प्रकृति हमारी प्रकृति से नहीं मिलती, और उनके उद्वेग मनुष्य के उद्वेगों से भिन्न हैं। (भाग ३, साध्य ५७ की टिप्पणी देखो)।

अभी मुझे यह बताना बाकी है कि न्याययुक्त और अन्याययुक्त क्या है, पाप क्या है और पुण्य क्या है। इन विषयों पर अगली टिप्पणी देखो।

टिप्पणी २—पहले भाग के परिशिष्ट में मैंने प्रशंसा और अप्रशंसा, पुण्य और पाप, न्याय और अन्याय की व्याख्या करने का वचन दिया था। प्रशंसा और अप्रशंसा की व्याख्या भाग ३, साध्य २९ की टिप्पणी में कर चुका हूँ। अब मुझे बाकियों की बाबत कुछ कहना चाहिए; परन्तु ऐसा करने से पहले आवश्यक है कि मैं मनुष्य की प्राकृत और सभ्य अवस्था की बाबत कुछ कहूँ।

प्रत्येक मनुष्य प्रकृति के परम अधिकार से अस्तित्व रखता है, और इसलिए इस अधिकार के कारण वे काम करता है जो उसकी प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम होते हैं; और इसलिए हर एक अपने प्राकृत परम अधिकार के आधार पर निश्चय करता है कि शुभ या अशुभ क्या है, और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपने हित का ध्यान रखता है (भाग ४, साध्य १९ और २० देखो), और बदला लेता है (भाग ३, साध्य ४०, उपप्रमेय २), और प्रिय वस्तु को बचाने और अप्रिय को विनष्ट करने का यत्न करता है (भाग ३, साध्य २८)। यदि मनुष्य

बुद्धि के आदेशानुसार जीवन व्यतीत करते, तो हर एक को किसी खतरे के बिना अपना अधिकार प्राप्त होता (भाग ४, साध्य ३५, उपप्रमेय १); परन्तु चूँकि वे उद्वेगो के प्रभाव में आ सकते हैं (भाग ४, साध्य ४, उपप्रमेय), जो मानव शक्ति या वृत्त से कहीं अधिक बलवान् है (भाग ४, साध्य ६), इसलिए वे अनेक बार विपरीत दिशाओं में खिंचे जाते हैं (भाग ४, साध्य ३३) और एक दूसरे के प्रतिकूल होते हैं (भाग ४, साध्य ३४), और उन्हें एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता होती है (भाग ४, साध्य ३५, टिप्पणी)। इससे मनुष्यों के मेलजोल से रहने और एक दूसरे को सहायता देने के लिए आवश्यक हो जाता है कि वे अपने प्राकृतिक अधिकार को छोड़ दें और एक दूसरे के सम्बन्ध में सुरक्षित हो जायें, और निश्चय करें कि कोई ऐसा कर्म नहीं करेंगे जो किसी दूसरे को हानि पहुँचाये। यह परिवर्तन कैसे हो सकता है कि मनुष्य जो अनिवार्य रूप में उद्वेगो से प्रभावित हो सकते हैं (भाग ४, साध्य ४, उपप्रमेय), और अस्थिर और चंचल हैं (भाग ४, साध्य ३३), वे एक दूसरे के सम्बन्ध में अपने आप को सुरक्षित कर सकें और एक दूसरे में विश्वास करें, भाग ४, साध्य ७ और भाग ३, साध्य ३९ से स्पष्ट है, अर्थात् कोई उद्वेग किसी अन्य उद्वेग से ही, जो उससे रोकने में अधिक बलवान् और विपरीत प्रकृति वाला है, रुक सकता है, और प्रत्येक मनुष्य हानि पहुँचाने से इसी भय से रुकता है कि उसे अधिक हानि पहुँचेगी। इस नियम के आधार पर समाज गठित रह सकता है, इस शर्त पर कि यह उस अधिकार को अपने हाथ में ले ले, जो प्रत्येक को अपने प्रति की गयी हानि का प्रत्युत्तर देने और शुभ और अशुभ का निर्णय करने का है, और इसके साथ उसमें यह शक्ति भी हो कि सामान्य जीवन-पद्धति और व्यवहार को नियत कर सके, राजनियम बना सके और उन्हें सम्मानित कर सके—बुद्धि की सहायता से नहीं जो उद्वेगो को रोकने में अशक्त है (भाग ४, साध्य १७, टिप्पणी), अपितु धमकियों से। वह समाज जो राजनियमों और अपने आप को सगठित रखने की सामर्थ्य से समर्थित होता है, राष्ट्र कहलाता है, और जो लोग इस अधिकार से सुरक्षित होते हैं, नागरिक कहलाते हैं। इससे हम आसानी से समझ सकते हैं कि प्राकृत अवस्था में कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे सामान्य मतानुसार शुभ या अशुभ कह सके, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जो प्राकृत अवस्था में है, अपने हित का ही ख्याल करता है, और अपनी रुचि के अनुसार शुभ या अशुभ का निश्चय करता है, और उस अंश में कि वह अपने लाभ को ही ध्यान में रखता है, और

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

होता है, और, इसके विपरीत (उसी साध्य १४, भाग २ के उलट से और भाग ४ के साध्य २६ और २७ से), वह हानिकारक है जो शरीर को इसके कम योग्य बनाता है। इ० सि०

साध्य ३९—जो कुछ एक दूसरे के प्रति मानव-शरीर के भागों की गति और अगति की अनुरूपता को कायम रखता है, वह शुभ है; और इसके विपरीत, वह अशुभ है जो मानव शरीर के भागों की गति और अगति को नयी अनुरूपता दे देता है।

उपपत्ति—मनुष्य के शरीर को अपनी रक्षा के लिए बहुत-सी अन्य वस्तुओं की आवश्यकता होती है, परन्तु शरीर की आकृति इसमें है कि इसके भाग अपनी गति एक दूसरे को एक विशेष परिमाण में देते हैं (भाग २, साध्य १३ के पीछे आने वाली प्रमेयिका ४ से पहले परि० देखो)। इसलिए जो कुछ शरीर के भागों की आपसी गति और अगति को कायम रखता है, वह शरीर की आकृति को कायम रखता है, और इसलिए ऐसी स्थिति पैदा कर देता है (भाग २, स्वीकृत पक्ष ३ और ६) कि मानव-शरीर अनेक रूपों में प्रभावित हो सकता है, और अनेक रूपों में बाहरी वस्तुओं को प्रभावित भी कर सकता है और इसलिए (पूर्व साध्य) यह शुभ है। फिर, जो कुछ ऐसी स्थिति पैदा कर देता है कि शरीर के भाग गति और अगति की कोई और अनुरूपता ग्रहण कर लेते हैं? वह यह भी कर देता है (भाग २, वही परि०) कि मनुष्य का शरीर नयी आकृति ग्रहण कर लेता है, अर्थात् (जैसा स्वतः सिद्ध है और जैसा हमने इस भाग के प्राक्कथन के अन्त की ओर सकेत किया था) मानव-शरीर विनष्ट हो जाता है, और इसके फलस्वरूप अनेक रूपों में प्रभावित होने के सर्वथा अयोग्य हो जाता है। और इसलिए (पूर्व साध्य) यह अशुभ है। इ० सि०

टिप्पणी—इससे मन को क्या हानि या लाभ हो सकता है, पाँचवें भाग में दर्शाया गया है। परन्तु यहाँ यह देखना आवश्यक है कि मेरे विचारानुसार शरीर की मृत्यु हो जाती है, जब उसके भागों की स्थिति ऐसी हो जाती है कि वे एक दूसरे के सम्बन्ध में गति और अगति की एक नयी अनुरूपता ग्रहण कर लेते हैं। क्योंकि मैं इससे इन्कार करने का साहस नहीं करता कि मनुष्य का शरीर अपनी प्रकृति से सर्वथा भिन्न प्रकृति में परिवर्तित हो सकता है, यद्यपि रक्त का परिभ्रमण और अन्य चिह्न जिनसे शरीर जीवित समझा जाता है, पहले-से बने रहें। क्योंकि मुझे कोई हेतु यह कहने पर बाधित नहीं करता कि शरीर की मृत्यु शव बने बिना

नहीं होती, अनुभव तो इसके विपरीत विश्वास दिलाता है। क्योंकि कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य इतना बदल जाता है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि वह वही है, जैसा मैंने एक स्पेन के कवि की बाबत सुना है। वह एक रोग से ग्रस्त रहा था, और यद्यपि वह स्वस्थ हो गया, तो भी वह अपने बीते हुए जीवन की बाबत इतना अबोध हो गया कि जो कहानियाँ और नाटक उसने लिखे थे, उन्हें वह अपनी रचनाएँ नहीं समझता था, और यदि वह बोलने की योग्यता भी खो देता, तो वह आसानी से यौवनप्राप्त बालक समझा जा सकता था। और यदि यह विश्वासयोग्य न प्रतीत हो, तो हम बालको की बाबत क्या कहेंगे, जिनकी प्रकृति को बड़ी आयु का मनुष्य अपनी प्रकृति से इतना भिन्न समझता है कि यदि वह दूसरों की मिसाल से अपनी बाबत निर्णय न करता, तो यह मानने पर तैयार न होता कि वह भी कभी बालक था? परन्तु इस ख्याल से कि मैं कहीं अन्धविश्वासियों के लिए नये प्रश्नों की सामग्री एकत्र न कर दूँ, उचित है कि मैं अधिक समाधान के बिना इस प्रश्न को छोड़ दूँ।

साध्य ४०—जो कुछ मनुष्यों के सामाजिक जीवन के लिए सहायक है, या जो कुछ ऐसी स्थिति पैदा कर देता है कि मनुष्य एक साथ शान्ति और मेल से रहे, वह उपयोगी है, और इसके विपरीत वह अशुभ है जो राष्ट्र में फूट पैदा करता है।

उपपत्ति—जो कुछ ऐसी स्थिति पैदा करता है कि मनुष्य मेल-मिलाप में रहते हैं, वह इसके साथ ऐसी स्थिति भी पैदा करता है कि वे बुद्धि के नेतृत्व में रहते हैं (भाग ४, साध्य ३५), और इसलिए (भाग ४, साध्य २६ और २७) वह शुभ है। और (उसी तर्क से), इसके विपरीत, वह अशुभ है जो फूट को पुष्ट करता है। इ० सि०

साध्य ४१—स्पष्टतः सुख अशुभ नहीं, अपितु शुभ है; परन्तु, इसके विपरीत, दुःख स्पष्ट रूप में अशुभ है।

उपपत्ति—सुख (भाग ३, साध्य ११, अपनी टिप्पणी के साथ) एक उद्वेग है जिससे शरीर की क्रिया-शक्ति बढ़ती है या सहायता पाती है, परन्तु इसके विपरीत दुःख एक उद्वेग है जिससे शरीर की क्रिया-शक्ति घटती या रुकती है; और इसलिए (भाग ४, साध्य ३८) सुख निश्चित शुभ है, इत्यादि। इ० सि०

साध्य ४२—प्रसन्नता कभी अति अधिक नहीं हो सकती, परन्तु यह सदा शुभ है; परन्तु दूसरी ओर, चिन्ताकुलता सदा बुरी है।

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

११, टिप्पणी), जब इसके साथ बाहरी कारण का प्रत्यय युक्त हो, प्रेम है, और इसलिए प्रेम (पूर्व साध्य) अति अधिक हो सकता है। फिर जितना अधिक वह उद्वेग होता है जिससे इच्छा उत्पन्न हुई, उतनी ही अधिक इच्छा होती है (भाग ३, साध्य ३७)। इसलिए चूँकि कोई उद्वेग मनुष्य की अन्य क्रियाओं का अतिक्रमण कर सकता है, वह इच्छा भी जो उस उद्वेग से उत्पन्न हुई है, अन्य इच्छाओं का अतिक्रमण कर सकती है; और इस तरह यह भी वैसे ही अति अधिक हो सकती है जैसे हमने पूर्व साध्य में प्रसन्नतापूर्ण उकसाहट की बाबत सिद्ध किया था।

इ० सि०

टिप्पणी—प्रसन्नता, जिसे हमने शुभ बताया था, परीक्षित होने की अपेक्षा अधिक आसानी से चिन्तन का विषय हो सकती है। क्योंकि जिन उद्वेगों से हम प्रति दिन आक्रान्त होते हैं, वे बहुधा शरीर के किसी विशेष भाग से सम्बन्ध रखते हैं जो अन्य भागों से अधिक प्रभावित होता है, और इस तरह आम तौर पर उद्वेग अति अधिक होते हैं, और मन को एक ही वस्तु के चिन्तन में ऐसे बाँध देते हैं कि यह अन्य वस्तुओं की बाबत सोच ही नहीं सकता। और यद्यपि मनुष्य अनेक उद्वेगों से प्रभावित हो सकते हैं, और ऐसे थोड़े ही होते हैं जो सदा एक ही उद्वेग से आक्रान्त हो, तो भी ऐसे मनुष्य भी मिलते हैं, जिनसे एक ही उद्वेग दृढ़ता से चिपका रहता है। हम देखते हैं कि कभी-कभी मनुष्य एक ही वस्तु से ऐसे प्रभावित होते हैं कि उसके उपस्थित न होने की हालत में भी उसे अपने पास मौजूद ख्याल करते हैं। जब किसी जाग्रत मनुष्य की हालत में ऐसा होता है, तो हम कहते हैं कि वह अति उद्विग्न या पागल है, जो लोग प्रेम से तृप्त होते हैं, और दिन रात अपनी प्रेयसी के स्वप्न में व्यतीत कर देते हैं, वे भी कुछ कम पागल नहीं समझे जाते, क्योंकि वे हँसी का कारण होते हैं। परन्तु जब एक कजूस धन और मुद्रा के बिना या लालसी मनुष्य सम्मान के बिना किसी वस्तु का चिन्तन नहीं करता, तो उन्हें पागल नहीं समझा जाता, क्योंकि वे हानिकारक होते हैं और द्वेष के पात्र समझे जाते हैं। परन्तु वास्तव में लोभ, लालसा और विषयासक्ति इत्यादि पागलपन की किरमे ही हैं, यद्यपि उनकी गिनती रोगों में नहीं होती।

साध्य ४५—द्वेष कभी शुभ नहीं हो सकता।

उपपत्ति—जिस मनुष्य से हम द्वेष करते हैं, उसे नष्ट करने का हम यत्न करते हैं (भाग ३, साध्य ३९), अर्थात् (भाग ३, साध्य ३७) हम एक ऐसा कर्म करने का यत्न करते हैं जो अशुभ है। इसलिए, इत्यादि। **इ० सि०**

टिप्पणी १—इस बात को समझ लेना चाहिए कि यहाँ और आनेवाले साध्यों में द्वेष से मेरा अभिप्राय मनुष्यों के प्रति द्वेष से ही है।

उपप्रमेय १—ईर्ष्या, हँसी मखौल, घृणा, क्रोध, बदला और अन्य उद्वेग जो द्वेष की ओर सकेत करते हैं या उससे उत्पन्न होते हैं, अशुभ हैं, जो भाग ३, साध्य ३९ और भाग ४, साध्य ३७ से स्पष्ट हैं।

उपप्रमेय २—द्वेष के प्रभाव में जो कोई इच्छा भी हम करते हैं वह अशुभ है और राष्ट्र में अन्याययुक्त है; जो भाग ३, साध्य ३९, और अशुभ या घृणित की परिभाषा से भी स्पष्ट है। परिभाषा को भाग ४, साध्य ३ की टिप्पणी में देखो।

टिप्पणी २—हँसी मखौल (जिसे मैंने पहले उपप्रमेय में बुरा कहा है) और हँसी में मैं बहुत भेद स्वीकार करता हूँ। क्योंकि हँसी और रसिकता केवल सुख है, और इसलिए, यदि वे अति अधिक न हों, तो वे अपने आप में शुभ हैं (भाग ४, साध्य ४१)। इसलिए चिन्ताकुल और विनोदविहीन अधविश्वास ही हँसी की मनाही करता है। क्योंकि भूख-प्यास को मिटाना चिन्ताकुलता को दूर करने की अपेक्षा क्यों उचित है? मेरी युक्ति यह है और मैं इसे निश्चित समझता हूँ, कोई देवता या ईर्ष्यालु मनुष्यों को छोड़कर कोई मनुष्य मेरी निर्बलता या अमुविधा से प्रसन्न नहीं होता, न रोने-घोने, भय और इस प्रकार की अन्य वस्तुओं को जो एक निर्बल मनुष्य के चिन्ह हैं, हमारे सदाचार से सम्बद्ध समझता है, परन्तु, इसके विपरीत, जितना अधिक हम सुखी होते हैं, उतना ही अधिक हम अधिक पूर्णता प्राप्त करते हैं, अर्थात् हम अनिवार्य रूप में दैवी प्रकृति में साक्षी होते हैं। एक बुद्धिमान् का काम है कि वह यथासम्भव पदार्थों का प्रयोग करे और उनमें आनन्द अनुभव करे (अति अधिकता की सीमा तक नहीं, क्योंकि वह तो आनन्द होना नहीं)। मैं कहता हूँ, एक समझदार मनुष्य का काम है कि वह सीमित मात्रा में सुखद पदार्थ खाये पिये, और सुगन्धों, बढ़ते हुए पौधों के सौन्दर्य, पहनावा, संगीत, खेल-कूद, नाटक-गृह और अन्य ऐसे स्थानों से, जिनका मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचाये बिना प्रयोग कर सकता है, आनन्द ले। क्योंकि मनुष्य का शरीर भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनेक भागों से बना है, जिन्हें निरन्तर नयी और विविध प्रकार की खुराक की आवश्यकता होती है, ताकि शरीर समग्र रूप में एक समान उन कार्यों को करने के योग्य रहे जो इसकी प्रकृति से उद्भूत होते हैं, और इसके फलस्वरूप इसलिए भी कि मन भी एक साथ अनेक वस्तुओं को समझने की क्षमता रखे।

जीवन की यह विधि हमारे सिद्धान्तों और जीवन के सामान्य प्रकार से बहुत मिलती-जुलती है, इसलिए कोई और जीवन-विधि हो, तो भी यह सर्वोत्तम है, और हर प्रकार से प्रशसनीय है। इस विषय पर हमें अधिक स्पष्ट होने या अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता भी नहीं।

साध्य ४६—जो मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में विचरता है, वह जितना उससे बन पड़ता है, यत्न करता है कि अपने साथी के द्वेष, क्रोध और घृणा का उत्तर प्रेम और सज्जनता से दे।

उपपत्ति—द्वेष के सारे उद्वेग बुरे हैं (पूर्व साध्य, उपप्रमेय १) और इसलिए जो मनुष्य बुद्धि के आदेशों के अनुसार आचरण करता है, वह यथासम्भव ऐसी स्थिति पैदा करने का यत्न करेगा कि द्वेष के उद्वेगों से आक्रान्त न हो (भाग ४, साध्य १९), और इसके फलस्वरूप (भाग ४, साध्य ३७) यत्न करेगा कि कोई और इन उद्वेगों से पीड़ित न हो। परन्तु द्वेष दूसरी ओर से होनेवाले द्वेष से बढ़ता है, और इसके विपरीत प्रेम से इस तरह विनष्ट हो सकता है (भाग ३, साध्य ४३) कि द्वेष प्रेम में बदल जाता है (भाग ३, साध्य ४४)। इसलिए जो मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में जीता है, वह दूसरे के द्वेष आदि का उत्तर प्रेम अर्थात् सज्जनता से देने का यत्न करेगा (भाग ३, साध्य ५९ की टिप्पणी में इसकी परिभाषा देखो)।

टिप्पणी—जो मनुष्य अपनी हानियों का बदला द्वेष से लेना चाहता है, वह दुर्गति में जीवन व्यतीत करेगा। परन्तु वह जो द्वेष को प्रेम के द्वारा हटाना चाहता है, वह प्रसन्नता और विश्वास से सम्पन्न सग्राम करता है, वह एक मनुष्य या कई मनुष्यों का एक समान मुकाबला करता है, और उसे भाग्य की सहायता की आवश्यकता होती ही नहीं। जिन लोगों को वह पराजित करता है, वे खुशी से हार मान लेते हैं, इसलिए नहीं कि उनमें शक्ति का अभाव होता है, अपितु इसलिए कि उनकी शक्ति बढ़ जाती है। ये सारी बातें प्रेम और बुद्धि की परिभाषाओं से ही ऐसी स्पष्ट हैं कि मेरे लिए इन्हें प्रकट करना आवश्यक नहीं।

साध्य ४७—आशा और भय के उद्वेग अपने आप में शुभ नहीं हो सकते।

उपपत्ति—आशा और भय के उद्वेग दुःख के बिना व्यक्त नहीं होते। क्योंकि भय (उद्वेग परि० १३) शोकातुरता या दुःख है और आशा (उद्वेग परि० १२ और १३ की व्याख्या देखो) जब आती है तो भय के बिना नहीं आती। और इस तरह (भाग ४, साध्य ४१) ये उद्वेग अपने आप में शुभ नहीं हो सकते, परन्तु उसी

अश मे शुभ होते है जिसमे ये खुशी की अति अधिकता को रोक सकते है (भाग ४, साध्य ४३)। इ० सि०

टिप्पणी:—इसके साथ ये भी कहना चाहिए कि ये उद्वेग ज्ञान के अभाव और मन की निर्बलता की सूचना देते है, और इस कारण भरोसा, आशारहित होना, प्रसन्नता और आशा पूरी न होना एक निर्बल मन के सूचक है। क्योंकि यद्यपि भरोसा और प्रसन्नता सुख के उद्वेग है, वे जाहिर करते है कि उनसे पूर्व आशा और भय के रूप मे दुःख प्रस्तुत हो चुका है। इसलिए जितना अधिक हम बुद्धि के नेतृत्व मे रहने का यत्न करते है, उतना ही कम हम आशा के आश्रित रहने का यत्न करते है, और उतना ही अधिक अपने आप को भय से विमुक्त करने और यथासम्भव भाग्य पर विजय पाने का यत्न करते है, और अन्त मे बुद्धि के निश्चित परामर्श के अनुसार कर्म करने का यत्न करते है।

साध्य ४८—पक्षपात और तिरस्कार के उद्वेग सदा बुरे है।

उपपत्ति—अब ये उद्वेग (उद्वेग परि० २१ और २२) बुद्धि के प्रतिकूल है, और इसलिए (भाग ४, साध्य २६ और २७) वे बुरे है। इ० सि०

साध्य ४९—पक्षपात सहज ही उस मनुष्य को, जिसकी कीमत उचित से अधिक डाली जाती है, अभिमानी बना देता है।

उपपत्ति—यदि हम देखे कि कोई मनुष्य प्रेम के प्रभाव मे हमारे गुणों की अनुचित प्रशंसा करता है, तो हम आसानी से फूल जाते है (भाग ३, साध्य ४१, टिप्पणी) या प्रसन्न होते है (उद्वेग परि० ३०), और जो प्रशंसा हमारी की जाती है हम उसे आसानी से सत्य मान लेते है (भाग ३, साध्य २५)। और इसलिए हम आत्म-प्रेम के कारण अपनी कीमत उचित मात्रा से अधिक लगाते है, अर्थात् (उद्वेग परि० २८) हम आसानी से अभिमानी हो जाते है। इ० सि०

साध्य ५०—जो मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व मे जीवन व्यतीत करता है, उसमे करुणा, अपने आप मे, बुरी और व्यर्थ है।

उपपत्ति—करुणा (उद्वेग परि० १८) शोकातुरता है और इसलिए (भाग ४, साध्य ४१) अपने आप मे बुरी है। जो भलाई इसका परिणाम होती है, अर्थात् कि हम उस मनुष्य को जिस पर हम करुणा करते है, उसकी आपत्ति से छुड़ाने का यत्न करते है (भाग ३, साध्य २७, उपप्रमेय), वह तो हम केवल बुद्धि के आदेश पर करना चाहते है (भाग ४, साध्य ३७), न ही हम बुद्धि के नेतृत्व के बिना कोई काम कर सकते है जिसे हम शुभ जानते है। और इसलिए जो मनुष्य

बुद्धि के नेतृत्व में जीता है, उसमें करुणा, अपने आप में, बुरी और व्यर्थ है।
इ० सि०

उपप्रेम—इससे परिणाम निकलता है कि जो मनुष्य बुद्धि के आदेशानुसार जीता है, वह यथासम्भव यत्न करता है कि करुणा से प्रभावित न हो।

टिप्पणी—जो मनुष्य यथार्थ में जानता है कि सारी वस्तुएँ दैवी प्रकृति की अनिवार्यता से प्रकट होती हैं, और घटनाएँ अनादि और व्यवस्थित नियमों के अनुसार घटती हैं, उसे कुछ भी द्वेष, हँसी या घृणा का पात्र नहीं दीखेगा, न उसे किसी के सम्बन्ध में शोक होगा; परन्तु जहाँ तक मानव सदाचार की पहुँच हो सकती है, वह, मर्यादा के अनुसार अच्छे विचरण का यत्न करने और प्रसन्न रहने का यत्न करेगा। इसके साथ यह भी कह देना चाहिए कि जो मनुष्य सहज ही करुणा के उद्वेगों से प्रभावित हो जाता है और दूसरे की दुर्गति पर आँसू बहाने लगता है, वह अक्सर ऐसा कर्म कर बैठता है जिसके लिए वह पीछे पछताता है, इसलिए कि हम उद्वेग के प्रभाव में कोई ऐसा काम नहीं कर सकते जिसके शुभ होने का हम निश्चित ज्ञान हो सके, और इसलिए भी कि हम झूठे आँसुओं से आसानी से धोखा खा जाते हैं। मैं यहाँ निश्चय ऐसे मनुष्य की बाबत कह रहा हूँ जो बुद्धि के नेतृत्व में जीता है। क्योंकि जो मनुष्य न बुद्धि से, न दयाभाव से दूसरों की सहायता करने पर उद्यत होता है, वह उचित ही अमानव कहलाता है, क्योंकि (भाग ३, साध्य २७) वह मानव से भिन्न प्रतीत होता है।

साध्य ५१—अनुग्रह बुद्धि के प्रतिकूल नहीं, अपितु इसके अनुकूल और इसका परिणाम हो सकता है।

उपपत्ति—अनुग्रह ऐसे मनुष्य के प्रति प्रेम है जिसने किसी दूसरे को लाभ पहुँचाया है (उद्वेग परि० १९), और इसलिए यह मन की ओर संकेत कर सकता है, जहाँ तक इसे क्रियाशील कहा जाता है (भाग ३, साध्य ५९), अर्थात् (भाग ३, साध्य ३) जहाँ तक यह समझता है; और इसलिए यह बुद्धि के अनुकूल है, इत्यादि।

इ० सि०

दूसरी उपपत्ति—जो मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में जीता है, वह जिस शुभ की अपने लिए इच्छा करता है, दूसरों के लिए भी उसकी इच्छा करता है (भाग ४, साध्य ३७)। इसलिए, केवल इसलिए कि वह किसी मनुष्य को दूसरे को लाभ पहुँचाते देखता है, उसका अपना लाभ पहुँचाने का यत्न पुष्ट होता है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ११) वह प्रसन्न होता है, और (प्रतिज्ञा से) इसके साथ उसे उस मनुष्य

का ख्याल होता है जिसने दूसरे का उपकार किया है; और इसलिए (उद्वेग परि० १९) वह उसके प्रति अनुग्रही होता है। इ० सि०

टिप्पणी—क्रोध, जैसी हमने इसकी परिभाषा की है (उद्वेग परि० २०) अनिवार्य रूप में बुरा है (भाग ४, साध्य ४५)। परन्तु इसे ध्यान में रखना चाहिए कि जब शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए शासन किसी नागरिक को, जिसने किसी दूसरे को हानि पहुँचायी है दण्ड देता है तो हम यह नहीं कहते कि शासन नागरिक को दण्ड देते हुए उसके प्रति क्रोध करता है, क्योंकि शासन द्वेष के प्रभाव में नागरिक को विनष्ट करना नहीं चाहता, परन्तु कर्तव्य के भाव से ऐसा करता है।

साध्य ५२—आत्म-तुष्टि बुद्धि का परिणाम हो सकती है, और वह आत्म-तुष्टि ही जो बुद्धि से उद्भूत होती है, सबसे बड़ी है।

उपपत्ति—आत्म-तुष्टि वह प्रसन्नता है, जो मनुष्य के अपनी बाबत और अपनी क्रिया-शक्ति की बाबत चिन्तन करने से पैदा होती है (उद्वेग परि० २५)। परन्तु मनुष्य की यथार्थ क्रिया-शक्ति या उसका वृत्त स्वयं बुद्धि ही है (भाग ३, साध्य ३), जिसका मनुष्य को विमल और स्पष्ट बोध होता है (भाग २, साध्य ४० और ४३)। इसलिए आत्म-तुष्टि बुद्धि से उद्भूत होती है। फिर, मनुष्य जब तक अपनी बाबत चिन्तन करता है, तो वह सिवाय उन वस्तुओं के जो उसकी क्रिया-शक्ति का फल होती है, किसी अन्य वस्तु को विमल और स्पष्ट देखता ही नहीं (भाग ३, परि० २), अर्थात् (भाग ३, साध्य ३) जो उसकी विवेक-शक्ति का फल होती है। इसलिए इस आत्म-चिन्तन से अधिक से अधिक आत्म-तुष्टि, जो प्रकट हो सकती है, प्रकट होती है। इ० सि०

टिप्पणी—आत्म-तुष्टि सबसे बड़ा श्रेय है जिसकी हम आशा कर सकते हैं। क्योंकि (जैसा हमने भाग ४, साध्य २५ में दिखाया है) कोई मनुष्य किसी उद्देश्य के लिए अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न नहीं करता, और चूँकि यह आत्म-तुष्टि प्रशंसा से अधिक पुष्ट और प्रोत्साहित होती है (भाग ३, साध्य ५३, उपप्रमेय ५) और इसके विपरीत, (भाग ३, साध्य ५५, उपप्रमेय १) अप्रशंसा से अधिक व्याकुल होती है, हम जीवन में मुख्य रूप से सम्मान की इच्छा से प्रभावित होते हैं, और अपमान के बोझ के तले इसे सहन ही नहीं कर सकते।

साध्य ५३—नम्रता या हीनता भाव यदि यह बुद्धि का परिणाम न हो तो शुभ गुण या वृत्त नहीं।

उपपत्ति—हीनता भाव वह दुःख है जो मनुष्य को अपनी निर्बलता के चिन्तन

से अनुभूत होता है (उद्वेग परि० २६)। परन्तु जिस अश मे मनुष्य अपने आप को यथार्थ बुद्धि से जानता है, उस अश मे फर्ज किया जाता है कि वह अपने सार को अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) अपनी शक्ति को समझता है। इसके फलस्वरूप यदि मनुष्य, जब वह अपना चिन्तन कर रहा होता है, अपनी किसी निर्बलता को देखता है, तो यह बोध उसे आत्म-ज्ञान के कारण नहीं होता, बल्कि इस कारण कि उसकी क्रिया-शक्ति बाधित होती है। परन्तु यदि हम फर्ज करे कि मनुष्य को अपनी निर्बलता का बोध इस कारण होता है कि वह अपने से अधिक बलवान् किसी सत्ता को समझता है, जिसका ज्ञान उसकी क्रिया-शक्ति को निर्णीत करता है, तो हम यही ख्याल करते हैं कि वह मनुष्य अपने आप को स्पष्ट रूप मे समझता है (भाग ४, साध्य २६), और इससे उसकी क्रिया-शक्ति को सहायता मिलती है। इसके फलस्वरूप हीनताभाव या दुःख जो मनुष्य के अपनी निर्बलता पर चिन्तन करने से प्रकट होता है, वह यथार्थ मनन या बुद्धि से पैदा नहीं होता, और शुभ गुण या वृत्त नहीं, अपितु एक उद्वेग है। इ० सि०

साध्य ५४—पश्चात्ताप कोई वृत्त नहीं, या अन्य शब्दों मे, यह बुद्धि से प्रकट नहीं होता, परन्तु जो मनुष्य किसी कर्म के लिए पश्चात्ताप करता है वह पहले की अपेक्षा दुगुना दुःखी या दुगुना निर्बल होता है।

उपपत्ति—इस साध्य का पहला भाग उसी तरह सिद्ध होता है जैसे पूर्व साध्य। दूसरा भाग इस उद्वेग की परिभाषा से ही स्पष्ट है (उद्वेग परि० २७ देखो)। क्योंकि वह मनुष्य पहले बुरी इच्छा से और फिर दुःख से पराजित होने पर राजी हो जाता है।

टिप्पणी—चूँकि मनुष्य कदाचित् ही बुद्धि के आदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं, इसलिए ये दोनों उद्वेग, हीनताभाव और पश्चात्ताप, और इनके अतिरिक्त आशा और भय, हानि की अपेक्षा अधिक लाभ उत्पन्न करते हैं; और इस तरह चूँकि हम सर्वथा पाप से बच नहीं सकते, अच्छा यही है कि हम इसमे पाप करे। क्योंकि यदि मनुष्य जो मन मे अशक्त है, सब एक-जैसे अभिमानी हो जायँ, तो वे किसी चीज से लज्जित नहीं होंगे, न ही वे किसी ऐसी वस्तु से डरेगे, जिससे वे मानो जजीरो से गठित हो सके और एक साथ रखे जा सकें। यदि भीड़ को भय न रहे, तो यह अपनी बारी मे डराने धमकाने लगती है। इसलिए इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं कि भविष्यवक्ताओ ने, जिन्हे अल्पसंख्या का नहीं अपितु राष्ट्र की भलाई का ध्यान था, हीनताभाव, पश्चात्ताप और आदर-सत्कार की इतनी

प्रशंसा की। और तथ्य यह है, कि जो लोग इन उद्वेगों से प्रभावित होनेवाले हैं, वे दूसरों की अपेक्षा बहुत आसानी से बुद्धि के आदेशानुसार विचरण करने पर उद्यत किये जा सकते हैं, अर्थात् स्वाधीन होने और धन्य पुरुषों के जीवन का उपभोग करने पर।

साध्य ५५—अति अधिक अभियान या उत्साहहीनता स्वत्व का अति अधिक अज्ञान है।

उपपत्ति—यह उद्वेग परि० २८ और २९ से स्पष्ट है।

साध्य ५६—अति अधिक अभिमान या उत्साहहीनता मन की अति अधिक दुर्बलता की सूचक है।

उपपत्ति—वृत्त का मूलाधार आत्मरक्षा है (भाग ४, साध्य २२, उपप्रमेय), और वह बुद्धि के नेतृत्व में (भाग ४, साध्य २४)। इसलिए जो मनुष्य अपने आप को नहीं जानता, वह सभी वृत्तों के आधार को नहीं जानता, और इसके फल-स्वरूप सब वृत्तों से नावाकिल है। फिर, वृत्त के प्रभाव में कर्म करना बुद्धि के नेतृत्व में कर्म करने से भिन्न कुछ नहीं (भाग ४, साध्य २४), और जो मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में कर्म करता है वह अवश्य जानता है कि वह बुद्धि के नेतृत्व में कर्म करता है (भाग २, साध्य ४३)। इसलिए जो मनुष्य अपनी बाबत अति अधिक अविद्या में है, और इसके फलस्वरूप (जैसा हम अभी दिखा चुके हैं) सभी वृत्तों की बाबत अविद्या में है, वह वृत्त से कम से कम कर्म करता है, अर्थात् (जैसा परि० ८ से स्पष्ट है), वह अपने में अति दुर्बल है; और इसलिए (पूर्व साध्य) अभिमान या हीनता-भाव की अति अधिक मात्रा मन की अति अधिक निर्बलता की सूचक है। इ० सि०

उपप्रमेय—इसका स्पष्ट परिणाम यह है कि अभिमानी मनुष्य और हीनता-भाव वाले मनुष्य उद्वेगों से अति अधिक प्रभावित हो सकते हैं।

टिप्पणी—इस पर भी, हीनताभाव अभिमान की अपेक्षा अधिक आसानी से ठीक हो सकता है, क्योंकि अभिमान एक सुख का उद्वेग है, जब कि हीनताभाव दुःख का उद्वेग है, और इसलिए (भाग ४, साध्य १८) दोनों में अभिमान अधिक बलवान् है।

साध्य ५७—अभिमानी मनुष्य दूसरों पर आश्रय करनेवालों और खुशामद करने वालों की उपस्थिति से प्रेम करता है, परन्तु सज्जन पुरुषों की उपस्थिति से द्वेष करता है।

उपपत्ति—अभिमान वह प्रसन्नता है जो मनुष्य को अपनी कीमत बहुत

बढ़ाकर डालने से अनुभव होती है (उद्वेग परि० २८ और ६); अभिमानी मनुष्य इस सम्मति को यथासंभव पुष्ट करने का यत्न करता है (भाग ३, साध्य १३ की टिप्पणी देखो)। और इसलिए वह दूसरों के आश्रय पर जोनेवालों और खुशामदियों की मौजूदगी से प्रेम करेगा, और जहाँ तक सज्जन पुरुषों की सगति या उपस्थिति का प्रश्न है, वह इससे द्वेष करेगा। (दूसरों के आश्रय पर जीनेवालों और खुशामदियों की परिभाषाएँ नहीं दी गयी, क्योंकि ये विख्यात ही हैं।) इ० सि०

टिप्पणी—यहाँ अभिमान की सभी बुराइयों की गिनती करने में बहुत समय लगेगा, क्योंकि अभिमानी मनुष्य सभी उद्वेगों से प्रभावित हो सकते हैं, परन्तु इनमें कोई ऐसा नहीं जिससे वे प्रेम और करुणा की अपेक्षा कम प्रभावित हों। परन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि वह मनुष्य अभिमानी कहलाता है जो अपने साथियों का मूल्य कम लगाता है, और इसलिए इस अवस्था में अभिमान का लक्षण यह होना चाहिए—‘अभिमान वह प्रसन्नता है जो उस असत्य विचार से उत्पन्न होती है जिसके कारण कोई मनुष्य अपने आप को अपने साथियों से ऊँचा समझता है।’ और हीनताभाव जो इस अभिमान के प्रतिकूल है, इस तरह लक्षित होना चाहिए—‘वह दुःख जो उस असत्य विचार के कारण उत्पन्न होता है, जिसके कारण कोई मनुष्य अपने आपको अपने साथियों से नीचे समझता है।’ परन्तु हम इस स्थिति से सहज ही यह ख्याल कर सकते हैं कि अभिमानी मनुष्य अनिवार्य रूप में ईर्ष्यालु है (भाग ३, साध्य ५५ की टिप्पणी देखो) और सबसे अधिक उन लोगों से द्वेष करता है जिनकी, उनके सदाचार के कारण, अति अधिक प्रशंसा होती है, न ही उसका द्वेष उनके प्रेम या उपकार से आसानी से दब सकता है (भाग ३, साध्य ४१ टिप्पणी), और कि वह केवल ऐसे मनुष्यों की उपस्थिति में प्रसन्न होता है जो उसके निर्बल मन को धोखा देते हैं, और मूर्ख के स्थान में उसे पागल बना देते हैं।

यद्यपि हीनताभाव अभिमान के प्रतिकूल है, तो भी हीनताभाव का मनुष्य अभिमानी मनुष्य के निकटतम है। चूँकि उसका दुःख इस बात का परिणाम है कि वह अपनी निर्बलता की तुलना दूसरों के बल या वृत्त से करता है, इसलिए उसका दुःख दूर हो जायगा, अर्थात् वह सुखी होगा यदि उसकी कल्पना दूसरों की बुराइयों के विचार में लगी हो। इसी से यह कहावत चली है; दुखी पुरुषों के लिए दुःख के साथियों का मिलना सतोष का कारण है। और दूसरी ओर, जितना अधिक वह अपने आप को दूसरों से अधम समझता है, उतना ही अधिक वह शोकग्रस्त होगा।

इसका परिणाम यह है कि उत्साहहीन मनुष्यों के बराबर कोई दूसरा ईर्ष्यालु नहीं होता, और कि ये लोग दूसरों के कर्मों को अति ध्यान से देखते रहने का यत्न करते हैं, उनके सशोधन के ख्याल से इतना नहीं जितना उनके दोष निकालने के लिए, और कि वे उत्साहहीनता की प्रशंसा करते हैं और इसी में गौरव अनुभव करते हैं, परन्तु ऐसे ढंग से कि इस पर भी वे उत्साहहीन प्रतीत होते हैं। अब ये चीजे इस उद्वेग से उसी अनिवार्यता के साथ उद्भूत होती हैं, जिस तरह त्रिकोण की प्रकृति से यह कि इसके तीन कोण मिलकर दो समकोणों के बराबर होते हैं। और मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं इन उद्वेगों और इन-जैसे अन्य उद्वेगों को इस अंश में बुरा कहता हूँ कि मुझे मनुष्य के लाभ का ध्यान है। परन्तु प्रकृति के नियमों को तो केवल सर्ग की व्यवस्था का सत्कार है, जिसका मनुष्य एक भाग है, जिसका मैं ने चलते-चलते जिक्र कर दिया है ताकि कोई यह न समझ ले कि मैं मनुष्यों की बुराइयों और मूर्खताओं का वर्णन करना चाहता हूँ और पदार्थों की प्रकृति और उनके गुणों को दर्शाना नहीं चाहता। क्योंकि जैसा मैंने तीसरे भाग के प्राक्कथन में कहा था, मैं मनुष्य के उद्वेगों और उनके गुणों को उसी प्रकार देखता हूँ जैसे ससार की बाकी वस्तुओं को। और निश्चय मनुष्य के उद्वेग मनुष्य की शक्ति और कला का नहीं तो कुदरत की शक्ति और कला का उतना ही परिचय देते हैं जितना अनेक अन्य वस्तुएँ, जिन पर हम हैरान होते हैं, और जिनके मनन में हम प्रसन्न होते हैं। परन्तु अब मैं उद्वेगों के उन गुणों की वास्तव कहने को आगे बढ़ता हूँ जो मनुष्यों को लाभ या हानि पहुँचाते हैं।

साध्य ५८—मान-प्रतिष्ठा बुद्धि के प्रतिकूल नहीं, अपितु इसका परिणाम हो सकती है।

उपपत्ति—यह उद्वेग परि० ३० से और प्रतिष्ठित पुरुष की परिभाषा (भाग ४, साध्य ३७ की टिप्पणी १) से स्पष्ट है।

टिप्पणी—जिसे वृथा अभिमान या शून्य प्रतिष्ठा कहते हैं वह ऐसी आत्म-तुष्टि है जो केवल भीड़ की सम्मति से पुष्ट होती है; और जब इसका अन्त होता है, तो आत्मतुष्टि का भी अन्त हो जाता है, अर्थात् (भाग ४, साध्य ५२, टिप्पणी) उस निश्चेयस का जिससे हर एक मनुष्य प्रेम करता है। इसका परिणाम यह होता है कि जिस मनुष्य की प्रतिष्ठा भीड़ की सम्मति पर निर्भर होती है, उसे दिन प्रति दिन अत्यन्त चिन्ता के साथ उस प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए यत्न करना, क्रिया करना और उपाय रचना पड़ता है। क्योंकि भीड़ परिवर्तनशील और अस्थिर होती

है, और इसलिए यदि सावधानी से प्रतिष्ठा की रक्षा न की जाय, तो शीघ्र ही इसका अन्त हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य भीड़ की प्रशंसा को प्राप्त करना चाहता है, और इस तरह एक आसानी से दूसरे की प्रतिष्ठा को दबाता है। चूँकि यह सघर्ष ऐसी वस्तु के लिए होता है जिसे सर्वश्रेष्ठ भद्र समझा जाता है, प्रत्येक में जिस प्रकार भी हो सके, दूसरे का दमन करने की अति उत्तेजक इच्छा प्रस्तुत होती है, और जो कोई विजयी होता है उसकी प्रतिष्ठा इतनी अपने लाभ से नहीं होती जितनी दूसरों को हानि पहुँचाने से होती है। यह प्रतिष्ठा या आत्म-नुष्टि वास्तव में व्यर्थ है, क्योंकि इसका कोई अस्तित्व नहीं।

जो कुछ हम करुणा और पश्चात्ताप की बाबत कह चुके हैं, उससे लज्जा की बाबत भी जो कुछ विदित होना चाहिए, प्राप्त हो जाता है। मैं इतना ही और कहूँगा कि करुणा की तरह लज्जा भी, यद्यपि यह कोई वृत्त नहीं, इस पर भी इस अंश में शुभ है कि यह जाहिर करती है कि लज्जा अनुभव करनेवाले मनुष्य में अच्छा जीवन व्यतीत करने की इच्छा है, जिस तरह तीव्र पीड़ा इस अंश में मूल्यवान् होती है कि यह बताती है कि जिस भाग को हानि पहुँची है, वह अभी सड़ा नहीं। इसके परिणामस्वरूप, यद्यपि जो मनुष्य किसी कर्म से लज्जित है वह वास्तव में दुखी है, इस पर भी एक वेशर्मा मनुष्य से अच्छा है जिसमें अच्छा जीवन बिताने की इच्छा ही नहीं।

और ये बातें हैं जो मैंने सुख और दुःख के उद्वेगों की बाबत कहने की प्रतिज्ञा की थी। जहाँ तक इच्छाओं का सबन्ध है, वे इस अंश में शुभ या अशुभ हैं कि वे शुभ या अशुभ उद्वेगों से उत्पन्न होती हैं। परन्तु तथ्य यह है कि सभी इच्छाएँ, इस अंश में कि वे ऐसे उद्वेगों से उत्पन्न होती हैं जिनमें बाहर से आक्रमण होता है, विवेकहीन या अन्धी हैं (जैसा भाग ४, साध्य ४४ की टिप्पणी की व्याख्या से आसानी से जाना जा सकता है), और यदि मनुष्य आसानी से बुद्धि के आदेशों के अनुसार ही जीवन व्यतीत करने पर प्रेरित हो सकते, तो ये किसी काम की ही नहीं होती, जैसा मैं अब थोड़े शब्दों में दिखाऊँगा।

साध्य ५९—उन तमाम कर्मों के लिए जिनके लिए हम ऐसे उद्वेग से निर्णीत होते हैं जिसमें बाहर से प्रहार होता है, हम उस उद्वेग के अभाव में केवल बुद्धि से निर्णीत हो सकते हैं।

उपपत्ति—बुद्धि के पथप्रदर्शन में कर्म करना (भाग ३, साध्य ३ और परि० २) उन कर्मों के करने के अतिरिक्त कुछ नहीं जो स्वयं हमारी प्रकृति की अनिवार्यता

का परिणाम है। परन्तु दुःख बुरा है जिस अश में यह इस क्रिया-शक्ति को कम करता या रोकता है (भाग ४, साध्य ४१)। इसलिए इस उद्वेग के प्रभाव में हम किसी क्रिया के लिए निर्णीत नहीं हो सकते, जिसे हम बुद्धि के नेतृत्व में करने के योग्य न थे। इसके अतिरिक्त, सुख बुरा है जिस अश में कि यह मनुष्य को क्रिया के लिए तैयार रहने से रोकता है (भाग ४, साध्य ४१ और ४३)। और इसलिए हम किसी कर्म के लिए निर्णीत नहीं हो सकते, जो हम बुद्धि के नेतृत्व में नहीं कर सकते थे। फिर, जिस अश में सुख शुभ है, यह बुद्धि के अनुकूल होता है (क्योंकि इसका भाव यह है कि मनुष्य की क्रिया-शक्ति बढ़ती या पुष्ट होती है), न ही वह बाहर से प्रभावित हुआ उद्वेग है, सिवाय इस अश के कि यह मनुष्य की क्रिया-शक्ति को उस हद तक नहीं बढ़ाता जिस तक वह अपने आप को और अपनी क्रियाओं को पर्याप्त रूप में जानता है (भाग ३, साध्य ३ और इसकी टिप्पणी)। इसलिए यदि सुख अनुभव करनेवाला मनुष्य ऐसी पूर्णता को प्राप्त करे कि वह अपने आप का और अपनी क्रियाओं का पर्याप्त चिन्तन करे, तो वह उन कर्मों के लिए उतना ही बलिक उससे भी अधिक योग्य होगा, जिनके लिए वह ऐसे उद्वेगों से निर्णीत हुआ था जो बाहरी प्रभाव का फल होते हैं। परन्तु सभी उद्वेग सुख, दुःख या इच्छा की ओर सकेत करते हैं (उद्वेग परि० ४ की टीका देखो), और इच्छा (उद्वेग परि० १) क्रिया करने के यत्न से भिन्न कुछ नहीं। इसलिए उन सभी कर्मों के लिए जिनके लिए हम उन उद्वेगों से निर्णीत होते हैं जो बाहरी प्रभाव का फल हैं, हम केवल बुद्धि से भी निर्णीत हो सकते हैं। इ० सि०

दूसरा प्रमाण—प्रत्येक कर्म इस अश में बुरा कहलाता है कि हम इसे करते हुए द्वेष या किसी और बुरे उद्वेग से प्रभावित होते हैं (भाग ४, साध्य ४५, उप-प्रमेय १ देखो)। परन्तु कोई कर्म अपने आप में शुभ या अशुभ नहीं होता (जैसा हमने इस भाग के प्राक्कथन में दिखाया है), परन्तु एक ही कर्म एक समय शुभ और दूसरे समय अशुभ होता है। इसलिए वही कर्म जो इस समय अशुभ है, या किसी बुरे उद्वेग का फल है, हम बुद्धि के नेतृत्व में कर सकते हैं (भाग ४, साध्य १९)। इ० सि०

टिप्पणी—ये विचाराश एक दृष्टान्त से अधिक स्पष्टता से व्याख्यात होंगे—अर्थात् मारने की क्रिया से। जहाँ तक इसकी शारीरिक स्थिति है और जहाँ तक हम इसकी ओर ध्यान देते हैं—अर्थात् कोई मनुष्य अपनी बाहु को उठाता है, अपनी मुट्ठी को कसकर बन्द करता है और उसे बाहु की सारी शक्ति के साथ नीचे लाता

है, यह एक खूबी है जिसका चिन्तन शरीर की बनावट से किया जाता है। इसलिए कोई मनुष्य द्वेष या क्रोध के प्रभाव में मुट्ठी बन्द करने और बाहु को नीचे लाने में प्रेरित होता है, तो जैसा हमने दूसरे भाग में दिखाया था, इसका कारण यह है कि एक ही कर्म कई वस्तुओं के चित्रों से युक्त हो सकता है, और इसलिए हम एक ही कर्म के लिए वस्तुओं के ऐसे चित्रों से जिन्हें हम अस्पष्ट रूप में चिन्तन करते हैं, और ऐसे चित्रों से जिन्हें विमल और स्पष्ट रूप में चिन्तन करते हैं, निर्णीत हो सकते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रत्येक इच्छा, जो ऐसे उद्वेग से उत्पन्न होती है जिसमें बाहरी कारण का प्रभाव होता है, किसी काम की न होगी यदि मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में चलते।

अब हम देखें कि ऐसी इच्छा को जो ऐसे उद्वेग से उत्पन्न होती है जो बाहरी प्रभाव का परिणाम है, हम नेत्रहीन क्यों कहते हैं।

साध्य ६०—वह इच्छा जो ऐसे सुख या दुःख से पैदा होती है जिसका सबन्ध शरीर के एक भाग या कुछ भागों से है, समग्र की स्थिति में मनुष्य के लिए किसी प्रकार लाभकारी नहीं।

उपपत्ति—कल्पना करे कि किसी शरीर का भाग अ किसी बाहरी कारण की शक्ति से इस तरह सहायता पाता है कि यह शेष भागों पर विजयी हो जाता है (भाग ४, साध्य ६)। यह भाग दूसरे भागों को उनकी प्रक्रियाएँ करने की योग्यता देने के उद्देश्य से अपनी शक्तियों को खो देने का यत्न नहीं करेगा, क्योंकि ऐसा करना तो अपनी शक्तियों को खो देने की शक्ति या योग्यता होगी, जो (भाग ३, साध्य ६) अर्थहीन है। वह भाग अपनी स्थिति बनाये रखने का यत्न करेगा, और इसके फलस्वरूप (भाग ३, साध्य ७ और १२) मन भी यह यत्न करेगा, और इसलिए वह इच्छा जो सुख के ऐसे उद्वेग से प्रकट होती है, समग्र शरीर के लिए लाभदायक नहीं होगी। तब यदि दूसरी ओर यह कल्पना करे कि भाग अ इस तरह बाधित होता है कि दूसरे भाग इस पर विजयी होते हैं, तो उसी तरह यह सिद्ध किया जा सकता है कि जो इच्छा दुःख से प्रकट होती है, वह समग्र शरीर के लिए लाभकारी नहीं होगी। इ० सि०

टिप्पणी—चूँकि आम तौर पर सुख का सम्बन्ध (भाग ४, साध्य ४४, टिप्पणी) शरीर के किसी एक भाग से होता है, इसलिए सामान्यतः हम समग्र रूप में स्वास्थ्य का ध्यान न करते हुए, अपने अस्तित्व को बचाये रहने की इच्छा करते हैं। इसके साथ यह भी कह देना चाहिए कि जिन इच्छाओं के वश में हम आम तौर पर

होते हैं, वे (भाग ४, साध्य ९, उपप्रमेय) भविष्य से नहीं, अपितु वर्तमान से सवन्ध रखती हैं।

साध्य ६१—जो इच्छा बुद्धि का परिणाम होती है वह अतीव या असंयमित नहीं हो सकती।

उपपत्ति—इच्छा (उद्वेग परि० १) निरपेक्ष रूप में मनुष्य का सार है, जहाँ तक किसी रूप में, कुछ करने के लिए इसे निर्णीत समझा जाता है। इसलिए जो इच्छा बुद्धि से उत्पन्न होती है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ३) हम में हमारे क्रियाशील होने की स्थिति में पैदा होती है, वह मनुष्य का सार या प्रकृति ही है, जिस अंश में यह ऐसी क्रियाओं के करने में निर्णीत समझी जाती है, जिनका मनुष्य के सार से ही पर्याप्त चिन्तन हो सकता है (भाग ३, परि २)। इसलिए, यदि यह इच्छा अति अधिक हो, तो मानवप्रकृति अपनी स्थिति में अपने आप को लॉभ जायगी, या अपनी योग्यता से अधिक कुछ करेगी, जो एक स्पष्ट विरोध है। और इसलिए यह इच्छा अतीव नहीं हो सकती। **इ० सि०**

साध्य ६२—जिस अंश में मन किसी वस्तु का चिन्तन बुद्धि के आदेशानुसार करता है, उस अंश में चाहे वह प्रत्यय किसी वर्तमान वस्तु का हो या भूत या भविष्य का, वह एक समान प्रभावित होगा।

उपपत्ति—जो कुछ भी मन बुद्धि के नेतृत्व में चिन्तन करता है, यह इसे सर्वथा अनिवार्यता या नित्यता के एक विशेष प्रकार के नीचे चिन्तन करता है (भाग २, साध्य ४४, उपप्रमेय २) और एक ही निश्चितता से प्रभावित होता है (भाग २, साध्य ४३ और इसकी टिप्पणी)। इसके फलस्वरूप, चाहे वह प्रत्यय किसी भविष्य, भूत या वर्तमान वस्तु का हो, मन उसका चिन्तन एक ही अनिवार्यता से करेगा और एक ही निश्चितता से प्रभावित होगा; और चाहे प्रत्यय वर्तमान, भूत या भविष्य वस्तु का हो, इस पर भी वह एक-जैसा सत्य होगा (भाग २, साध्य ४१), अर्थात् (भाग २, परि० ४) वह पर्याप्त प्रत्यय के अभिन्न गुण रखेगा। और इसलिए जिस अंश में मन किसी वस्तु का चिन्तन बुद्धि के आदेशों के अनुसार करता है, यह एक ही रूप में प्रभावित होता है, चाहे वह प्रत्यय किसी भविष्य, भूत या वर्तमान वस्तु का हो। **इ० सि०**

टिप्पणी—यदि हमें वस्तुओं की अवधि का पर्याप्त ज्ञान हो सकता, और हम बुद्धि की सहायता से उनके अस्तित्व का समय निश्चित कर सकते, तो हम भविष्य और वर्तमान वस्तुओं को एक ही दृष्टि से देखते, और मन उस प्रेम को, जिसे

होते हैं, वे (भाग ४, साध्य ९, उपप्रमेय) भविष्य से नहीं, अपितु वर्तमान से सबन्ध रखती हैं।

साध्य ६१—जो इच्छा बुद्धि का परिणाम होती है वह अतीव या असंयमित नहीं हो सकती।

उपपत्ति—इच्छा (उद्वेग परि० १) निरपेक्ष रूप में मनुष्य का सार है, जहाँ तक किसी रूप में, कुछ करने के लिए इसे निर्णीत समझा जाता है। इसलिए जो इच्छा बुद्धि से उत्पन्न होती है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ३) हम में हमारे क्रियाशील होने की स्थिति में पैदा होती है, वह मनुष्य का सार या प्रकृति ही है, जिस अंश में यह ऐसी क्रियाओं के करने में निर्णीत समझी जाती है, जिनका मनुष्य के सार से ही पर्याप्त चिन्तन हो सकता है (भाग ३, परि २)। इसलिए, यदि यह इच्छा अति अधिक हो, तो मानवप्रकृति अपनी स्थिति में अपने आप को लांघ जायगी, या अपनी योग्यता से अधिक कुछ करेगी, जो एक स्पष्ट विरोध है। और इसलिए यह इच्छा अतीव नहीं हो सकती। **इ० सि०**

साध्य ६२—जिस अंश में मन किसी वस्तु का चिन्तन बुद्धि के आदेशानुसार करता है, उस अंश में चाहे वह प्रत्यय किसी वर्तमान वस्तु का हो या भूत या भविष्य का, वह एक समान प्रभावित होगा।

उपपत्ति—जो कुछ भी मन बुद्धि के नेतृत्व में चिन्तन करता है, यह इसे सर्वथा अनिवार्यता या नित्यता के एक विशेष प्रकार के नीचे चिन्तन करता है (भाग २, साध्य ४४, उपप्रमेय २) और एक ही निश्चितता से प्रभावित होता है (भाग २, साध्य ४३ और इसकी टिप्पणी)। इसके फलस्वरूप, चाहे वह प्रत्यय किसी भविष्य, भूत या वर्तमान वस्तु का हो, मन उसका चिन्तन एक ही अनिवार्यता से करेगा और एक ही निश्चितता से प्रभावित होगा; और चाहे प्रत्यय वर्तमान, भूत या भविष्य वस्तु का हो, इस पर भी वह एक-जैसा सत्य होगा (भाग २, साध्य ४१), अर्थात् (भाग २, परि० ४) वह पर्याप्त प्रत्यय के अभिन्न गुण रखेगा। और इसलिए जिस अंश में मन किसी वस्तु का चिन्तन बुद्धि के आदेशों के अनुसार करता है, यह एक ही रूप में प्रभावित होता है, चाहे वह प्रत्यय किसी भविष्य, भूत या वर्तमान वस्तु का हो। **इ० सि०**

टिप्पणी—यदि हमें वस्तुओं की अवधि का पर्याप्त ज्ञान हो सकता, और हम बुद्धि की सहायता से उनके अस्तित्व का समय निश्चित कर सकते, तो हम भविष्य और वर्तमान वस्तुओं को एक ही दृष्टि से देखते, और मन उस प्रेम को, जिसे

उपपत्ति—जो इच्छा बुद्धि से उत्पन्न होती है, वह केवल सुख के ऐसे उद्वेग से उत्पन्न हो सकती है, जिसकी उत्पत्ति में बाहरी प्रभाव सम्मिलित नहीं (भाग ३, साध्य ५९), अर्थात् ऐसे सुख से जो अतीव नहीं हो सकता (भाग ४, साध्य ६१), और दुःख से उत्पन्न नहीं होता। और इसके फलस्वरूप यह इच्छा (भाग ४, साध्य ८) शुभ के ज्ञान से उत्पन्न होती है, अशुभ के ज्ञान से नहीं होती। और इसलिए बुद्धि के नेतृत्व में हम स्पष्ट रूप में शुभ की इच्छा करते हैं, और इस हद तक ही हम अशुभ से बचते हैं। इ० सि०

टिप्पणी २—यह उपप्रमेय एक रोगी और स्वस्थ मनुष्य के दृष्टान्त से समझाया जा सकता है। रोगी मनुष्य मृत्यु के भय से ऐसे पदार्थ खाता है जिन्हें वह नापसन्द करता है; परन्तु स्वस्थ मनुष्य अपनी खुराक से आनन्द लेता है, और जीवन से अधिक लाभ प्राप्त करता है बनिस्बत इसके कि वह मृत्यु से भयभीत होकर स्पष्ट रूप में इससे बचने की इच्छा करता है। इस तरह एक न्यायाधीश जो द्वेष, क्रोध आदि में लिप्त नहीं, अपितु सामाजिक रक्षा के प्रेम में ही विलीन है, और अपराधी को मृत्यु-दण्ड देता है, केवल बुद्धि के नेतृत्व में चलता है।

साध्य ६४—अशुभ का ज्ञान अपर्याप्त ज्ञान है।

उपपत्ति—अशुभ का ज्ञान (भाग ४, साध्य ८) दुःख ही है जहाँ तक कि हमें इसका बोध है। परन्तु दुःख पूर्णता की अधम अवस्था की ओर गति है (उद्वेग परि० ३), जो इसी कारण मनुष्य के सार के ही द्वारा समझा नहीं जा सकता (भाग ३, साध्य ६ और ७)। और इसके फलस्वरूप (भाग ३, परि० २) यह एक बाहरी प्रभाव का परिणाम उद्वेग है जो (भाग ३, साध्य ३) अपर्याप्त प्रत्ययो पर आधारित है, और इसलिए (भाग २, साध्य २९) अशुभ का ज्ञान अपर्याप्त है। इ० सि०

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि यदि मनुष्य के मन में पर्याप्त प्रत्यय ही होते, तो यह अशुभ का प्रत्यय न बनाता।

साध्य ६५—बुद्धि के नेतृत्व में हम दो शुभ वस्तुओं में अधिक शुभ को और दो अशुभ वस्तुओं में कम अशुभ को अगीकार करते हैं।

उपपत्ति—कोई शुभ वस्तु जो हमें उससे बड़े शुभ के उपयोग से रोकती है, वास्तव में अशुभ है, क्योंकि (जैसा हमने इस भाग के प्राक्कथन में दिखाया था) हम वस्तुओं की एक दूसरी से तुलना करने के बाद ही उन्हें शुभ और अशुभ कहते हैं, और (उसी हेतु से) छोटा अशुभ वास्तव में शुभ ही है। इसके फलस्वरूप

(पूर्व साध्य, उपप्रमेय) बुद्धि के नेतृत्व में हम शुभ वस्तुओं में अधिक शुभ की और दो अशुभ वस्तुओं में कम अशुभ की इच्छा करते हैं या उन्हें अगीकार करते हैं।

इ० सि०

उपप्रमेय—बुद्धि के नेतृत्व में हम थोड़े अशुभ को अगीकार कर सकते हैं मानो यह बड़ा शुभ होता, और छोटे शुभ की उपेक्षा कर सकते हैं ताकि बड़े अशुभ से बच सकें। क्योंकि जिस अशुभ को यहाँ छोटा अशुभ कहा जाता है, वह वास्तव में शुभ है, और, दूसरी ओर शुभ अशुभ है। इसके फलस्वरूप (पूर्व साध्य, उप-प्रमेय) हम पहले की इच्छा करते और दूसरे से बचना चाहते हैं। **इ० सि०**

साध्य ६६—बुद्धि के नेतृत्व में हम थोड़े वर्तमान शुभ से बड़े भविष्य शुभ की अधिक इच्छा करते हैं, और अधिक भविष्य अशुभ से छोटे वर्तमान अशुभ की अधिक इच्छा करते हैं।

उपपत्ति—यदि मन को भविष्य वस्तु का पर्याप्त ज्ञान हो सकता, तो यह भविष्य वस्तु के प्रति उसी उद्वेग से प्रभावित होता जिससे वर्तमान वस्तु के प्रति प्रभावित होता है (भाग ४, साध्य ६२)। इसके फलस्वरूप जिस अशुभ में हम बुद्धि को ध्यान में रखते हैं, जैसा इस साध्य में फर्ज किया जाता है, वस्तु वही रहती है चाहे अधिक शुभ या अशुभ भविष्य फर्ज किया जाय या वर्तमान। और इस लिए (भाग ४, साध्य ६५) हम भविष्य के बड़े शुभ को वर्तमान के छोटे अशुभ से अधिक चाहते हैं। **इ० सि०**

उपप्रमेय—बुद्धि के नेतृत्व में हम छोटे वर्तमान अशुभ की इच्छा करते हैं जो बड़े भविष्य शुभ का कारण है, और हम उस छोटे शुभ की उपेक्षा करते हैं जो अधिक भविष्य अशुभ का कारण है। इस उपप्रमेय के प्रमाण का पूर्व साध्य के प्रमाण से वही संबन्ध है जो साध्य ६५ के उपप्रमेय का स्वयं साध्य ६५ से था।

टिप्पणी—यदि हम इन बयानों की तुलना उससे करें जो हमने इस भाग की १८वें साध्य तक उद्वेगों की शक्ति की बाबत दिखाया था, तो हम आसानी से देखेंगे कि सम्मति या उद्वेग के नेतृत्व में चलनेवाले मनुष्य और बुद्धि के नेतृत्व में चलने वाले मनुष्य में क्या भेद है। पहला मनुष्य, चाहे वह चाहे या न चाहे, ऐसे कार्य करता है जिनकी बाबत वह सर्वथा अज्ञानी होता है, दूसरा किसी के अधीन नहीं होता और वही करता है जिसे वह अपने जीवन में मौलिक महत्त्व का समझता है, और इस कारण जिसकी इच्छा वह अति अधिक करता है; और इसलिए मैं

पहले को दास और दूसरे को स्वतन्त्र कहता हूँ, जिसकी आदतो और जीवन के प्रकार की बाबत हम कुछ शब्द कह सकते हैं।

साध्य ६७—एक स्वतन्त्र मनुष्य सबसे कम मृत्यु की बाबत चिन्तन करता है, और उसकी बुद्धिमत्ता मृत्यु का नहीं अपितु जीवन का मनन है।

उपपत्ति—एक स्वतन्त्र मनुष्य, अर्थात् वह जो केवल बुद्धि के आदेशानुसार जीता है, मृत्यु के भय के नेतृत्व में नहीं होता (भाग ४, साध्य ६३), परन्तु सीधा शुभ की इच्छा करता है (वही साध्य, उपप्रमेय), अर्थात् (भाग ४, साध्य २४) जो कुछ उसके लिए लाभदायक है उसकी तलाश की नीव पर क्रिया करता है, जीता है, और अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने की इच्छा करता है। और इसलिए वह सबसे कम मृत्यु का चिन्तन करता है, परन्तु उसकी बुद्धिमत्ता जीवन का मनन है। **इ० सि०**

साध्य ६८—यदि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होते, तो जबतक वे स्वतन्त्र रहते, उन्हें शुभ और अशुभ का कोई प्रत्यय न होता।

उपपत्ति—मैंने कहा था कि वह मनुष्य स्वतन्त्र है जो केवल बुद्धि के नेतृत्व में चलता है। इसलिए जो मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है और स्वतन्त्र रहता है, उसके प्रत्यय पर्याप्त प्रत्यय ही होते हैं, और इसलिए उसे अशुभ का कोई प्रत्यय नहीं होता (भाग ४, साध्य ६४, उपप्रमेय), और इसके फलस्वरूप (क्योंकि शुभ और अशुभ सापेक्ष हैं) शुभ का भी नहीं होता। **इ० सि०**

टिप्पणी—इस भाग के चौथे साध्य से स्पष्ट है कि इस साध्य की कल्पना अयथार्थ है और इसका चिन्तन नहीं हो सकता, सिवाय इसके कि हम केवल मानव प्रकृति का ध्यान करें, बल्कि ईश्वर की प्रकृति का; इस अंश में नहीं कि वह अनन्त है, अपितु केवल इस अंश में कि वह मनुष्य के अस्तित्व का कारण है। और ऐसा प्रतीत होता है कि मूसा ने प्रथम मनुष्य का जो इतिहास दिया है, उसमें उसका अभिप्राय इस और अन्य विचारांशों से था। क्योंकि उस वर्णन में ईश्वर की उसी शक्ति का ध्यान है जिससे उसने मनुष्य को उत्पन्न किया, अर्थात् उस शक्ति का, जिससे उसने मनुष्य के हित का ख्याल किया, और इस तरह कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य को शुभ और अशुभ के वृक्ष का फल खाने से मना किया, और कि ज्यों ही उसने यह फल खाया, तुरन्त ही वह जीने की इच्छा करने के स्थान में मृत्यु से डरने लगा; फिर जब पुरुष को स्त्री मिली जो उसकी अपनी प्रकृति के पूर्णतया अनुकूल थी, तो उसे ज्ञान हुआ कि सर्ग में उसके लिए इससे अधिक कोई वस्तु लाभदायक नहीं हो सकती थी। परन्तु पीछे जब उसे ख्याल आया कि पशु-सृष्टि

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

और यदि वह देखे कि जिसके प्रति उसने उपकार किया है वह उसका मूल्य कम लगाता है, तो उसे दुःख होगा (भाग २, साध्य ४२)। परन्तु स्वतन्त्र मनुष्य दूसरो को अपने साथ मित्रता में सयुक्त करना चाहता है (भाग ४, साध्य ३७), और यह नहीं चाहता कि जो उद्वेग मनुष्यो का उसके प्रति है, उनका ऋण उसी प्रकार के उपकार से चुकाये। वह चाहता है कि अपना और दूसरो का बुद्धि के स्वतन्त्र निर्णय के अनुसार नेतृत्व करे, और केवल ऐसे कर्म करे जिन्हें वह मौलिक महत्त्व के कर्म जानता है। इस लिए वह यथासंभव उनके उपकारो को अस्वीकार करता है ताकि वह अज्ञानी मनुष्यो के द्वेष का विषय न बन जाय, और केवल बुद्धि के शासन में रहने की जगह उनकी इच्छा या अभिलाषा के वश में न हो जाय।

इ० सि०

टिप्पणी—मैं कहता हूँ 'यथासंभव', क्योंकि मनुष्य यद्यपि अज्ञानी है, तो भी मनुष्य तो है, और आवश्यकता के समय मानव सहायता दे सकते हैं, जिससे बढ़कर कोई चीज नहीं। और कई बार ऐसा होता है कि उनसे सहायता लेना आवश्यक होता है, और इसके फलस्वरूप उन्हें उत्तर में उसी प्रकार की सहायता देना। इसके साथ यह भी कह देना चाहिए कि उपकारो को अस्वीकार करने में भी सावधानी का प्रयोग करना चाहिए, ताकि ऐसा प्रतीत न हो कि हम उनसे घृणा करते हैं, या इसलिए इन्कार करते हैं कि कहीं हमें उसी प्रकार का प्रत्युपकार न करना पड़े, और इस तरह हम उनके द्वेष से बचे रहने के यत्न में उन्हें रुष्ट कर दें। इसके फलस्वरूप उपकारो को अस्वीकार करने में हमें उपयोगिता और सम्मान को ध्यान में रखना चाहिए।

साध्य ७१—स्वतन्त्र मनुष्य ही यथार्थ में एक दूसरे के प्रति कृतज्ञ हो सकते हैं।

उपपत्ति—यथार्थ में स्वतन्त्र मनुष्य ही एक दूसरे के लिए लाभदायक होते हैं, और एक दूसरे से मित्रता के निकटतम बन्धन से युक्त होते हैं (साध्य ३५ और उसका उपप्रेम १), और वे ही प्रेम की समान उत्तेजना से एक दूसरे को लाभ पहुँचाने का यत्न करते हैं (भाग ४, साध्य ३७)। और इसलिए (उद्वेग परि० ३४) स्वतन्त्र मनुष्य ही वास्तव में एक दूसरे के प्रति कृतज्ञ होते हैं। **इ० सि०**

टिप्पणी—जो कृतज्ञता अन्धी इच्छा से प्रभावित होनेवाले लोग एक दूसरे के प्रति रखते हैं, वह आम तौर पर कृतज्ञता की अपेक्षा सौदेबाजी या रिश्वत होती है। इसके अतिरिक्त कृतज्ञता कोई उद्वेग नहीं। तो भी कृतघ्नता नीच है

क्योंकि यह जाहिर करती है कि व्यक्ति द्वेष, क्रोध, अभिमान या लोभ की अति अधिक मात्रा से प्रभावित है। क्योंकि जो मनुष्य मूर्खता के कारण उपकार का बदला नहीं देता, वह कृतघ्न नहीं, और इससे बहुत कम कृतघ्न वह है जो किसी बाजारू स्त्री के तुहफों के बदले उसकी काम चेष्टा को पूरा करने के लिए तैयार नहीं होता, न वह कृतघ्न है जो किसी चोर की चोरी को छिपाये रखने से इन्कार करता है, न कोई अन्य ऐसा मनुष्य। परन्तु, इसके विपरीत, वह तो जाहिर करता है कि वह स्थिर मन का मनुष्य है और किसी प्रकार के उपहारों से ऐसा कर्म करने पर प्रेरित न होगा जो स्वयं उसके लिए या राष्ट्र के लिए हानिकारक हो।

साध्य ७२—स्वतन्त्र मनुष्य कभी छल से व्यवहार नहीं करता, अपितु सदा सद्भाव से करता है।

उपपत्ति—यदि कोई स्वतन्त्र मनुष्य, स्वतन्त्र होने की स्थिति में, छल से कुछ करे, तो वह बुद्धि के आदेशानुसार कर्म करेगा (क्योंकि इसी अंश में हम उसे स्वतन्त्र कह सकते हैं); और इसलिए छल से कर्म करना एक वृत्त होगा (भाग ४, साध्य २४) और इसके परिणामस्वरूप (वही साध्य) प्रत्येक मनुष्य के लिए छल से कर्म करना अति लाभदायक होगा, अर्थात् (जैसा स्वतः स्पष्ट है), मनुष्यों के लिए यह अति लाभदायक होगा कि वचन में तो वे एक दूसरे के अनुकूल हों, परन्तु कर्म में एक दूसरे के प्रतिकूल हों, जो (भाग ४, साध्य ३१, उपप्रमेय) अर्थहीन है। इसलिए एक स्वतन्त्र मनुष्य, इत्यादि। **इ० सि०**

टिप्पणी—यदि पूछा जाय, यदि कोई मनुष्य मृत्यु के वर्तमान खतरे से छल से अपने आप को बचा सकता हो, तो क्या बुद्धि उसे आत्म-रक्षा के लिए छल करने की प्रेरणा न करेगी? तो इसका उत्तर उसी प्रकार दिया जा सकता है—यदि बुद्धि उसे ऐसी प्रेरणा करे, तो यह सबको ऐसी प्रेरणा करेगी, और इसलिए बुद्धि मनुष्यों को प्रेरणा करेगी कि वे एक दूसरे को धोखा देने के लिए अपनी शक्तियों को संयुक्त करें और इसे सामान्य नियम स्वीकार करें, अर्थात् कोई साजे राजनियम न रखे, जो अर्थहीन है।

साध्य ७३—जो मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में रहता है, वह ऐसे राष्ट्र में जहाँ वह सामान्य नियम के अनुसार रहता है, अधिक स्वतन्त्र है, बनिस्बत एकान्त-निवास के, जहाँ वह किसी नियम के अधीन नहीं।

उपपत्ति—जो मनुष्य बुद्धि के पथप्रदर्शन में है, वह भय से शासित नहीं होता (भाग ४, साध्य ६३), परन्तु जिस अंश में वह बुद्धि के आदेशों के

नी०—१५

अनुसार अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने का यत्न करता है, अर्थात् (भाग ४, साध्य ६६, टिप्पणी) जिस अंश में वह स्वतन्त्रता से जीने का यत्न करता है, उस अंश में वह सामान्य जीवन और सामान्य लाभ को महत्त्व देने की इच्छा करता है (भाग ४, साध्य ३७), और इसके परिणामस्वरूप (जैसा हमने भाग ४, साध्य ३७, टिप्पणी २ में दिखाया था) वह राष्ट्र के सामान्य आदेशों के अनुसार जीना चाहता है। इसलिए जो मनुष्य बुद्धि के पथप्रदर्शन में है, वह अधिक स्वतन्त्रता से जीने के लिए, राष्ट्र के सामान्य आदेशों का आदर करने की इच्छा करता है।
ड० सि०

टिप्पणी—यह और ऐसी अन्य वस्तुएँ जो हमने मनुष्य की यथार्थ स्वतन्त्रता की बाबत दिखायी हैं, मनुष्य के धैर्य, अर्थात् (भाग ३, साध्य ५९, टिप्पणी) साहस और सद्भाव से सम्बन्ध रखती हैं। मैं यहाँ धैर्य के सभी गुणों का अलग वर्णन करना उपयोगी नहीं समझता, और इससे भी कम यह दिखाना चाहता हूँ कि बलवान् मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से क्रोध नहीं करता, किसी से ईर्ष्या नहीं करता, किसी से घृणा नहीं करता और किसी तरह अभिमानी नहीं होता। क्योंकि ये बातें और वह सब कुछ जो सत्य और धर्म से सबद्ध हैं, दृढता से भाग ४, साध्य ३७ और ४६ में दिखाया है, अर्थात् कि द्वेष को प्रेम से पराजित करना चाहिए और कि हरएक जो शुभ, जो कुछ भी यह हो, अपने लिए चाहता है, उसे दूसरों के लिए भी चाहता है। इसके साथ यह भी कह देना चाहिए जो हमने भाग ४, साध्य ५० की टिप्पणी में और अन्य स्थानों में कहा है, अर्थात् यह कि बलवान् मनुष्य सबसे बढ़कर यह समझता है कि जो कुछ होता है, वह दैवी प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम होता है, और इसलिए जो कुछ उसे क्लेशकारक या अशुभ दीखता है, या जो कुछ उसे अधर्मी, भयकर, अन्याययुक्त और घृणित प्रतीत होता है, वह इसलिए है कि वह इन वस्तुओं का चिन्तन अशान्त, अपूर्ण और अस्पष्ट रूप में करता है। और इस कारण वह यत्न करता है कि वस्तुओं का चिन्तन उनके वास्तविक रूप में करे और सत्य ज्ञान के मार्ग में जो बाधाएँ हैं, उन्हें दूर करे, जैसे द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, हंसी, मखौल, अभिमान, और अन्य ऐसे उद्वेग जिनका हमने पूर्व साध्यों में जिक्र किया है, और इसलिए वह यथासंभव यत्न करता है कि जैसा हमने कहा, अच्छी तरह जिये और प्रसन्न रहे।

मानववृत्त कहाँ तक इस उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है, और उसकी योग्यता क्या है, अगले भाग में दिखाऊँगा।

परिशिष्ट

इस भाग में जो कुछ जीवन के उचित व्यापार की बाबत कहा है, उसे इस तरह क्रमबद्ध नहीं किया कि एक दृष्टि में वह दीख सके, परन्तु उसे भागो में सिद्ध किया गया है, क्योंकि इस तरह मैं आसानी से एक साध्य को दूसरे से सिद्ध कर सकता था। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि यहाँ भागो को इकट्ठा करूँ और उन्हें प्रमुख शीर्षको के नीचे क्रमबद्ध कर दूँ।

१ हमारे सारे यत्न या इच्छाएँ हमारी प्रकृति की अनिवार्यता से इस प्रकार उद्भूत होती है कि वे या तो इससे ही, उनके निकट कारण के फलस्वरूप, समझी जा सकती हैं, या इस अंश में कि हम सर्ग का एक भाग हैं जिसका चिन्तन स्वयं अपने द्वारा अन्य व्यक्तियों के बिना नहीं हो सकता।

२. जो इच्छाएँ हमारी प्रकृति से इस तरह उद्भूत होती हैं कि वे इस प्रकृति के द्वारा ही समझी जा सकती हैं, वे ऐसी इच्छाएँ हैं जो मन की ओर सकेत करती हैं, जिस अंश में इसे पर्याप्त प्रत्ययों का पुंज ख्याल किया जाता है, बाकी इच्छाएँ मन की ओर केवल इसी अंश में सकेत करती हैं कि वह वस्तुओं का अपर्याप्त रूप में चिन्तन करता है, और उनकी शक्ति और वृद्धि मानवशक्ति से निर्णीत नहीं होती, परन्तु उस शक्ति से होती है जो हमारे बाहर है। इसलिए पहले प्रकार की इच्छाएँ क्रियाएँ कहलाती हैं, और दूसरे प्रकार की बहिर्जात उद्वेग। क्योंकि पहले प्रकार की इच्छाएँ सदा हमारी शक्ति को व्यक्त करती हैं, और इसके विपरीत, दूसरे प्रकार की हमारे शक्ति के अभाव और भ्रजित ज्ञान को प्रकट करती हैं।

३ हमारी क्रियाएँ, अर्थात् वे इच्छाएँ जो मनुष्य की शक्ति या बुद्धि से लक्षित होती हैं, सदा शुभ होती हैं, बाकी इच्छाएँ शुभ और अशुभ दोनों हो सकती हैं।

४. इसलिए जीवन में यह अत्यन्त उपयोगी है कि जितना हो सके हम बुद्धि को पूर्ण करें, और जीवन का सुख और इसकी कृतार्थता इसी में है, क्योंकि कृतार्थता उस तुष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं जो ईश्वर के अन्तर्ज्योति द्वारा प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न होती है। परन्तु बुद्धि का पूर्ण करना ईश्वर और उसके गुणों और कर्मों को, जो उसकी प्रकृति की अनिवार्यता से प्रकट होते हैं, समझने के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसलिए बुद्धि के नेतृत्व में चलनेवाले मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य या सत्यसे प्रबल इच्छा, जिससे वह अन्य इच्छाओं को सयम में रखने का यत्न करता है, वह यत्न है जिसकी सहायता से सभी ऐसी वस्तुओं का पर्याप्त प्रत्यय उसे प्राप्त होता है जो उसकी बुद्धि के क्षेत्र में आती हैं।

५. इसलिए कोई विवेकी जीवन बुद्धि के बिना नहीं होता और पदार्थ इसी अश में अच्छे है कि वे मनुष्य को विवेकी जीवन भोगने में सहायता देते हैं, जो जीवन बुद्धि से लक्षित होता है। परन्तु जो वस्तुएँ मनुष्य को अपनी बुद्धि को पूर्ण करने और विवेकी जीवन के उपभोग से रोकती हैं, उन वस्तुओं को ही, मैं कहता हूँ, हम अशुभ का नाम देते हैं।

६. परन्तु चूँकि सभी वस्तुएँ जिनका मनुष्य निमित्त कारण है, अनिवार्य रूप में शुभ हैं, इसलिए जब मनुष्य पर किसी अशुभ का आघात होता है, तो यह बाहरी कारणों से ही होता है, अर्थात् इस अश में कि वह समस्त सर्ग का अश है, जिसके नियमों के सामने मानव-प्रकृति को झुकना पड़ता है, और जिसके अनुकूल होने के लिए यह लगभग अनन्त रूपों में बाधित है।

७. यह तो हो नहीं सकता कि मनुष्य सर्ग का अश न हो और इसकी सामान्य व्यवस्था के अनुसार आचरण न करे, परन्तु यदि वह ऐसे व्यक्तियों के दरमियान आ पड़ता है जो प्रकृति में उससे मिलते हैं, तो केवल इस तथ्य के कारण ही क्रिया-शक्ति की सहायता और पुष्टि होती है। और यदि, दूसरी ओर वह उन व्यक्तियों के दरमियान आ पड़े जो प्रकृति में किसी तरह उसके समान नहीं, तो वह अपनी प्रकृति में बड़ा परिवर्तन हुए बिना अपने आपको उनके अनुकूल बनाने में असमर्थ ही होगा।

८. वस्तुओं की प्रकृति में ऐसा जो अश स्वीकृत होता है जो हमारे निर्णय के अनुसार अशुभ है, या हमें जीवित रहने और विवेकी जीवन का उपभोग करने से रोक सकता है, हम उसे, अति विश्वस्त और निश्चित रूप से जो संभव है, अपने आपसे अलग कर सकते हैं, और दूसरी ओर, जो अश ऐसा स्वीकृत होता है जिसे हम शुभ या आत्मरक्षा और विवेकी जीवन के उपभोग के लिए उपयोगी समझते हैं, उसे हम प्राप्त कर सकते हैं और जिस तरह चाहे उसका प्रयोग कर सकते हैं। और प्रकृति के शासक अधिकार से हर एक निरपेक्ष रूप में वह कर सकता है जो उसके विचार में उसके लिए लाभकारी होगा।

९. किसी वस्तु की प्रकृति से सबसे अधिक अनुकूलता उस वर्ग के अन्य व्यक्तियों को होती है और इसलिए (संख्या ७) किसी मनुष्य की आत्मरक्षा और विवेकी जीवन के उपभोग के लिए कोई वस्तु ऐसे मनुष्य से जो बुद्धि के नेतृत्व में चलता है, अधिक उपयोगी नहीं हो सकती। फिर, चूँकि हमें वस्तुओं में किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान नहीं जो बुद्धि के नेतृत्व में चलनेवाले मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ

हो, इसलिए प्रत्येक की समझ और चतुराई का इससे उत्तम प्रदर्शन नहीं हो सकता कि वह मनुष्यों को ऐसी शिक्षा दे कि वे अपनी बुद्धि के आदेशानुसार जीवन व्यतीत करें।

१०. जिस अश में मनुष्य एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या या द्वेष के किसी और उद्वेग से प्रभावित होते हैं, वे एक दूसरे के विपरीत होते हैं, और इसके परिणामस्वरूप सर्ग के अन्य पदार्थों की अपेक्षा जितनी अधिक उनकी शक्ति होती है, उतना ही अधिक उनसे डरना चाहिए।

११. मन शस्त्रों से पराजित नहीं होते, अपितु प्रेम और उदारता से होते हैं।

१२ मनुष्यों के लिए सबसे बढ़कर यह लाभदायक है कि वे अपने जीवन के अभ्यासों को संयुक्त करें, और अपने आपको ऐसे बन्धनों से एक साथ बांधें जिनसे वे अति सुगमता से सभी को एक व्यक्ति बना सकें, और विशेषकर वे काम करें जो मित्रता को पुष्ट करने में सहायक होते हैं।

१३ परन्तु इसके लिए चतुराई और सावधानी की आवश्यकता है। क्योंकि मनुष्य भिन्न प्रकृतियों के होते हैं (क्योंकि बुद्धि के नियमों के अनुसार चलनेवाले तो बिरले ही होते हैं), और इसके अतिरिक्त वे प्रायः ईर्ष्यालु होते हैं और उनमें करुणा की अपेक्षा बदला लेने की प्रवृत्ति अधिक बलवान् होती है। इसलिए इस बात के लिए मन की पर्याप्त शक्ति की आवश्यकता है कि हर एक को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार जाँचा जाय और मनुष्य दूसरों के उद्वेगों का अनुसरण न करते हुए अपने आप में पर्याप्त हो। परन्तु जो लोग मनुष्यों से झगड़ते रहते हैं और सदाचार की शिक्षा देने के स्थान में दुराचार के विरुद्ध कहना पसन्द करते हैं, जो दूसरों के मनो को ठोस नहीं बनाते, उलटे ढीला करते हैं—ऐसे लोग, मैं कहता हूँ, स्वयं अपने लिए और दूसरों के लिए कटक हैं। इसके परिणामस्वरूप बहुतेरे लोग मन के अति उतावलेपन और धर्म के लिए झूठी उत्सुकता के कारण मनुष्यों को छोड़कर पशुओं में जा रहने लगे हैं, जिस तरह बालक या युवक जो माता-पिता की झाड़ों को धैर्य से सहन नहीं कर सकते, घर से भाग जाते हैं और फौज में भरती होकर युद्ध की असुविधाओं और पीडक शासक के आदेश को घर के आराम और माता-पिता की चेतावनी की अपेक्षा पसन्द करते हैं, और हर प्रकार का बोझ उठाने को तैयार होते हैं, यदि वे अपने माता-पिता को पीड़ित कर सकें।

१४. इसलिए यद्यपि आम तौर पर मनुष्य अपने समस्त व्यवहार में इच्छा

या तीव्र लालसा से शासित होते हैं, तो भी सामाजिक जीवन से हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होते हैं। इसके परिणामस्वरूप यह उचित ही है कि जो हानियाँ ऐसे जीवन का फल हों, उन्हें साम्य से सहन किया जाय, और जो लोग शान्ति और मित्रता बनाये रखने में सेवा करते हैं, उनके प्रति उत्साह प्रकट किया जाय।

१५ वे चीजे जो एकता और शान्ति को जन्म देती हैं, ऐसी चीजे हैं जिनका सम्बन्ध न्याय, उपयोगिता और मान्य व्यवहार से है। क्योंकि मनुष्य किसी वस्तु के अन्याययुक्त या अनुपयोगी होने पर ही अप्रसन्न नहीं होते, परन्तु इसके अख्यात होने पर भी होते हैं, और जब कोई उन रिवाजों से घृणा करता है जो उनमें स्वीकृत हैं। परन्तु प्रेम को आकृष्ट करने के लिए वे वस्तुएँ विशेष कर आवश्यक हैं जिनका सम्बन्ध धर्म और भक्ति से है। इनके सम्बन्ध में भाग ४, साध्य ३७, टिप्पणी १ और २, साध्य ४६, टिप्पणी, और साध्य ७३, टिप्पणी देखो।

१६ एकता या शान्ति अनेक बार भय से उत्पन्न होती है, परन्तु तब यह विश्वास के योग्य नहीं होती। इसके अतिरिक्त भय मन की निर्बलता से पैदा होता है, और इसलिए बुद्धि के प्रयोग से सम्बद्ध नहीं, न ही करुणा है, यद्यपि इसमें एक प्रकार की भक्ति दीखती है।

१७. इसके अतिरिक्त मनुष्य उदारता से भी जीते जाते हैं, विशेषकर वे जिनके पास जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थों को खरीदने के साधन नहीं। इस पर भी प्रत्येक दरिद्र मनुष्य की सहायता करना हर एक नागरिक की सम्पत्ति और शक्ति की पहुँच से परे है, क्योंकि उसकी सम्पत्ति ऐसे काम के लिए बहुत ही थोड़ी है। इसके सिवाय, प्रत्येक मनुष्य को हर किसी के पास पहुँचने और उसकी मित्रता प्राप्त करने के साधन और सुविधाएँ हासिल नहीं। इस कारण से दरिद्रों का ध्यान रखना सारे समाज का काम है और केवल सामान्य हित से सबद्ध है।

१८. दूसरों से लाभ स्वीकार करने और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने में हमारा कर्तव्य सर्वथा भिन्न है, इसके लिए भाग ४, साध्य ७० की टिप्पणी और साध्य ७१ की टिप्पणी देखो।

१९. इसके अतिरिक्त, वेश्या-प्रेम, अर्थात् प्रजनन की लालसा जो सौन्दर्य से उत्पन्न होती है, और हर प्रकार का प्रेम जो मन की स्वतन्त्रता के बिना किसी अन्य कारण को स्वीकार करता है, आसानी से द्वेष में बदल जाता है, सिवाय इसके, जो और भी बुरा है कि यह एक प्रकार का पागलपन हो, और तब साम्य की अपेक्षा कलह अधिक पुष्ट होता है (भाग ३, साध्य ३१ का उपप्रमेय देखो)।

२० विवाह के सम्बन्ध में यह निश्चित है कि यह बुद्धि के अनुकूल है, यदि दो व्यक्तियों के युक्त होने की इच्छा केवल सौन्दर्य से उत्पन्न न हो, अपितु सन्तान-उत्पत्ति और सन्तान को समझ-बूझ से शिक्षित करने का प्रेम भी सम्मिलित हो, और इसके साथ यदि पति या पत्नी का प्रेम केवल सौन्दर्य का नहीं, अपितु मन की स्वतन्त्रता का भी परिणाम हो।

२१ खुशामद भी शान्ति या साम्य का कारण होती है, परन्तु यह दासता के घृणित अपराध या विश्वासघात के द्वारा ही होती है, खुशामद से अभिमानी पुरुष ही सब से अधिक धोखा खाते हैं, जो प्रथम होते नहीं, परन्तु होना चाहते हैं।

२२ आत्म-तिरस्कार में झूठी भक्ति और झूठे धर्म का एक रूप विद्यमान है, और यद्यपि आत्म-तिरस्कार अभिमान के प्रतिकूल है, तो भी आत्म-तिरस्कार करनेवाला मनुष्य अभिमानी मनुष्य के निकटतम होता है (भाग ४, साध्य ५७, टिप्पणी देखो)।

२३ लज्जा भी साम्य या शान्ति की सहायक होती है, परन्तु केवल उन चीजों में जो गुप्त नहीं रखी जा सकती। फिर, चूँकि लज्जा एक प्रकार का दुःख है, बुद्धि के प्रयोग से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

२४ मनुष्यों के प्रति बाकी उद्वेग स्पष्ट रूप में न्याय, उचितता, मानवीय जीवन, भक्ति और धर्म के प्रतिकूल है, और यद्यपि क्रोध उचितता का एक भेद प्रतीत होता है, तो भी बहुतेरे स्थानों में जीवन नियम-विरुद्ध हो जायगा जहाँ प्रत्येक दूसरे के कर्मों पर निर्णय देने और अपने पर किसी और के अधिकार का समर्थन करने के योग्य होगा।

२५ नम्रता या विनय, अर्थात् दूसरों को प्रसन्न करने की वह इच्छा जो बुद्धि से निर्णीत होती है, भक्ति से (जैसा हमने भाग ४, साध्य ३७, टिप्पणी १ में कहा) सम्बन्ध रखती है। परन्तु यदि यह उद्वेग से उत्पन्न हो तो यह लालसा है, या ऐसी इच्छा जिससे मनुष्य भक्ति के झूठे भेस में, झगड़ों और राजद्रोह को उत्तेजित करते हैं। क्योंकि जो मनुष्य दूसरों की वचन या कर्म से सहायता करना चाहता है, ताकि वे अति अधिक शुभ का उपभोग कर सकें, वह, मैं कहता हूँ, सबसे बढकर यह यत्न करेगा कि उनके प्रेम को अपने प्रति जीते, न कि उन्हें चकित कर दे ताकि वह व्यवस्था उसके नाम से प्रसिद्ध हो, न ही वह ईर्ष्या का कोई कारण देगा। इसके अतिरिक्त अपनी आम बातचीत में वह ध्यान रखेगा कि दुराचार की ओर संकेत न करे, और मानव-शक्ति के अभाव पर बहुत कम बोले, परन्तु मानव-

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में मुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले सक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

२९ अब यह दोष केवल उन लोगो मे पाया जाता है जो धन प्राप्त करना चाहते है, इसलिए नही कि उन्हे इसकी आवश्यकता है या इसके बिना उनका काम नही चलता, परन्तु इसलिए कि उन्होंने समृद्धि के हुनर सीख लिये है जिनसे वे प्रतिष्ठा के पद तक पहुँच सकते है। वे रिवाज के अनुसार खाते पीते है, परन्तु सकोच से, क्योंकि वे ख्याल करते है कि जो कुछ वे शरीर के पोषण पर खर्च करते है, वह खोते ही है, परन्तु जो लोग धन के ठीक प्रयोग को समझते है और अपनी धन की लालसा को अपनी आवश्यकताओ तक ही सीमित रखते है, वे बहुत थोडे मे सन्तुष्ट होते है।

३०. इसलिए चूँकि वे वस्तुएँ अच्छी है जो शरीर के भागो के अपना नियत काम करने मे सहायक होती है, और चूँकि सुख यही है कि मनुष्य की शक्ति, जहाँ तक कि यह मन या शरीर है, सहायता पाती या बढ़ती है—वे वस्तुएँ जो सुख देती है, शुभ है। परन्तु चूँकि वस्तुएँ अपनी क्रिया हमे सुख देने के उद्देश्य से नही करती, और चूँकि उनकी क्रिया-शक्ति हमारी आवश्यकता के अनुसार बदलती नही, और फिर, चूँकि सुख आम तौर पर शरीर के किसी एक भाग से अन्य भागो की अपेक्षा अधिक सबद्ध होता है, इसलिए हमारे उद्वेगो मे अधिक सख्या (सिवाय इसके कि हम बुद्धि के लिए आदर का भाव रखे और उद्वेगो के सम्बन्ध मे सचेत रहे) और हमारी इच्छाएँ भी अतीव होती है। इसके साथ यह भी कहना चाहिए कि हम उद्वेग की दृष्टि से उसे प्रथम समझते है जो वर्तमान मे सुख देता है, और किसी भविष्य पदार्थ की जाँच मन के उसी उद्वेग से नही कर सकते (भाग ४, साध्य ४४ की टिप्पणी और साध्य ६० की टिप्पणी देखो)।

३१ परन्तु, इसके विपरीत, अन्ध मिथ्या विश्वास उसे शुभ कहता प्रतीत होता है जो द ख से पैदा होता है, और उसे अशुभ जो सुख का परिणाम है। परन्तु जैसा हम पहले कह चुके है (भाग ४ साध्य ४५, टिप्पणी देखो), ईर्ष्यालु मनुष्य के बिना कोई मनुष्य मेरी निर्बलता और असुविधा मे सुख अनुभव नही करता। क्योंकि जितना अधिक सुख का उद्वेग हमे प्रभावित करता है, उतनी ही अधिक पूर्णता को हम प्राप्त करते है; और इसके फलस्वरूप उतने ही अधिक हम देवी प्रकृति मे साझी होते है, न ही कभी वह सुख जो हमारे हित के उचित विचार से सयमित हो, अशुभ हो सकता है। परन्तु, दूसरी ओर, जो मनुष्य भय के प्रभाव मे अशुभ से बचने के लिए शुभ करता है, वह बुद्धि के नेतृत्व मे नही चलता (भाग ४, साध्य ६३ देखो)।

३२. परन्तु मनुष्य की शक्ति बहुत सीमित है और बाहरी कारणों की शक्ति उससे अत्यन्त अधिक है, और इसलिये बाहरी पदार्थों को अपने प्रयोग के लिए अनुकूल बनाने की असीम योग्यता हममें नहीं। परन्तु हम साम्य से उन घटनाओं को सह सकेंगे जो हमारे हित के प्रतिकूल घटती हैं, यदि हमें यह ज्ञान हो कि हमने अपना कर्तव्य पालन कर दिया है, और अपनी शक्ति को ऐसी सीमा तक नहीं ले जा सकते कि उन घटनाओं से बच सकें, और यह ज्ञान भी हो कि हम समग्र सर्ग का अंश हैं जिसकी व्यवस्था के अनुसार हम विचरते हैं। यदि हमें इसका विमल और स्पष्ट ज्ञान हो जाय, तो हमारा वह भाग, जिसे ज्ञानशक्ति या बुद्धि का नाम दिया जाता है, अर्थात् हमारा सर्वोत्तम भाग इस व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लेगा और यत्न करेगा कि इस स्वीकृति में स्थिर रहे। परन्तु जिस अंश में हम समझते हैं, उस अंश में हम किसी वस्तु की इच्छा नहीं कर सकते, सिवाय इसके कि जो आवश्यक हो, न अनिवार्य रूप में सत्य के बिना किसी वस्तु को स्वीकार कर सकते हैं। और इसलिए जहाँ तक हम इसे यथार्थ रूप में समझते हैं, हमारे सर्वोत्तम भाग का यत्न समस्त सर्ग की व्यवस्था के अनुकूल होता है।

पाँचवाँ भाग

बुद्धि की शक्ति या मानव-स्वाधीनता के विषय में

प्राक्कथन

अन्त में अब मैं 'नीति' के उस भाग की ओर आता हूँ, जिसका सम्बन्ध उस नियम या मार्ग से है जो स्वाधीनता की ओर ले जाता है। इस भाग में, जिसका सम्बन्ध बुद्धि की शक्ति से है, मैं यह बताने का यत्न करूँगा कि बुद्धि की शक्ति उद्वेगों पर क्या है, और यह भी कि मानसिक स्वाधीनता या कृतार्थता का स्वरूप क्या है। इस ज्ञान से हमें यह पता लग जायगा कि बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिहीन पुरुष से कितना श्रेष्ठ है। परन्तु यह बात कि बुद्धि को निर्दोष बनाने या शरीर को उचित रीति से अपनी क्रिया करने की क्षमता देने के साधन क्या है, इस भाग से सबद्ध नहीं, क्योंकि स्वास्थ्य का सबन्ध चिकित्सा से और बुद्धि की उन्नति का सम्बन्ध न्यायशास्त्र से है। यहाँ तो जैसा मैंने कहा है, मैं बुद्धि की शक्ति की बाबत कहूँगा, विशेषकर यह बताऊँगा कि उद्वेगों को समय में रखने या हलका करने में बुद्धि की शक्ति कितनी है और किस प्रकार की है। जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, हमारे उद्वेगों पर हमारा शासन सम्पूर्ण तो है नहीं, हाँ, स्टोइक विचारकों का मत यह था कि उद्वेग पूर्णतया हमारे स्वाधीन सकल्प पर आधारित है, और हम उनपर निस्सीम अधिकार रखते हैं। परन्तु यद्यपि उनके मन्तव्य ने नहीं, तो भी अनुभव ने उन्हें यह मानने पर बाधित कर दिया कि उद्वेगों को शासित और हलका करने के लिए पर्याप्त उत्साह और अभ्यास की आवश्यकता है। यदि मेरी स्मृति भ्रान्त नहीं, तो इसे किसी मनुष्य ने दो कुत्तों के उदाहरण से स्पष्ट करने का यत्न किया है, जिनमें एक पलुआ है, और दूसरा शिकारी; अभ्यास से पलुआ कुत्ता शिकार करने लगता है, और शिकारी कुत्ता शिकार करना और खरहों का पीछा करना छोड़ देता है। डेकार्ट पर्याप्त मात्रा में इस विचार के पक्ष में है, क्योंकि उसके मतानुसार आत्मा या मन का मस्तिष्क के एक विशेष भाग के साथ, जिसे पिनियल ग्रन्थि कहते हैं, एक खास सबन्ध है। इस ग्रन्थि के द्वारा मन शरीर और

बाह्य पदार्थों में होनेवाली गतियों को अनुभव करता है, और इच्छा मात्र से उसे विविध प्रकार की गति दे सकता है। डेकार्ट का विचार था कि यह ग्रन्थि मस्तिष्क के मध्य में इस प्रकार लटकी है कि पाशव रसों (एनिमल स्प्रिरिटस्) की किञ्चित् मात्र गति भी इसे हिला सकती है। उसका यह भी विचार था कि जितनी रीतियों से पाशव रस इस ग्रन्थि पर आकर टकराते हैं, उतनी रीतियों से ही यह मस्तिष्क के मध्य में लटकती है, और प्रत्येक पदार्थ, जो पाशव रसों को इसकी ओर धकेलता है, अपना चिह्न इस पर अंकित करता है। इसका परिणाम यह है कि यदि मन अपने सकल्प से इसे किसी ऐसी स्थिति में लटकाता है, जिसमें पहले इसे पाशव रसों ने लटकाया था, तो ग्रन्थि उन पाशव रसों को उसी प्रकार धकेलती और निर्णीत करती है, जिस प्रकार वे पहले धकेले गये और निर्णीत हुए थे। डेकार्ट का यह भी विचार था कि मन की प्रत्येक इच्छा या सकल्प का ग्रन्थि की किसी विशेष गति से सम्बन्ध है, उदाहरण के लिए यदि कोई मनुष्य किसी दूरस्थ पदार्थ को देखना चाहता है, तो इस इच्छा से उसकी पुतली फैल जायगी, परन्तु यदि वह पुतली के फैलाव का ही चिन्तन करे, तो उस वस्तु के देखने की इच्छा उसके लिए लाभकारी नहीं होगी। क्योंकि ग्रन्थि की गति जो पुतली को सिकोड़ने या फैलाने के लिए पाशव रस को दृष्टि-सम्बन्धी तन्तु की ओर धकेलती है, दूर या निकट के पदार्थों को देखने की इच्छा के साथ सबद्ध है, पुतली को सिकोड़ने-फैलाने के साथ सबद्ध नहीं। अन्त में डेकार्ट का यह भी विचार था कि यद्यपि जीवन के आरम्भ में इस ग्रन्थि की प्रत्येक गति हमारे किसी विशेष विचार के साथ सबद्ध प्रतीत होती है, यह अभ्यास से अन्य विचारों के साथ सबद्ध हो सकती है। वह इसे 'पैशन्स' (१ ५०) में सिद्ध करने का यत्न करता है। वह इस निकर्ष पर पहुँचता है कि कोई मन इतना निर्बल नहीं कि वह उचित संचालन से अपने विषयों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त न कर सके। परन्तु चूँकि हम ग्रन्थि की प्रत्येक हरकत को, और इसलिए रसों की प्रत्येक हरकत को किसी सकल्प से सबद्ध कर सकते हैं, इसलिए सकल्प का निश्चित करना हमारी शक्ति पर ही निर्भर है। इसलिए यदि हम विशेष स्थिर निश्चयों से, जिनके अनुसार हम अपने जीवन-कार्यों को चलाना चाहते हैं, अपने सकल्प को निर्णीत करें, और अपने इष्ट उद्देश्यों की हरकतों को इन निश्चयों से युक्त कर दें, तो हम अपने आवेगों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेंगे। जैसा मैं उसके अपने शब्दों से अनुमान करता हूँ, ये उस प्रसिद्ध पुरुष के विचार हैं; यदि ये कम सूक्ष्म होते, तो मेरे लिए यह विश्वास करना ही कठिन होता कि इतना

बड़ा पुरुष कैसे ऐसे विचार प्रस्तुत करता है। मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य होता है कि एक दार्शनिक, जिसने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि वह युक्ति के स्वतः सिद्ध आधारों पर ही अनुमान करेगा; विमल और स्पष्ट प्रत्यक्ष के बिना कोई दावा नहीं करेगा, जिस ने अनेक बार मध्यकालीन सिद्धान्तवादियों पर आरोप लगाया था कि वे अस्पष्ट वस्तुओं का गुप्त विशेषणों से समाधान करते हैं, स्वयं ऐसी कल्पना को कैसे स्वीकार करता है, जो सभी गुप्त गुणों से अधिक गुप्त है। मैं पूछता हूँ कि वह मन और शरीर के संयोग से क्या समझता है? चिन्तन और मात्रा या विस्तार के विशेष भाग के समीपस्थ संबंध का कौन विमल और स्पष्ट प्रत्यक्ष उसके पास है? वास्तव में मैं चाहता हूँ कि वह इस संयोग का इसके निकट-कारण के द्वारा समाधान करे। परन्तु उसने मन को शरीर से इतना भिन्न समझ लिया था कि वह न इस संयोग का, और न मन का ही कोई कारण बता सका; उसे विवश होकर ब्रह्मांड के कारण अर्थात् परमात्मा की शरण लेनी पड़ी। इसके अतिरिक्त मैं यह जानना चाहता हूँ कि मन इस पिनियल ग्रन्थि को गति की कितनी मात्रा दे सकता है, और कितनी शक्ति से इसे लटकाये रख सकता है? क्योंकि मैं यह नहीं जानता कि क्या मन पाशव रसों की अपेक्षा इस ग्रन्थि पर जल्दी से या धीरे असर करता है, और क्या उद्गारों की गतियाँ जिन्हें हम विशेष स्थिर निश्चयों के साथ दृढ़ रूप में संयुक्त करते हैं, शरीर से संबंध कारणों से अलग नहीं की जा सकती। इसका परिणाम यह होगा कि यद्यपि मन ने दृढ़ निश्चय किया कि वह खतरों का मुकाबला करेगा, और इस निश्चय के साथ साहस की गतियों को युक्त भी किया, तो भी खतरा दीखते ही ग्रन्थि इस प्रकार लटकने लगेगी कि मन को भागने के अतिरिक्त कुछ सूझेगा ही नहीं। और निस्संदेह सकल्प और गति में कोई संबंध नहीं, इसलिए मन की शक्ति और शरीर की शक्ति में भी कोई सादृश्य नहीं। इसका परिणाम यह है कि इनमें से एक की शक्ति दूसरे की शक्ति से निर्णीत नहीं हो सकती। इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस ग्रन्थि की स्थिति मस्तिष्क के मध्य में ऐसी नहीं कि यह चारों ओर आसानी से और इतने विविध रूपों में क्रिया कर सके; और सारे तन्तु भी मस्तिष्क की खोहों में नहीं पहुँचते। अन्त में, जो कुछ उसने सकल्प और इसकी स्वाधीनता की बाबत कहा है, उसकी बाबत मैं यहाँ कुछ नहीं कहता, क्योंकि मैं इसके मिथ्या होने की बाबत पहले ही पर्याप्त से अधिक कह चुका हूँ। इसलिए जैसा मैं पहले बता चुका हूँ, चूँकि मन की शक्ति केवल बुद्धि से निर्णीत होती है, इसलिए उद्गारों के इलाज, जैसा कि यथार्थ और स्पष्ट ज्ञान के अभाव

में भी प्रत्येक को अनुभूत होते हैं, मन के ज्ञान से निर्णीत किये जायेंगे; और उसी से उन सभी वस्तुओं का अनुमान किया जायगा, जो मन की कृतार्थता से सबद्ध हैं।

स्वयंतथ्य

१. यदि एक ही कर्ता में दो प्रतिकूल क्रियाएँ उभारी जायँ, तो जब तक कि उनकी प्रतिकूलता का अन्त न हो जाय, उन दोनों में या उनमें से एक में अवश्यमेव परिवर्तन व्यक्त होगा।

२. जिस अश में किसी उद्वेग का सार उसके कारण के सार के द्वारा व्याख्यात या निर्णीत होता है, उस अश में उद्वेग की शक्ति उसके कारण की शक्ति से लक्षित होती है।

यह स्वयंतथ्य भाग ३, साध्य ७ से स्पष्ट है।

साध्य

साध्य १—जिस प्रकार चिन्तन या मन के प्रत्यय मन में क्रमबद्ध और व्यवस्थित होते हैं, उसी प्रकार शरीर में इसके रूपभेद या पदार्थों के रूपभेद उनके क्रम के अनुसार क्रमबद्ध और व्यवस्थित होते हैं।

उपपत्ति—प्रत्ययो का क्रम और सम्बन्ध वही है जो पदार्थों का क्रम और सम्बन्ध है (भाग २, साध्य ७), और दूसरी ओर पदार्थों का क्रम और सम्बन्ध वही है (भाग २, साध्य ६ और ७, उपप्रमेय) जो प्रत्ययो का क्रम और सम्बन्ध है। इसके परिणामस्वरूप जिस तरह मन के प्रत्ययो का क्रम और सम्बन्ध शरीर के रूपभेदों के क्रम और सम्बन्ध के अनुसार बनता है, उसी तरह दूसरी ओर शरीर के रूपभेदों का क्रम और सम्बन्ध मन के विचारों और पदार्थों के अनुसार बनता है।
इ० सि०।

साध्य २—यदि हम मन की व्याकुलता या उद्वेग को बाहरी कारण के विचार से अलग करके अन्य विचारों से युक्त कर दें, तो बाहरी कारण के प्रति जो प्रेम या द्वेष होता है, उसका अन्त हो जाता है, और इसके साथ उन मानसिक व्याकुलताओं का भी अन्त हो जाता है जो इन उद्वेगों से पैदा होती हैं।

उपपत्ति—प्रेम या द्वेष की आकृति वह सुख या दुःख है जिसके साथ किसी बाहरी कारण का प्रत्यय मिला हो (उद्वेग परि० ६ और ७)। इसलिए जब यह विद्यमान नहीं रहता तो प्रेम या द्वेष की आकृति भी दूर हो जाती है, और इस लिए यह उद्वेग और वे उद्वेग जो इनसे पैदा होते हैं, नष्ट हो जाते हैं। **इ० सि०**

साध्य ३—जो उद्वेग बहिर्जात है, वह ऐसा उद्वेग नहीं रहता, ज्यों ही हम उसका विमल और स्पष्ट प्रत्यय बनाते हैं।

उपपत्ति—बहिर्जात उद्वेग एक अस्पष्ट प्रत्यय है (उद्वेग की सामान्य परि०)। इसलिए यदि हम इस उद्वेग का विमल और स्पष्ट प्रत्यय बनायें, तो यह प्रत्यय उद्वेग से इस अंश में भिन्न हो जायगा कि यह केवल बुद्धि के द्वारा मन की ओर ही निर्देश करता है (भाग २, साध्य २१, टिप्पणी सहित) और इसलिए (भाग ३, साध्य ३) उद्वेग बहिर्जात उद्वेग नहीं रहेगा। **इ० सि०**

उपप्रमेय—इसलिए जितना कोई उद्वेग हमें ज्ञात होता है, उतना ही अधिक वह हमारे अधिकार में होता है, और उतना ही कम मन इसके वशीभूत होता है।

साध्य ४—शरीर का कोई रूपभेद ऐसा नहीं जिसका हम विमल और स्पष्ट प्रत्यय न बना सकते हों।

उपपत्ति—जो पदार्थ सबके प्रति साक्ष्य है, उन्हीं का पर्याप्त प्रत्यय हो सकता है (भाग २, साध्य ३८) और इसलिए (भाग २, साध्य १२ और साध्य १३ के बाद आनेवाली प्रमेयिका २) शरीर का कोई रूपभेद नहीं जिसका हम कोई विमल और स्पष्ट प्रत्यय नहीं बना सकते। **इ० सि०**

उपप्रमेय—इसका परिणाम यह है कि कोई उद्वेग ऐसा नहीं जिसका विमल और स्पष्ट प्रत्यय हम न बना सकें। क्योंकि उद्वेग शरीर से किसी रूपभेद का प्रत्यय है (उद्वेग, सामान्य परि०) जिसमें इस कारण (पूर्व साध्य) कोई विमल और स्पष्ट प्रत्यय अवश्य निहित होना चाहिए।

टिप्पणी—चूँकि कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे कोई परिणाम न निकलता हो (भाग १, साध्य ३६), और जो कुछ हमारे किसी पर्याप्त प्रत्यय का परिणाम होता है उसे हम विमल और स्पष्ट रूप में समझते हैं (भाग २, साध्य ४०), इसका परिणाम यह है कि हरएक अपने आप को और अपने उद्वेगों को समझने की क्षमता रखता है, यदि निरपेक्ष रूप में नहीं तो भी कम से कम आशिक रूप में विमल और स्पष्ट रूप में, और इसके फलस्वरूप इसकी क्षमता रखता है कि वह उन उद्वेगों के वश में थोड़ा हो। इस उद्देश्य के लिए इस बात को विशेष ध्यान में रखना चाहिए कि हम विमल और स्पष्ट रूप में प्रत्येक उद्वेग को समझें और यह भी कि इसकी वृद्धि कहाँ तक हो सकती है, ताकि मन उद्वेग से उन वस्तुओं का चिन्तन करने में निर्णीत हो सके जिन्हें यह विमल और स्पष्ट रूप में देखता है और जिन्हें यह पूर्णतया स्वीकार करता है, और इस तरह उद्वेग बाहरी कारण के प्रत्यय से पृथक् किया जाता और

सत्य विचारो से युक्त किया जाता है। इसका परिणाम यह होगा कि प्रेम, द्वेष आदि का अन्त ही नहीं होगा (भाग ५, साध्य २), अपितु जो अभिलाषाएँ और इच्छाएँ ऐसे उद्वेग से उत्पन्न हुआ करती हैं, वे अतीव न हो सकेंगी। क्योंकि सबसे पहले इस बात को जानना चाहिए कि एक ही तृषा के द्वारा मनुष्य क्रियाशील और परवश कहलाता है। उदाहरण के लिए, हमने दिखाया है कि मानव प्रकृति-ऐसी बनी है कि हरएक चाहता है कि दूसरे उसके विचारानुसार जीवन व्यतीत करे (भाग ३, साध्य ३१ की टिप्पणी देखो) : और जो मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में नहीं चलता उसकी इस हालत में यह इच्छा बहिर्जात उद्वेग है जिसे लालसा कहते हैं और जो अभिमान से बहुत कम भिन्न है; और इसके विपरीत, जो मनुष्य बुद्धि के नेतृत्व में चलता है, यह इच्छा वह क्रिया या वृत्त है जिसे भक्ति कहते हैं (भाग ४, साध्य ३७ की टिप्पणी १ और उस साध्य की दूसरी उपपत्ति देखो)। और इस तरह सभी तृषाएँ या इच्छाएँ बहिर्जात उद्वेग ही हैं जिस अंश में कि वे अपर्याप्त प्रत्ययो से उत्पन्न होती हैं और वृत्त का अंश समझी जाती हैं, जब वे पर्याप्त प्रत्ययो से उकसायी जाती या उत्पन्न होती हैं। क्योंकि सभी इच्छाएँ जिनसे हम कोई क्रिया करने के लिए निर्णीत होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के प्रत्ययो से पैदा हो सकती हैं (भाग ४, साध्य ५९ देखो)। और (अपनी फेरवट से लौटते हुए) उद्वेगों का यह इलाज अर्थात् उनका सत्य ज्ञान ऐसा है कि इससे अच्छे इलाज का, जो हमारे वश में हो चिन्तन ही नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं (भाग ३, साध्य ३), चिन्तन करने और पर्याप्त प्रत्ययो के बनाने से बढ़कर मन की कोई शक्ति स्वीकृत नहीं।

साध्य ५—जिस वस्तु का हम चिन्तन मात्र करते हैं, उसके अनिवार्य, सम्भव या निरे यथार्थ होने की ओर ध्यान नहीं देते, उसके प्रति, अन्य बातों के अभिन्न होने की हालत में, उद्वेग सबसे अधिक होता है।

उपपत्ति—जिस वस्तु को हम स्वतन्त्र ख्याल करते हैं, उसके प्रति उद्वेग अधिक होता है बनिस्वत उस वस्तु के जो अनिवार्य है (भाग ३, साध्य ४९), और इसके फलस्वरूप उस उद्वेग से तो और भी अधिक होता है जो ऐसी वस्तु के प्रति होता है जिसे हम सम्भव या यथार्थ ही समझते हैं (भाग ४, साध्य ११)। परन्तु किसी वस्तु को स्वतन्त्र ख्याल करना सिवाय इसके कुछ नहीं कि हमने इसकी कल्पना की थी जब कि हमें उन कारणों का ज्ञान न था जिनसे यह क्रिया करने के लिए निर्णीत हुई थी (जैसे भाग २, साध्य ३५ की टिप्पणी में दिखाया गया है)। इसलिए

जिस वस्तु का हम चिन्तन मात्र करते हैं, उसके प्रति, अन्य बातों के अभिन्न होने की हालत में, उद्वेग अधिक होता है, बनिस्वत उस उद्वेग के जो अनिवार्य, सम्भव या यथार्थ वस्तु के प्रति होता है, और इसलिए सबसे अधिक होता है। इ० सि०

साध्य ६—जिस हृद तक मन सभी वस्तुओं को अनिवार्य समझता है, यह उद्वेगों पर अधिक अधिकार प्राप्त कर लेता है या उनके अधीन कम होता है।

उपपत्ति—मन सभी वस्तुओं को अनिवार्य समझता है (भाग १, साध्य २९), और यह कि वे अपने अस्तित्व और क्रियाशील होने के लिए कारणों के अनन्त सम्बन्ध से निर्णीत होती हैं (भाग १, साध्य २८) और इसलिए (पूर्व साध्य) ऐसी स्थिति पैदा कर देता है कि यह उन उद्वेगों के कम अधीन होता है जो उनसे उत्पन्न होते हैं, और (भाग ३, साध्य ४८) यह उनके प्रति कम प्रभावित होगा। इ० सि०

टिप्पणी—जितना अधिक यह ज्ञान कि पदार्थ अनिवार्य हैं, विशेष पदार्थों पर जिनका हम अधिक स्पष्ट और सजीव रूप में चिन्तन करते हैं, लागू किया जाता है, उतना ही अधिक मन का उद्वेगों पर यह अधिकार होता है, जिसका अनुभव साक्षी है। क्योंकि हम देखते हैं कि जो दुःख किसी मूल्यवान् वस्तु के खो जाने से होता है, वह कम हो जाता है ज्यों ही उसे खोने वाला ख्याल करता है कि वह वस्तु किसी तरह बचायी नहीं जा सकती थी। इसी तरह हम यह भी देखते हैं कि कोई मनुष्य नन्हें बच्चे पर इसलिए तरस नहीं खाता कि वह बोलने, चलने, विचारने के अयोग्य है, या अन्त में इसलिए कि वह इतने वर्ष अपने आप को जाने बिना ही बिता देता है। परन्तु यदि मनुष्यों की अधिक सख्या प्रौढ पैदा होती, और कभी-कभी नन्हा बच्चा भी पैदा हो जाता, तो हम ऐसे बच्चे पर तरस खाते, क्योंकि तब हम बाल्यावस्था को स्वाभाविक और अनिवार्य स्थिति न समझते अपितु सर्ग में एक त्रुटि या आपत्ति ख्याल करते। और हम बहुतेरी अन्य बातों का समाधान भी इससे कर सकते हैं।

साध्य ७—यदि हम काल को दृष्टि में रखें, तो जो उद्वेग बुद्धि से प्रकट होते या उकसाये जाते हैं, वे उन उद्वेगों से अधिक होते हैं, जिनका सम्बन्ध ऐसी वस्तुओं से होता है जिन्हें हम अनुपस्थित समझते हैं।

उपपत्ति—हम किसी वस्तु को उस उद्वेग के कारण अनुपस्थित नहीं समझते जिसके साथ हम इसकी कल्पना करते हैं, अपितु इसलिए कि शरीर किसी अन्य उद्वेग से, जो उस वस्तु के अस्तित्व को काट देता है, प्रभावित होता है (भाग २, साध्य १७), इसके फलस्वरूप जो उद्वेग किसी ऐसी वस्तु की ओर निर्दिष्ट होता है जिसे हम अविद्यमान समझते हैं, वह इस प्रकृति का नहीं होता कि वह मनुष्य

की अन्य क्रियाओं और शक्ति को उल्लंघ जाय और पराजित कर दे (जिसकी बाबत भाग ४, साध्य ६ को देखो), अपितु इसके विपरीत, ऐसा होता है कि यह उन रूपभेदों से जो इसके बाहरी कारण के अस्तित्व को काटते हैं, किसी प्रकार से रोका जा सकता है। परन्तु जो उद्वेग बुद्धि से उत्पन्न होता है, वह अनिवार्य रूप में पदार्थों के ऐसे सामान्य गुणों की ओर सकेत करता है (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी २ में बुद्धि की परिभाषा देखो), जिन्हें हम सदा विद्यमान समझते हैं (क्योंकि उनके वर्तमान अस्तित्व को कुछ बाधित नहीं कर सकता), और जिनकी कल्पना हम सदा एक प्रकार से ही करते हैं (भाग २, साध्य ३८)। इसके परिणामस्वरूप ऐसा उद्वेग सदा एकरस रहता है, और इसलिए (भाग ५, स्वयं तथ्य १) वे उद्वेग जो इसके प्रतिकूल हैं और जिन्हें अपने बाहरी कारणों से सहायता नहीं मिलती, अवश्यमेव अधिक से अधिक इसके अनुकूल होते जायेंगे जब तक कि उनकी प्रतिकूलता समाप्त न हो जाय, और इस अंश में जो उद्वेग बुद्धि से प्रकट होता है अधिक बलवान् है। इ० सि०

साध्य ८—जितना अधिक कोई उद्वेग अन्य उद्वेगों से, जो उसी समय उसके साथ विद्यमान होते हैं, उकसाया जाता है, उतना ही अधिक वह होगा।

उपपत्ति—कारणों की अधिक सख्या अल्पसख्या की अपेक्षा एक ही समय में अधिक कार्य कर सकती है (भाग ३, साध्य ७)। और इसलिए (भाग ४, साध्य ५) जितना अधिक कोई उद्वेग एक साथ अनेक कारणों से उकसाया जाता है, उतना ही अधिक बलवान् वह होता है। इ० सि०

टिप्पणी—यह साध्य इस भाग के स्वयंतथ्य २ से भी स्पष्ट है।

साध्य ९—वह उद्वेग जो अनेक भिन्न कारणों की ओर सकेत करता है जिनका चिन्तन मन उद्वेग के साथ करता है, कम हानिकारक होता है और हम इसके कम वशीभूत होते हैं और इसके प्रत्येक कारण के प्रति कम प्रवृत्त होते हैं, वनिस्वत किसी और उद्वेग के जो इतना ही बलवान् है और जो एक ही कारण या अल्पसंख्यक कारणों की ओर सकेत करता है।

उपपत्ति—कोई उद्वेग इसी अंश में बुरा या हानिकारक होता है कि मन इसके प्रभाव में जितना चिन्तन पहले करता था उतना अब नहीं करता (भाग ४, साध्य २६ और २७)। और इसलिए जिस उद्वेग के प्रभाव में मन एक साथ अनेक पदार्थों का चिन्तन करने में निर्णीत होता है, वह किसी अन्य उद्वेग से कम हानिकारक है जो उतना ही बलवान् है, और मन को एक ही वस्तु या अल्पसंख्य वस्तुओं

पर ऐसे लगाये रखता है कि यह अन्य वस्तुओं का चिन्तन ही नहीं कर सकता। यह पहला विचाराश था। फिर चूँकि मन का सार, अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) इसकी शक्ति चिन्तन ही है (भाग ३, साध्य ११), इसलिए मन उस उद्वेग के कम वशीभूत होता है जो इसे अनेक वस्तुओं की ओर ध्यान करने पर निर्णीत करता है, बनिस्वत ऐसे उद्वेग के जो उतना ही बलवान् है और एक ही वस्तु पर या थोड़ी वस्तुओं पर मन के ध्यान को जमाये रखता है, जो दूसरा विचाराश है। अन्त में, यह उद्वेग (भाग ३, साध्य ४८) चूँकि यह अनेक बाहरी कारणों की ओर सकेत करता है, उनमें से प्रत्येक के प्रति अल्प है। इ० सि०

साध्य १०—जब तक हम ऐसे उद्वेगों से आक्रान्त नहीं होते जो हमारी प्रकृति के प्रतिकूल है, तब तक हम इस बात के योग्य होते हैं कि शरीर के रूपभेदों को उनके बौद्धिक क्रम में व्यवस्थित और सम्बद्ध कर सकें।

उपपत्ति—जो उद्वेग हमारी प्रकृति के प्रतिकूल है, अर्थात् (भाग ४, साध्य ३०) जो अशुभ है, वे इसी अंश में अशुभ हैं कि वे मन को समझने से रोकते हैं (भाग ४, साध्य २७)। इसलिए जब तक हम ऐसे उद्वेगों से आक्रान्त नहीं होते जो हमारी प्रकृति के प्रतिकूल है, उस अवधि में मन की शक्ति जिससे यह पदार्थों को समझने का यत्न करता है रुकती नहीं, और इसलिए उतने काल के लिए उसमें विमल और स्पष्ट प्रत्ययों के बनाने और कुछ प्रत्ययों को दूसरों से अनुमित करने की शक्ति होती है (भाग २, साध्य ४० की टिप्पणी २, और साध्य ४७ की टिप्पणी देखो) और इसलिए उतने काल के लिए (भाग ५, साध्य १) हम शरीर के रूपभेदों को उनके बौद्धिक क्रम के अनुसार व्यवस्थित और सम्बद्ध करने की शक्ति रखते हैं।

इ० सि०

टिप्पणी—रूपभेदों को उचित रीति से व्यवस्थित और सम्बद्ध करने की इस शक्ति से हम इस बात के योग्य हो सकते हैं कि हम बुरे उद्वेगों से सहज प्रभावित न हों। क्योंकि (भाग ५, साध्य ७) जो उद्वेग अपने बौद्धिक क्रम के अनुसार व्यवस्थित और सम्बद्ध है, उन्हें रोकने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता होगी बनिस्वत उस शक्ति के जो उनके अस्पष्ट और अनिश्चित होने की अवस्था में आवश्यक होती। इसलिए जब तक हमें अपने उद्वेगों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, हमारे लिए सर्वोत्तम स्थिति यही है कि हम जीवन के विशेष नियमों को निश्चित करें, उन्हें कण्ठस्थ करें, और उन्हें उन वस्तुओं पर जिनसे जीवन में बारम्बार वास्ता पड़ता है, निरन्तर लागू करें, ताकि हमारी कल्पना इनसे भली-भाँति प्रभावित

हो जाय, और ये हमारे लिए सदा विद्यमान हो। उदाहरण के लिए, हमने जीवन के नियमों में (भाग ४, साध्य ४६ और टिप्पणी) यह नियम रखा कि द्वेष को प्रेम या सदभाव से पराजित करना चाहिए, प्रतिद्वेष में उसका बदला नहीं लेना चाहिए। परन्तु इस स्थिति के लिए कि जब कभी भी आवश्यकता हो, यह नियम उपयोग के लिए विद्यमान हो, आवश्यक है कि हम बार-बार उन सामान्य हानियों का चिन्तन करें जो मनुष्यों को पहुँचती हैं, और यह भी सोचें कि किस तरह ये हानियाँ चरित्र की श्रेष्ठता के प्रयोग से टाली जा सकती हैं। क्योंकि यदि हम हानि की प्रतिमा को इस नियम की प्रतिमा से संयुक्त कर दें, तो यह सदा हमारे लिए उपस्थित होगा (भाग २, साध्य १८), जब हमें हानि पहुँचायी जाय। और यदि हम अपने हित और आपस की मित्रता और सामान्य ससर्ग के लाभ के मूल्य को सदा ध्यान में रखें और साथ ही याद रखें कि पूर्ण मानसिक तुष्टि जीवन को उचित रीति से बिताने से प्राप्त होती है (भाग ४, साध्य ५२), और कि अन्य पदार्थों की तरह मनुष्य भी प्राकृत नियम के अधीन अपनी क्रिया करते हैं, तो जो हानियाँ या द्वेष उनसे उत्पन्न हुआ करते हैं, मन के अल्प भाग को ध्याप्त करेंगे और सहज ही परास्त हो जायेंगे, या यदि वह क्रोध जो बहुत बड़ी हानियों से उत्पन्न होता है सहज ही परास्त न हो, तो भी मन की पर्याप्त अनिश्चितता के बाद यह उससे थोड़े काल में परास्त हो जायगा, जितना इन बातों पर विचार करने की हालत में लगता। यह इस भाग के साध्य ६, ७ और ८ से स्पष्ट है।

भय से विमुक्त होने के लिए हमें साहस की बाबत इसी तरह चिन्तन करना चाहिए; हमें जीवन के सामान्य खतरों को गिनना और विचारना चाहिए, और सोचना चाहिए कि वे किस तरह साहस के द्वारा रुक सकते और पराजित हो सकते हैं। परन्तु यह बात ध्यान में रहे कि अपने चिन्तनों और मानसिक चित्रों को व्यवस्थित करने में हम (भाग ४, साध्य ६३, उपप्रमेय और भाग ३, साध्य ५९) प्रत्येक वस्तु के अच्छे पक्ष की ओर ध्यान दें, ताकि अपनी क्रिया में सदा सुख के उद्वेग से प्रेरित हो। उदाहरण के लिए, यदि कोई पुरुष देखता है कि उसे प्रतिष्ठा की बहुत लालसा है, तो उसे सोचना चाहिए कि प्रतिष्ठा का उचित प्रयोग क्या है, किस उद्देश्य से इसे प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए, और किन उपायों से इसे प्राप्त करना चाहिए; इसके दुरुपयोग, वृथा अभिमान और मनुष्यों की चंचलता का चिन्तन नहीं करना चाहिए, न अन्य ऐसी वस्तुओं का जिनका चिन्तन कोई भी मन की अस्वस्थ दशा के बिना नहीं करता। अधिक लालसा रखनेवालों के मन

मे ऐसे विचार उठते हैं, जब उन्हें अपनी इष्ट प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की कोई आशा नहीं रहती, और जब वे अपने क्रोध को व्यक्त करते हैं तो चतुर प्रतीत होते हैं। इसलिए यह निश्चित है कि जो लोग प्रतिष्ठा और यश की अति अधिक लालसा करते हैं, वे ही प्रतिष्ठा के दुरुपयोग और ससार की निःसारता की बाबत जोर से चिल्लाते हैं। और यह केवल लालसा करनेवालों की बाबत ही नहीं, अपितु उन सब लोगों की बाबत सत्य है जिन पर भाग्य की कृपा नहीं हुई और जो मन में शक्तिहीन हैं। एक निर्धन पुरुष जो लोभी है, धन के दुरुपयोग और सम्पत्ति की बुराइयों की बाबत कहता ही रहेगा। उसकी क्रिया का फल यही बताना होता है कि वह निर्धन ही नहीं, अपितु दूसरो को धनी देख भी नहीं सकता। इसी तरह वे लोग जिन्हें उनकी प्रेयसियों स्वीकार नहीं करती, स्त्री जाति की अस्थिरता छल-कपट और इनसे सम्बद्ध अन्य दोषों का ही चिन्तन करते रहते हैं, परन्तु ज्यों ही वे स्वीकृत हो, यह सब कुछ भूल जाते हैं। इसलिए वह मनुष्य जो अपने उद्वेगों और कामनाओं को, स्वाधीनता के प्रेम के प्रभाव में, सयमित करता है, वह यथासम्भव सद्भावनाओं और उनके कारणों का ज्ञान प्राप्त करने का और इस ज्ञान से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसे प्राप्त करने का यत्न करता है, वह दूसरो की बुराइयों को देखने, अपने साथियों की निन्दा करने में समय व्यतीत नहीं करता, न ही एक झूठे प्रकार की स्वाधीनता में आनन्द मनाता है।

जो कुछ यहाँ कहा गया है, वह कठिन नहीं, जो कोई परिश्रम से इसे समझता और इस पर आचरण करता है, वह थोड़े समय में ही बुद्धि के पथप्रदर्शन के अनुसार प्रायः क्रिया करने लगेगा।

साध्य ११—कोई चित्र जितनी अधिक वस्तुओं की ओर संकेत करता है, उतनी ही अधिक बार वह व्यक्त होता है, उतनी ही अधिक बार सफल होता है, और उतनी ही अधिक बार मन को व्याप्त करता है।

उपपत्ति—जितना अधिक कोई चित्र या उद्वेग बहुत वस्तुओं की ओर संकेत करता है, उतने ही अधिक उसे उकसाने और पालित-पोषित करनेवाले कारण होते हैं, जिन सबका उस समय मन उद्वेग के साथ ध्यान करता है। और इसलिए उद्वेग अधिक बार व्यक्त होता या अधिक बार सफल होता है, और (भाग ५, साध्य ८) यह मन को अधिक व्याप्त करता है। इ० सि०

साध्य १२—वस्तुओं के चित्र, अन्य चित्रों की अपेक्षा, ऐसे चित्रों के साथ अधिक सुगमता से संयुक्त होते हैं जिन्हें हम विमल और स्पष्ट रूप में समझते हैं।

उपपत्ति—जिन वस्तुओं को हम विमल और स्पष्ट रूप में समझते हैं, वे या तो पदार्थों के सामान्य गुण होते हैं, या जो कुछ हम ऐसे गुणों से अनुमित करते हैं (भाग २०, साध्य ४०, टिप्पणी २ में बुद्धि की परिभाषा), और इसलिए वे अधिक बार हम में उकसाये जाते हैं (पूर्व साध्य)। और इसलिए यह अधिक सहज हो सकता है कि हम पदार्थों का उसी समय अन्य वस्तुओं की अपेक्षा इन गुणों के साथ चिन्तन करें, और इसलिए (भाग २, साध्य १८) वे पदार्थ अन्य वस्तुओं की अपेक्षा इनसे अधिक सुगमता से संयुक्त होते हैं।

साध्य १३—जितना अधिक कोई मानसिक चित्र बहुत-सी अन्य वस्तुओं से संयुक्त होता है, उतनी ही अधिक बार वह सफल होता है।

उपपत्ति—जितना अधिक कोई चित्र बहुत-सी अन्य वस्तुओं से संयुक्त होता है, उतने ही अधिक कारण होते हैं जिनसे यह उकसाया जा सकता है। इ० सि०

साध्य १४—मन ऐसी स्थिति पैदा कर सकता है कि शरीर के सभी रूपभेद या वस्तुओं के चित्र ईश्वर के प्रत्यय की ओर संकेत करें।

उपपत्ति—शरीर का कोई रूपभेद ऐसा नहीं जिसका विमल और स्पष्ट प्रत्यय मन न बना सके (भाग ५, साध्य ४)। और इसलिए यह ऐसी स्थिति पैदा कर सकता है (भाग १, साध्य १५) कि सभी चित्र ईश्वर के प्रत्यय की ओर संकेत करें। इ० सि०

साध्य १५—जो मनुष्य अपने आपको और अपने उद्वेगों को समझता है, वह ईश्वर से प्रेम करता है, और जितना अधिक वह अपने आपको और अपने उद्वेगों को समझता है, उतना ही अधिक वह ईश्वर से प्रेम करता है।

उपपत्ति—जो मनुष्य अपने आपको और अपने उद्वेगों को समझता है, वह आनन्द अनुभव करता है (भाग ३, साध्य ५३) और इसके साथ ईश्वर का प्रत्यय भी होता है (पूर्व साध्य)। और इसलिए (उद्वेग परि० ६) वह ईश्वर से प्रेम करता है और (उसी तर्क से) जितना अधिक वह अपने आपको और अपने उद्वेगों को समझता है, उतना ही अधिक उसका ईश्वर-प्रेम होता है। इ० सि०

साध्य १६—यह आवश्यक है कि मन प्रमुख रूप में इस ईश्वर-प्रेम में लीन रहे।

उपपत्ति—यह प्रेम मन के सभी रूपभेदों के साथ संयुक्त है (भाग ५, साध्य १४), जो सभी इसका उपभोग करते हैं (भाग ५, साध्य १५)। और इसलिए (भाग ५, साध्य ११) इसे प्रमुख रूप में मन को व्याप्त करना चाहिए। इ० सि०

होते हैं, वे (भाग ४, साध्य ९, उपप्रमेय) भविष्य से नहीं, अपितु वर्तमान से सबन्ध रखती हैं।

साध्य ६१—जो इच्छा बुद्धि का परिणाम होती है वह अतीव या असंयमित नहीं हो सकती।

उपपत्ति—इच्छा (उद्वेग परि० १) निरपेक्ष रूप में मनुष्य का सार है, जहाँ तक किसी रूप में, कुछ करने के लिए इसे निर्णीत समझा जाता है। इसलिए जो इच्छा बुद्धि से उत्पन्न होती है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ३) हम में हमारे क्रियाशील होने की स्थिति में पैदा होती है, वह मनुष्य का सार या प्रकृति ही है, जिस अंश में यह ऐसी क्रियाओं के करने में निर्णीत समझी जाती है, जिनका मनुष्य के सार से ही पर्याप्त चिन्तन हो सकता है (भाग ३, परि २)। इसलिए, यदि यह इच्छा अति अधिक हो, तो मानवप्रकृति अपनी स्थिति में अपने आप को लॉच जायगी, या अपनी योग्यता से अधिक कुछ करेगी, जो एक स्पष्ट विरोध है। और इसलिए यह इच्छा अतीव नहीं हो सकती। इ० सि०

साध्य ६२—जिस अंश में मन किसी वस्तु का चिन्तन बुद्धि के आदेशानुसार करता है, उस अंश में चाहे वह प्रत्यय किसी वर्तमान वस्तु का हो या भूत या भविष्य का, वह एक समान प्रभावित होगा।

उपपत्ति—जो कुछ भी मन बुद्धि के नेतृत्व में चिन्तन करता है, यह इसे सर्वथा अनिवार्यता या नित्यता के एक विशेष प्रकार के नीचे चिन्तन करता है (भाग २, साध्य ४४, उपप्रमेय २) और एक ही निश्चितता से प्रभावित होता है (भाग २, साध्य ४३ और इसकी टिप्पणी)। इसके फलस्वरूप, चाहे वह प्रत्यय किसी भविष्य, भूत या वर्तमान वस्तु का हो, मन उसका चिन्तन एक ही अनिवार्यता से करेगा और एक ही निश्चितता से प्रभावित होगा; और चाहे प्रत्यय वर्तमान, भूत या भविष्य वस्तु का हो, इस पर भी वह एक-जैसा सत्य होगा (भाग २, साध्य ४१), अर्थात् (भाग २, परि० ४) वह पर्याप्त प्रत्यय के अभिन्न गुण रखेगा। और इसलिए जिस अंश में मन किसी वस्तु का चिन्तन बुद्धि के आदेशों के अनुसार करता है, यह एक ही रूप में प्रभावित होता है, चाहे वह प्रत्यय किसी भविष्य, भूत या वर्तमान वस्तु का हो। इ० सि०

टिप्पणी—यदि हमें वस्तुओं की अवधि का पर्याप्त ज्ञान हो सकता, और हम बुद्धि की सहायता से उनके अस्तित्व का समय निश्चित कर सकते, तो हम भविष्य और वर्तमान वस्तुओं को एक ही दृष्टि से देखते, और मन उस प्रेम को, जिसे

जो (भाग ३, साध्य २८) अर्थहीन है। इसलिए जो मनुष्य ईश्वर से प्रेम करता है, इत्यादि। इ० सि०

साध्य २०—ईश्वर के प्रति यह प्रेम ईर्ष्या या रकाबत के उद्वेग से दूषित नहीं हो सकता, परन्तु जितना अधिक हम मनुष्यों को इस प्रेम बन्धन से ईश्वर से बँधा कल्पना करते हैं, उतना ही अधिक इसका उपभोग होता है।

उपपत्ति—ईश्वर का प्रेम सब से बड़ा शुभ है जिसकी मनुष्य बुद्धि के आदेशानुसार कामना कर सकते हैं (भाग ४, साध्य २८) और उसमें सबका साक्षात् (भाग ४, साध्य ३६), और हम चाहते हैं कि सब इसका उपभोग करे (भाग ४, साध्य ३७)। और इसलिए (उद्वेग परि० २६) यह ईर्ष्या के उद्वेग से दूषित नहीं हो सकता, न रकाबत के उद्वेग से (भाग ५, साध्य १८ और रकाबत की परिभाषा, जो भाग ३, साध्य ३५, टिप्पणी में देखो), परन्तु दूसरी ओर, (भाग ३, साध्य ३१) जितने अधिक मनुष्य हमारे विचारानुसार इसका उपभोग करते हैं, उतना ही अधिक इससे आनन्दित होना चाहिए। इ० सि०

टिप्पणी—तब इसी तरह हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि ऐसा कोई उद्वेग नहीं जो स्पष्ट रूप में इस प्रेम के प्रतिकूल हो और इसे विनष्ट कर सके, और इसलिए हम अनुमान कर सकते हैं कि ईश्वर के प्रति यह प्रेम उद्वेगों में सबसे अधिक स्थायी है, और जहाँ तक यह शरीर की ओर सकेत करता है, यह शरीर के अन्त हुए बिना विनष्ट नहीं हो सकता। मन की ओर ही सकेत करने की हालत में इसका रूप क्या हो सकता है, इसकी बावत हम आगे चलकर देखेंगे। उपर्युक्त साध्यों में मैंने उद्वेगों के सभी इलाजों का समावेश किया है, ऐसे उपायों का भी जो मन अपनी स्वाधीन स्थिति में उद्वेगों को रोकने के लिए बरत सकता है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि उद्वेगों पर मन का अधिकार निम्न रूपों में होता है —

(१) उद्वेगों के ज्ञान में (भाग ५, साध्य ४, टिप्पणी देखो)।

(२) इस बात में कि उद्वेगों को उस बाहरी कारण के विचार से अलग किया जाता है, जिसका हम अस्पष्ट रूप में चिन्तन करते हैं (भाग ५, साध्य २, इसकी टिप्पणी के साथ और साध्य ४)।

(३) उस अवधि में जिसमें वे उद्वेग जो ऐसी वस्तुओं की ओर सकेत करते हैं जिन्हें हम समझते हैं, उन उद्वेगों से बढ़ जाते हैं जो ऐसी वस्तुओं की ओर सकेत करते हैं जिनका हम अस्पष्ट और अपूर्ण रूप में चिन्तन करते हैं (भाग ५, साध्य ७)।

(४) इस बात में कि जो उद्वेग पदार्थों के सामान्य गुणों या ईश्वर की ओर सकेत करते हैं, वे बहुत कारणों से पोषित होते हैं (भाग ५, साध्य ९ और ११)।

(५) अन्त में, उस क्रम में जिसमें मन अपने उद्वेगों को व्यवस्थित और सम्बद्ध कर सकता है (भाग ५, साध्य १०, टिप्पणी १, और साध्य १२, १३, १४)। परन्तु उद्वेगों पर मन की शक्ति को बेहतर समझने के लिए पहले इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि हम उद्वेगों को बड़ा कहते हैं, जब एक मनुष्य के उद्वेग की दूसरे मनुष्य के उद्वेगों से तुलना करने पर देखते हैं कि एक मनुष्य दूसरे की अपेक्षा किसी उद्वेग से अधिक प्रभावित होता है, या हम एक ही मनुष्य के एक से अधिक उद्वेगों की तुलना करने पर देखते हैं कि वह एक उद्वेग से दूसरे उद्वेग की अपेक्षा अधिक आक्रान्त या प्रभावित होता है। क्योंकि (भाग ४, साध्य ५) किसी उद्वेग का बल इस बात से निश्चित होता है कि किसी बाह्य पदार्थ की शक्ति हमारी शक्ति के मुकाबले में कितनी है। परन्तु मन की शक्ति केवल इसके ज्ञान से निर्णीत होती है, इसकी निर्बलता या पराधीनता ज्ञान के अभाव से निर्णीत होती है, अर्थात् इसकी जाँच उस तथ्य से होती है जिसके द्वारा वस्तुओं को अपर्याप्त कहा जाता है। इसके फलस्वरूप मन उस वस्तु की ओर अति विवश होता है जो अधिकांश में अपर्याप्त प्रत्ययों से निर्मित होती है, और इसलिए यह अपनी शक्ति की अपेक्षा उस वस्तु से अधिक पहचाना जाता है जिसके प्रति यह विवश है, दूसरी ओर अवम क्रियाशील होना पर्याप्त प्रत्ययों से इस तरह निर्मित होना है कि यद्यपि इस अवस्था में भी पहली अवस्था के बराबर अपर्याप्त प्रत्यय विद्यमान हैं, तो भी मन की पहिचान उन प्रत्ययों से होती है जो मानव की सद्भावना की ओर सकेत करते हैं, न कि उन प्रत्ययों से जो मानव की दुर्बलता को प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मन की ये अस्वस्थ अवस्थाएँ और आपत्तियाँ अधिकतर किसी ऐसी वस्तु के अत्यन्त प्रेम से व्यक्त होती हैं जिस में अनेक परिवर्तन होते हैं, और जिस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना हमारी सामर्थ्य में नहीं होता। क्योंकि कोई मनुष्य किसी ऐसी वस्तु की बाबत चिन्ता नहीं करता, जिसमें उसका अनुराग नहीं, और हानियाँ, शकाएँ और वैर-विरोध भी ऐसी वस्तु के अनुराग से ही पैदा होते हैं, जो वस्तुतः उसके अधिकार में नहीं। हम इससे सहज ही चिन्तन कर सकते हैं कि विमल और स्पष्ट ज्ञान और विशेष कर वह तीसरे प्रकार का ज्ञान (भाग २, साध्य ४७, टिप्पणी) जिसका आधार ईश्वर का ज्ञान है, उद्वेगों के सम्बन्ध में क्या कुछ कर सकता है, अर्थात् यदि यह उन्हें उनके बाह्य

पदार्थों का परिणाम होने के कारण पूर्ण रूप में दूर न कर सके (भाग ५, साध्य ३, टिप्पणी सहित, और भाग ५, साध्य ४), तो भी इतना तो कर ही देता है कि वे उद्वेग मन का अति अल्प भाग बने (भाग ५, साध्य १४)। और यह ज्ञान एक ऐसी वस्तु से प्रेम उत्पन्न करता है जो स्थिर और अनादि है (भाग ५, साध्य १५) और जिस प्रेम के हम वास्तव में स्वामी हैं (भाग २, साध्य ४५), और जो उन दोषों से, जो साधारण प्रेम में विद्यमान होते हैं, दूषित नहीं हो सकता, अपितु अधिक तथा और अधिक प्रबल बन सकता है (भाग ५, साध्य १५), मन के अति अधिक भाग को व्याप्त (भाग ५, साध्य १६) और गम्भीर रूप में प्रभावित कर सकता है। और जो कुछ वर्तमान जीवन से सम्बद्ध है, उसकी बाबत मुझे जो कहना था, कह दिया है। इस टिप्पणी के आरम्भ में मैंने उद्वेगों के बाधक उपायों को एकत्र कर दिया है, यह सहज ही प्रत्येक ऐसे मनुष्य को स्पष्ट हो जायगा, जो इस टिप्पणी में कही गयी बातों की ओर, मन और इसके उद्वेगों के लक्षणों की ओर और अन्त में तीसरे भाग में साध्य १ और ३ की ओर कुछ ध्यान दे। क्योंकि अब समय आ गया है कि मैं उन बातों की ओर चलूँ जो शरीर की उपेक्षा में मन की अवधि या समय-विस्तार के साथ सम्बन्ध रखती हैं।

साध्य २१—मन के लिए कल्पना करना या पिछली घटनाओं का याद करना उसी हालत में सम्भव है जब वह शरीर में प्रविष्ट हो।

उपपत्ति—मन शरीर में प्रविष्ट होने के समय में ही अपने शरीर के वास्तविक अस्तित्व को प्रकट करता और शरीर के रूपभेदों के वास्तविक होने का चिन्तन करता है (भाग २, साध्य ८, उपप्रमेय), और इसलिए (भाग २, साध्य १६) यह किसी पदार्थ के वास्तविक अस्तित्व का चिन्तन अपने शरीर के अस्तित्व की अवधि में ही करता है। और इस तरह यह किसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकता (भाग २, साध्य १७, टिप्पणी में कल्पना की परि०), न पिछली घटनाओं को याद कर सकता है, सिवाय उस समय के कि वह शरीर में हो (भाग २, साध्य १८, टिप्पणी में स्मृति की परि०)। इ० सि०

साध्य २२—तो भी ईश्वर में ऐसा प्रत्यय अनिवार्य रूप में स्वीकृत होता है जो इस या उस मानव शरीर के सार को नित्यता के वर्ग के तले व्यक्त करता है।

उपपत्ति—ईश्वर इस या उस मनुष्य के शरीर के अस्तित्व का कारण ही नहीं, अपितु उसका सार भी है (भाग १, साध्य २५), और इसलिए उनका चिन्तन अनिवार्य रूप में ईश्वर के सार के द्वारा होना चाहिए (भाग १, स्वयतथ्य ४),

और यह एक विशेष नित्य अनिवार्यता के अधीन (भाग १, साध्य १६), और यह प्रत्यय अनिवार्य रूप में ईश्वर में स्वीकृत होना चाहिए (भाग २, साध्य ३)।
इ० सि०

साध्य २३—मानव-शरीर के साथ मानव-मन पूर्ण रूप से विनष्ट नहीं हो सकता, अपितु इसका एक अंश ऐसा है जो नित्य रहता है।

उपपत्ति—अनिवार्य रूप में, ईश्वर में एक प्रत्यय है जो मानव-शरीर के सार को प्रकट करता है (पूर्व साध्य), जो इसलिए अनिवार्य रूप में ऐसी वस्तु है जो मानव-मन के सार से सम्बन्ध रखती है (भाग २, साध्य १३)। परन्तु हम मानव-मन को ऐसी कोई अवधि नहीं देते जो काल से परिमित हो सके, सिवाय उस सीमा के कि यह मानव-शरीर के वास्तविक सार को व्यक्त करता है, जिसका समाधान अवधि से और लक्षण-काल से होता है। अर्थात् (भाग २, साध्य ८, उप-प्रमेय) हम उसी समय तक अवधि को उसका गुण बताते हैं, जब तक कि शरीर विद्यमान होता है। परन्तु चूँकि ऐसा होते हुए भी एक ऐसा अंश भी है जिसका चिन्तन ईश्वर के सार के द्वारा एक विशेष नित्य अनिवार्यता के तले होता है, इसलिए यह अंश अनिवार्य रूप में वह नित्य भाग होगा जिसका सम्बन्ध मन के सार से है।

टिप्पणी—जैसा हमने कहा है, यह प्रत्यय जो शरीर के सार को नित्यता के एक विशेष वर्ग के तले व्यक्त करता है, चिन्तन का एक विशेष प्रकार है जो मन के सार में सम्बद्ध है, और जो अनिवार्य रूप में नित्य है। इस पर भी यह नहीं हो सकता कि हम यह स्मरण कर सकें कि हम अपने शरीरों से पहले अस्तित्व रखते थे, क्योंकि इसके कोई चिह्न शरीर में नहीं है, न ही नित्यता काल से लक्षित हो सकती है या काल से कोई सम्बन्ध रख सकती है। परन्तु इस पर भी हम अनुभव करते हैं और जानते हैं कि हम नित्य हैं। क्योंकि मन उन वस्तुओं को भी जिनका यह बुद्धि में चिन्तन करता है वैसे ही अनुभव करता है, जैसे उन वस्तुओं को जो इसकी स्मृति में हैं। क्योंकि मन की आँखें, जिनसे यह वस्तुओं को देखता है; उनकी परीक्षा करता है, प्रमाण है। इसलिए यद्यपि हमें यह याद नहीं कि हम पहले विद्यमान थे, इस पर भी हम अनुभव करते हैं कि हमारा मन, जहाँ तक इसमें शरीर का सार नित्यता के वर्ग के तले निहित है, नित्य है, और इसके अस्तित्व का लक्षण काल से नहीं हो सकता, न इसका समाधान अवधि से हो सकता है। इसलिए जिस अंश में इसमें शरीर का वास्तविक अस्तित्व निहित है, हम मन की अवधि का वर्णन कर सकते हैं और इसके काल का निश्चय कर सकते हैं; और इसी अंश में मन

कि अपने उद्वेगों को परिमित करने में बुद्धिमान् मनुष्य को मूर्ख की अपेक्षा कोई सुविधा नहीं होती, अपितु इसलिए कि हमारे लिए अपनी प्रकृति की शक्ति और अशक्ति दोनों का जानना आवश्यक है, ताकि हम यह जान सकें कि इच्छाओं को परिमित करने में बुद्धि क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। और मैंने कहा है कि इस भाग में मैं केवल मानव-अशक्ति की बाबत विचार करूँगा। क्योंकि उद्वेगों पर बुद्धि के अधिकार की बाबत मैंने अलग विचार करने का निश्चय किया है।

साध्य १८—शेष स्थिति के समान होने की हालत में, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह दुःख से उत्पन्न होनेवाली इच्छा से अधिक बलवान् होती है।

उपपत्ति—इच्छा मनुष्य का सार ही है (उद्वेग, परि० १), अर्थात् (भाग ३, साध्य ७) वह यत्न है जिससे मनुष्य अपनी सत्ता बनाये रखने का यत्न करता है। इसके फलस्वरूप, जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, वह स्वयं सुख के उद्वेग से सहायता या बुद्धि प्राप्त करती है (भाग ३, साध्य ११, टिप्पणी में सुख की परिभाषा), परन्तु जो इच्छा शोक या दुःख से उत्पन्न होती है, वह दुःख के उद्वेग से रुकती या घटती है (वही टिप्पणी), और इसलिए जो इच्छा सुख से उत्पन्न होती है, उसकी शक्ति मानवशक्ति से निर्धारित होती है और उसी के साथ एक बाहरी कारण की शक्ति से; परन्तु जो इच्छा दुःख से उत्पन्न होती है, वह केवल मानव-शक्ति पर ही निर्धारित होती है, और इसलिए पहली इच्छा दूसरी से अधिक बलवान् होती है। इ० सि०

टिप्पणी—इन थोड़े-से साध्यों में मैंने मानव-निर्बलता और चंचलता के कारणों की व्याख्या की है, और यह भी बताया है कि मनुष्य क्यों बुद्धि के उपदेशों पर नहीं चलता। अभी मुझे यह दिखाना बाकी है कि बुद्धि हमें क्या आज्ञा देती है, और कौन-से उद्वेग मानवबुद्धि के नियमों के अनुकूल हैं, और दूसरी ओर कौन-से उनके प्रतिकूल हैं। परन्तु पूर्व इसके कि मैं इसे रेखागणित की विधि से, जिसका हम प्रयोग करते हैं, विस्तार से सिद्ध करना आरम्भ करूँ, यहाँ पहले संक्षेप में यह दिखाना उचित होगा कि बुद्धि के आदेश क्या हैं, ताकि जो कुछ मुझे कहना है उसे सभी सहज ही समझ और देख सकें।

चूँकि बुद्धि प्रकृति के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा नहीं करती, इसलिए यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से प्रेम करना, और जो कुछ उसके लिए हितकर है उसे खोज निकालना चाहिए—मेरा अभिप्राय वस्तुतः हितकर से है— जो कुछ वास्तव में मनुष्य की अधिक पूर्णता का साधन है उसकी इच्छा करनी चाहिए,

(भाग २, साध्य ४३) अपने और अपनी श्रेष्ठता के प्रत्यय के साथ, और इसलिए (उद्वेग परि० २५) इस प्रकार के ज्ञान से सम्भवतम तुष्टि उदित होती है। इ० सि०

साध्य २८—वस्तुओं को तीसरे प्रकार से जानने का प्रयत्न या इच्छा पहले प्रकार के ज्ञान से नहीं, अपितु दूसरे प्रकार के ज्ञान से उदित हो सकती है।

उपपत्ति—यह साध्य स्वतः सिद्ध है। क्योंकि जो कुछ हम विमल और स्पष्ट रूप में समझते हैं, उसे या तो उसके अपने द्वारा समझते हैं, या किसी ऐसी अन्य वस्तु के द्वारा जो अपने द्वारा चिन्त्य होती है। अर्थात् वे प्रत्यय जो हम में स्पष्ट और विमल हैं, या जो तीसरे प्रकार के ज्ञान की ओर सकेत करते हैं (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी २), भजित और अस्पष्ट प्रत्ययों से उदित नहीं हो सकते जो (वही टिप्पणी) पहले प्रकार के ज्ञान की ओर सकेत करते हैं। और इसलिए (उद्वेग परि० १) वस्तुओं को तीसरे प्रकार से जानने की इच्छा पहले प्रकार के ज्ञान से उदित नहीं हो सकती, अपितु दूसरे प्रकार के ज्ञान से ही उदित होती है। इ० सि०

साध्य २९—जो कुछ मन नित्यता-दृष्टिकोण से समझता है, यह शरीर के वास्तविक वर्तमान अस्तित्व के चिन्तन के कारण नहीं समझता, अपितु इसलिए कि यह शरीर के सार का चिन्तन नित्यता-दृष्टिकोण से करता है।

उपपत्ति—जिस अंश में मन अपने शरीर के वर्तमान अस्तित्व का चिन्तन करता है, उसी अंश में यह अवधि का चिन्तन करता है, जो काल से निर्धारित हो सकती है, और उसी अंश में काल के सम्बन्ध में वस्तुओं के चिन्तन की सामर्थ्य रखता है (भाग ५, साध्य २१, और भाग २, साध्य २६)। परन्तु नित्यता का समाधान काल के द्वारा नहीं हो सकता (भाग १, परि० ८ और इसकी टीका)। इसलिए इस अंश में मन वस्तुओं को नित्यता-दृष्टिकोण से विचारने के अयोग्य है। परन्तु बुद्धि का स्वभाव है कि वस्तुओं का नित्यता-दृष्टिकोण से चिन्तन करे (भाग २, साध्य ४४, उपप्रमेय २), और यह मन के स्वभाव से सम्बद्ध है कि यह शरीर के सार का नित्यता-दृष्टिकोण से चिन्तन करे (भाग ५, साध्य २३), और केवल यही दो बातें मन के सार से सम्बद्ध हैं, इसलिए नित्यता-दृष्टिकोण से वस्तुओं का चिन्तन करने की यह शक्ति उसी अंश में मन से सम्बद्ध है, जिस अंश में यह शरीर के सार को नित्यता-दृष्टिकोण से विचारता है। इ० सि०

टिप्पणी—हम वस्तुओं को दो प्रकार से यथार्थ समझते हैं—या तो हम उन्हें किसी विशेष काल और देश के सम्बन्ध में वर्तमान समझते हैं, और या हम चिन्तन

करते हैं कि वे ईश्वर में समाविष्ट हैं, और ईश्वरीय स्वभाव की अनिवार्यता से उदित होती है। परन्तु जिन वस्तुओं को दूसरे प्रकार में यथार्थ समझा जाता है, उनका चिन्तन हम एक विशेष नित्यता-दृष्टिकोण से करते हैं, और उनके प्रत्ययों में ईश्वर का नित्य और अनन्त सार निहित होता है। इसे हम भाग २, साध्य ४५ में दिखा चुके हैं, इसकी टिप्पणी भी देखो।

साध्य ३०—जिस अश में मनुष्य का मन अपने आप को और अपने शरीर को नित्यता-दृष्टिकोण से जानता है, उस अश में उसे अनिवार्य रूप में ईश्वर का ज्ञान होता है, और यह ज्ञान भी कि यह ईश्वर में स्थित है और ईश्वर द्वारा चिन्त्य होता है।

उपपत्ति—नित्यता ईश्वर का सार ही है, जिस अश में कि इसमें अस्तित्व अनिवार्य रूप में निहित है (भाग १, परि० ८)। इसलिए वस्तुओं का नित्यता-दृष्टिकोण से चिन्तन करना उनका उस मात्रा में चिन्तन करना है, जिसमें वे ईश्वर के सार द्वारा वास्तविक सत्ता के रूप में चिन्तित होती हैं, या जिस मात्रा में उनमें ईश्वर के सार द्वारा अस्तित्व निहित होता है। और इसलिए हमारा मन जिस हृद तक यह अपना और अपने शरीर का नित्यता-दृष्टिकोण से चिन्तन करता है, उस हृद तक अनिवार्य रूप में ईश्वर को जानता है, और जानता है कि . इत्यादि।

इ० सि०

साध्य ३१—अपने आकारात्मक कारण के रूप में, तीसरे प्रकार का ज्ञान मन पर आधारित होता है, जिस अश में कि मन नित्य है।

उपपत्ति—मन किसी वस्तु का उसी अश में नित्यता-दृष्टिकोण से चिन्तन करता है, जिस अश में यह अपने शरीर के सार का नित्यता-दृष्टिकोण से चिन्तन करता है (भाग ५, साध्य २९), अर्थात् (भाग ५, साध्य २१, २३) जिस अश में यह नित्य है। और इसलिए (पूर्व साध्य) जिस अश में यह नित्य है, इसे ईश्वर का ज्ञान है, और यह ज्ञान अनिवार्य रूप में पर्याप्त है (भाग २, साध्य ४६) और इसलिए मन, जिस अश में यह नित्य है, उन सब वस्तुओं को समझने के योग्य है जो ईश्वर के इस प्रदत्त ज्ञान का फल हो सकती हैं (भाग २, साध्य ४०), अर्थात् वस्तुओं को तीसरे प्रकार के ज्ञान से समझने के योग्य है (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी २ में इसकी परिभाषा देखो)। और इसलिए मन (भाग ३, परि० १), जिस मात्रा में यह नित्य है, इसका पर्याप्त या आकारात्मक कारण है।

इ० सि०

टिप्पणी—जितना कोई मनुष्य इस ज्ञान में बढ़ा होता है, उतना ही अधिक

उसे अपना और ईश्वर का बोध होता है, अर्थात् उतना ही अधिक वह पूर्ण या कृतार्थ होता है, यह आगामी साध्यों से सर्वदा स्पष्ट होगा। परन्तु यहाँ इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि यद्यपि हमें निश्चय है कि जिस अंश में मन वस्तुओं का नित्यता-दृष्टिकोण से चिन्तन करता है, उतना ही यह नित्य है, तो भी हम इस पर विचार करेंगे, ताकि जो कुछ हम दिखाना चाहते हैं वह अधिक सुगमता से व्याख्यात हो सके और बेहतर समझा जा सके, मानो अभी इसका आरम्भ हुआ और अभी इसने वस्तुओं को नित्यता-दृष्टिकोण से समझना शुरू किया, जैसा अब तक हमने किया है, हम भूल की आशंका के बिना ऐसा कर सकते हैं, यदि हम इतना ध्यान में रखें कि हम उन्हीं उत्तरपक्षों से अनुमान करेंगे जो सर्वथा स्पष्ट हैं।

साध्य ३२—जो कुछ हम तीसरे प्रकार के ज्ञान से समझते हैं, उससे हमें प्रसन्नता होती है, और इसके साथ यह बोध भी होता है कि ईश्वर का प्रत्यय कारण है।

उपपत्ति—इस ज्ञान से अधिकाधिक सम्भव तुष्टि उदय होती है, अर्थात् (उद्वेग परि० २५) प्रसन्नता और इसके साथ मन का प्रत्यय होता है (भाग ४, साध्य २७), और इसलिए (भाग ५, साध्य ३०) यह प्रत्यय भी कि ईश्वर कारण है। इ० सि०

उपप्रेम—तीसरे प्रकार के ज्ञान से अवश्यमेव ईश्वर का बौद्धिक प्रेम उदित होता है। क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान से (पूर्व साध्य), इस विचार से युक्त कि ईश्वर कारण है, प्रसन्नता उदित होती है, अर्थात् (उद्वेग परि० ६) ईश्वर का प्रेम—इस अंश में नहीं कि हम उसे विद्यमान ख्याल करते हैं (भाग ५, साध्य २९), अपितु इस अंश में कि हम ईश्वर को नित्य समझते हैं, ईश्वर के बौद्धिक प्रेम से मेरा यह अभिप्राय है।

साध्य ३३—ईश्वर का बौद्धिक प्रेम जो तीसरे प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न होता है, नित्य है।

उपपत्ति—तीसरे प्रकार का ज्ञान (भाग ५, साध्य ३१, और भाग १, स्वयतथ्य ३) नित्य है, और इसलिए (भाग १, वही स्वयतथ्य) जो प्रेम इससे उत्पन्न होता है, वह भी नित्य है।

टिप्पणी—यद्यपि ईश्वर के प्रति इस प्रेम का कोई आरम्भ नहीं (पूर्व साध्य), तो भी इसमें प्रेम की सभी पूर्णताएँ विद्यमान हैं, जैसी उस प्रकार उदय होने में होती जैसा मैंने पूर्व साध्य के उपप्रेम में फर्ज किया था। भेद इतना ही है कि मन में वे पूर्णताएँ नित्य हैं जिन्हें हमने प्राप्त फ़र्ज किया था, और इसके साथ ईश्वर का प्रत्यय

नित्य कारण की स्थिति में है। क्योंकि यदि मुख पूर्ण अवस्था की ओर सक्रमण है, तो स्पष्ट रूप में आप्तकामता यही है कि मन उस पूर्णता से समृद्ध हो।

साध्य ३४—मन शरीर की स्थिति की अवधि में ही उन्हीं उद्वेगों से प्रभावित हो सकता है जो बहिर्जात उद्वेगों की ओर निर्दिष्ट होते हैं।

उपपत्ति—कल्पना वह प्रत्यय है जिससे मन किसी वस्तु को वर्तमान मानता है (भाग २, साध्य १७ की टिप्पणी में इसकी परि० देखो); इस पर भी इससे बाह्य वस्तु के सार की अपेक्षा मानव शरीर की वर्तमान स्थिति सूचित होती है (भाग २, साध्य १६, उपप्रमेय)। इसलिए उद्वेग जहाँ तक यह शरीर की वर्तमान स्थिति को प्रकट करता है, कल्पना है (उद्वेग की सामान्य परि०); और इसलिए (भाग ५, साध्य २१) मन उन्हीं उद्वेगों से प्रभावित हो सकता है जो शरीर की स्थिति की अवधि में बहिर्जात उद्वेगों की ओर निर्दिष्ट होते हैं। **इ० सि०**

उपप्रमेय—इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धिक प्रेम के अतिरिक्त कोई प्रेम भी नित्य नहीं।

टिप्पणी—यदि हम मनुष्यों के साधारण विचार की ओर ध्यान दें तो हम देखेंगे कि उन्हें अपने मनो की नित्यता का बोध है, परन्तु वे नित्यता को अवधि समझ लेते हैं, और कल्पना या स्मृति को नित्य समझकर विश्वास करते हैं कि यह मृत्यु के बाद कायम रहती है।

साध्य ३५—ईश्वर अपने आप को अनन्त बौद्धिक प्रेम से प्रेम करता है।

उपपत्ति—ईश्वर पूर्ण रूप से अनन्त है (भाग १, परि० ६), अर्थात् (भाग २, परि० ६) ईश्वर की प्रकृति अनन्त पूर्णता का आनन्द लेती है, और यह (भाग २, साध्य ३) अपने प्रत्यय की सगत में—अर्थात् (भाग १, साध्य ११ और स्वयं तथ्य १) अपने कारण के प्रत्यय की सगत में। और हमने भाग ५, साध्य ३२, उपप्रमेय में इसे ही बौद्धिक प्रेम बताया था।

साध्य ३६—ईश्वर के प्रति मन का बौद्धिक प्रेम ईश्वर का वह प्रेम ही है जिससे ईश्वर अपने आपको प्रेम करता है—अनन्त होने की स्थिति में नहीं, अपितु जिस अंश में वह मन के सार के द्वारा, जब नित्यता-दृष्टिकोण से इसका चिन्तन किया जाय, प्रकाशित हो सकता है। अन्य शब्दों में, ईश्वर के प्रति मन का बौद्धिक प्रेम उस अनन्त प्रेम का भाग है जिससे ईश्वर अपने आपको प्रेम करता है।

उपपत्ति—यह मानसिक प्रेम मन की क्रियाओं की ओर निर्दिष्ट होना चाहिए (भाग ५, साध्य ३२, उपप्रमेय और भाग ३, साध्य ३), जो इसलिए ऐसी क्रिया है

जिससे मन, ईश्वर के प्रत्यय को कारण समझते हुए, अपना चिन्तन करता है (भाग ५, साध्य ३२ और इसकी टिप्पणी), अर्थात् (भाग १, साध्य २५, उपप्रमेय और भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) ऐसी क्रिया है जिससे ईश्वर जिस अंश में वह मानव-मन के द्वारा प्रकाशित हो सकता है, अपने प्रत्यय की संगत में अपना चिन्तन करता है। और इसलिए (पूर्व साध्य) यह मानसिक प्रेम उस अनन्त प्रेम का भाग है जिससे ईश्वर अपने आप से प्रेम करता है। इ० सि०

उपप्रमेय—इससे यह नतीजा निकलता है कि ईश्वर, जहाँ तक वह अपने आप से प्रेम करता है, मनुष्यों से प्रेम करता है, और इसके फलस्वरूप मनुष्यों के प्रति ईश्वर का प्रेम और ईश्वर के प्रति मन का बौद्धिक प्रेम एक ही वस्तु है।

टिप्पणी—इससे हम स्पष्ट रूप में समझ लेते हैं कि हमारे मोक्ष, आप्तकामता या स्वाधीनता का स्वरूप क्या है—यह ईश्वर के प्रति स्थिर और नित्य प्रेम या मनुष्यों के प्रति ईश्वर का प्रेम है। और इस प्रेम या आप्तकामता को धर्मपुस्तकों में महिमा का नाम दिया गया है, और यह उचित ही है। क्योंकि यह प्रेम चाहे ईश्वर की ओर संकेत करे, चाहे मन की ओर करे, उसे उचित रूप में मानसिक तुष्टि कह सकते हैं जिसे वास्तव में महिमा से पृथक् नहीं किया जा सकता (उद्देश परि० २५ और ३०)। क्योंकि जहाँ तक यह ईश्वर की ओर संकेत करती है, यह (भाग ५, साध्य ३५) ईश्वर के प्रत्यय से संयुक्त प्रसन्नता है (यदि मैं इस शब्द का प्रयोग कर सकता हूँ) जिस तरह मन की ओर संकेत करने की हालत में है (भाग ५, साध्य २७)। इसके अतिरिक्त चूँकि हमारे मन का सार केवल ज्ञान में है, जिसका मूल और आधार ईश्वर है (भाग १, साध्य १५, और भाग २, साध्य ४७, टिप्पणी), इससे हमारे लिए यह स्पष्ट है कि किस प्रकार और किस हेतु से हमारा मन, अपने सार और अस्तित्व के सबन्ध में, ईश्वर की प्रकृति से उदित होता है और सर्वदा उस पर आधारित है। मैंने इसकी बाबत कहना उचित समझा है ताकि मैं इस उदाहरण से यह दिखा सकूँ कि विशेष वस्तुओं का यह ज्ञान, जिसे मैंने प्रतिभा या तीसरे प्रकार का ज्ञान कहा है (भाग २, साध्य ४०, टिप्पणी २), उस ज्ञान से जिसे मैंने सामान्य या दूसरे प्रकार का ज्ञान कहा है, कितना बड़ा हुआ और सबल है। क्योंकि यद्यपि मैंने पहले भाग में सामान्य रूप से दिखा दिया था कि सारी वस्तुएँ (और इसलिए मनुष्य का मन) अपने सार और अस्तित्व के लिए ईश्वर पर आधारित हैं, तो भी वह प्रमाण पूर्णरूप से उचित और असंशय होने पर भी मन को उस रीति से प्रभावित नहीं करता, जैसा उस हालत में होता है जब हम यह

नी० - १७

अनुमान किसी ऐसी वस्तु के सार से करते हैं जिसे हम ईश्वर पर आधारित बताते हैं।

साध्य ३७—सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इस बौद्धिक प्रेम के प्रतिकूल है या इसे दूर कर सकती है।

उपपत्ति—यह बौद्धिक प्रेम, अनिवार्य रूप में, मन की प्रकृति का परिणाम है, यदि हम मन को एक नित्य सत्य समझें जो ईश्वर की प्रकृति से प्रकट हुआ है (भाग ५, साध्य ३३ और २९)। इसलिए यदि कोई वस्तु इसके विपरीत है, तो वह अवश्यमेव सत्य के भी विपरीत है; और इसके परिणाम-स्वरूप जो कुछ इस प्रेम को मिटा सकता है, वह सत्य को मिथ्या बनाने में भी समर्थ होगा, जो (जैसा स्वतः सिद्ध है) अर्थहीन है। इसलिए सृष्टि में कोई ऐसी वस्तु नहीं, इत्यादि।

इ० सि०

टिप्पणी—चौथे भाग का स्वयत्तविशेष वस्तुओं की ओर संकेत करता है, जिस अंश में उन्हें विशेष देश और काल के सबन्ध में विचारा जाता है। मेरे विचार में इसकी बावत किसी को सन्देह नहीं होगा।

साध्य ३८—मन वस्तुओं को जितना अधिक दूसरे और तीसरे प्रकार के ज्ञान से जानता है, उतना ही कम यह अशुभ उद्वेगों से ग्रासित होगा और उतना ही कम यह मृत्यु से भयभीत होगा।

उपपत्ति—मन का सार ज्ञान है (भाग २, साध्य ११)। इसलिए जितनी अधिक वस्तुओं को मन दूसरे और तीसरे प्रकार के ज्ञान से समझता है, उतना ही अधिक इसका वह अंश होगा जो विद्यमान रहता है (भाग ५, साध्य २९ और २३), और इसलिए (पूर्व साध्य) उतना ही अधिक इसका वह अंश होगा, जिसे वे उद्वेग जो हमारी प्रकृति के विपरीत हैं, अर्थात् (भाग ४, साध्य ३०) अशुभ हैं, स्पर्श नहीं करते। इसलिए जितना अधिक मन वस्तुओं को दूसरे और तीसरे प्रकार के ज्ञान से समझता है, उतना ही अधिक इसका वह अंश होगा जो सुरक्षित रहता है और फलतः यह उद्वेगों के कम अधीन होगा, इत्यादि। **इ० सि०**

टिप्पणी—अब हम उस विषय को, जिसकी बावत मैंने भाग ४, साध्य ३९ की टिप्पणी में तनिक कहा था, और इस भाग में व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की थी, समझने हैं—अर्थात् जितना अधिक विमल और स्पष्ट मन का ज्ञान होता है और फलतः जितना अधिक मन ईश्वर से प्रेम करता है, मृत्यु उतनी ही कम हानिकारक होती है। इसके अतिरिक्त, चूंकि (भाग ५, साध्य २७) तीसरे प्रकार के ज्ञान से

होते हैं, वे (भाग ४, साध्य ९, उपप्रमेय) भविष्य से नहीं, अपितु वर्तमान से सबन्ध रखती हैं।

साध्य ६१—जो इच्छा बुद्धि का परिणाम होती है वह अतीव या असंयमित नहीं हो सकती।

उपपत्ति—इच्छा (उद्वेग परि० १) निरपेक्ष रूप में मनुष्य का सार है, जहाँ तक किसी रूप में, कुछ करने के लिए इसे निर्णीत समझा जाता है। इसलिए जो इच्छा बुद्धि से उत्पन्न होती है, अर्थात् (भाग ३, साध्य ३) हम में हमारे क्रियाशील होने की स्थिति में पैदा होती है, वह मनुष्य का सार या प्रकृति ही है, जिस अंश में यह ऐसी क्रियाओं के करने में निर्णीत समझी जाती है, जिनका मनुष्य के सार से ही पर्याप्त चिन्तन हो सकता है (भाग ३, परि २)। इसलिए, यदि यह इच्छा अति अधिक हो, तो मानवप्रकृति अपनी स्थिति में अपने आप को लॉभ जायगी, या अपनी योग्यता से अधिक कुछ करेगी, जो एक स्पष्ट विरोध है। और इसलिए यह इच्छा अतीव नहीं हो सकती। इ० सि०

साध्य ६२—जिस अंश में मन किसी वस्तु का चिन्तन बुद्धि के आदेशानुसार करता है, उस अंश में चाहे वह प्रत्यय किसी वर्तमान वस्तु का हो या भूत या भविष्य का, वह एक समान प्रभावित होगा।

उपपत्ति—जो कुछ भी मन बुद्धि के नेतृत्व में चिन्तन करता है, यह इसे सर्वथा अनिवार्यता या नित्यता के एक विशेष प्रकार के नीचे चिन्तन करता है (भाग २, साध्य ४४, उपप्रमेय २) और एक ही निश्चितता से प्रभावित होता है (भाग २, साध्य ४३ और इसकी टिप्पणी)। इसके फलस्वरूप, चाहे वह प्रत्यय किसी भविष्य, भूत या वर्तमान वस्तु का हो, मन उसका चिन्तन एक ही अनिवार्यता से करेगा और एक ही निश्चितता से प्रभावित होगा; और चाहे प्रत्यय वर्तमान, भूत या भविष्य वस्तु का हो, इस पर भी वह एक-जैसा सत्य होगा (भाग २, साध्य ४१), अर्थात् (भाग २, परि० ४) वह पर्याप्त प्रत्यय के अभिन्न गुण रखेगा। और इसलिए जिस अंश में मन किसी वस्तु का चिन्तन बुद्धि के आदेशों के अनुसार करता है, यह एक ही रूप में प्रभावित होता है, चाहे वह प्रत्यय किसी भविष्य, भूत या वर्तमान वस्तु का हो। इ० सि०

टिप्पणी—यदि हमें वस्तुओं की अवधि का पर्याप्त ज्ञान हो सकता, और हम बुद्धि की सहायता से उनके अस्तित्व का समय निश्चित कर सकते, तो हम भविष्य और वर्तमान वस्तुओं को एक ही दृष्टि से देखते, और मन उस प्रेम को, जिसे

हुआ, अपना, ईश्वर का और बाह्य पदार्थों का तीव्र बोध रखता है। इसलिए इस जीवन में हमारा प्रमुख प्रयत्न यह होता है कि हम बच्चे के शरीर को बदले, जहाँ तक इसकी प्रकृति ऐसा करने देती और इसमें सहायक होती है, ताकि यह बहुत-सी क्रियाएँ कर सके और ऐसे मन से संबद्ध हो सके जिसे ईश्वर का, अपना और अन्य वस्तुओं का अच्छा ज्ञान हो, या जो कुछ इसकी स्मृति या कल्पना से संबन्ध रखता है, वह इसकी बुद्धि की तुलना में किसी महत्त्व का न रहे, जैसा मैंने पूर्व साध्य की टिप्पणी में कहा।

साध्य ४०—जितनी अधिक पूर्णता किसी वस्तु में होती है, उतनी ही अधिक यह क्रियाशील और उतनी ही कम यह परवश होती है; और इसके विपरीत, जितनी अधिक यह क्रियाशील होती है, उतनी ही अधिक यह पूर्ण होती है।

उपपत्ति—जितनी अधिक पूर्णता किसी वस्तु में होती है, उतनी ही अधिक सत्ता इसमें होती है (भाग २, परि० ६), और इसलिए (भाग ३, साध्य ३ और इसकी टिप्पणी) उतनी ही अधिक यह क्रियाशील और उतनी ही कम पराधीन होती है। यह उपपत्ति विपरीत क्रम में भी चल सकती है; जिससे यह परिणाम निकल सकता है कि जितनी अधिक कोई वस्तु क्रियाशील हो, उतनी ही अधिक पूर्ण यह होती है। ६० सि०

उपप्रेम—इससे यह परिणाम निकलता है कि मन का जो भाग बचा रहता है, जो कुछ भी उसकी मात्रा हो, वह शेष भाग से अधिक पूर्ण होता है। क्योंकि मन का नित्य या अमर भाग (भाग ५, साध्य २३, और २९) बुद्धि है, जिसके द्वारा ही हम कर्त्ता कहे जाते हैं (भाग ३, साध्य ३); परन्तु वह भाग जिसे हम विनष्ट होता देखते हैं, कल्पना है (भाग ५, साध्य २१) जिसके द्वारा ही हम विवश कहे जाते हैं (भाग ३, साध्य ३, और उद्वेग की सामान्य परि०)। और इसलिए (पूर्व साध्य), पहला भाग, जो कुछ भी इसकी मात्रा हो, शेष भाग से अधिक पूर्ण है। ६० सि०

टिप्पणी—मैंने मन की बाबत, जिस अंश में इसे शरीर के अस्तित्व से असंबद्ध ख्याल किया जाता है, यही दिखाने का सकल्प किया था। इससे, और भाग १, साध्य २१ से, और अन्य साध्यों से यह स्पष्ट है कि हमारा मन, जिस अंश में यह समझता है, चिन्तन का एक अनादि आकार है जो एक अन्य अनादि आकार से निर्णीत होता है, और यह आकार फिर एक अन्य आकार से, और यह क्रम अनन्त काल तक चलता है; इस तरह वे सब एक साथ ईश्वर की अनादि और अनन्त बुद्धि का अंश होते हैं।

हुआ, अपना, ईश्वर का और बाह्य पदार्थों का तीव्र बोध रखता है। इसलिए इस जीवन में हमारा प्रमुख प्रयत्न यह होता है कि हम बच्चे के शरीर को बदले, जहाँ तक इसकी प्रकृति ऐसा करने देती और इसमें सहायक होती है, ताकि यह बहुत-सी क्रियाएँ कर सके और ऐसे मन से संबद्ध हो सके जिसे ईश्वर का, अपना और अन्य वस्तुओं का अच्छा ज्ञान हो, या जो कुछ इसकी स्मृति या कल्पना से संबन्ध रखता है, वह इसकी बुद्धि की तुलना में किसी महत्त्व का न रहे, जैसा मैंने पूर्व साध्य की टिप्पणी में कहा।

साध्य ४०—जितनी अधिक पूर्णता किसी वस्तु में होती है, उतनी ही अधिक यह क्रियाशील और उतनी ही कम यह परवश होती है; और इसके विपरीत, जितनी अधिक यह क्रियाशील होती है, उतनी ही अधिक यह पूर्ण होती है।

उपपत्ति—जितनी अधिक पूर्णता किसी वस्तु में होती है, उतनी ही अधिक सत्ता इसमें होती है (भाग २, परि० ६), और इसलिए (भाग ३, साध्य ३ और इसकी टिप्पणी) उतनी ही अधिक यह क्रियाशील और उतनी ही कम पराधीन होती है। यह उपपत्ति विपरीत क्रम में भी चल सकती है; जिससे यह परिणाम निकल सकता है कि जितनी अधिक कोई वस्तु क्रियाशील हो, उतनी ही अधिक पूर्ण यह होती है। ६० सि०

उपप्रमेय—इससे यह परिणाम निकलता है कि मन का जो भाग बचा रहता है, जो कुछ भी उसकी मात्रा हो, वह शेष भाग से अधिक पूर्ण होता है। क्योंकि मन का नित्य या अमर भाग (भाग ५, साध्य २३, और २९) बुद्धि है, जिसके द्वारा ही हम कर्त्ता कहे जाते हैं (भाग ३, साध्य ३); परन्तु वह भाग जिसे हम विनष्ट होता देखते हैं, कल्पना है (भाग ५, साध्य २१) जिसके द्वारा ही हम विवश कहे जाते हैं (भाग ३, साध्य ३, और उद्वेग की सामान्य परि०)। और इसलिए (पूर्व साध्य), पहला भाग, जो कुछ भी इसकी मात्रा हो, शेष भाग से अधिक पूर्ण है। ६० सि०

टिप्पणी—मैंने मन की बाबत, जिस अंश में इसे शरीर के अस्तित्व से असंबद्ध ख्याल किया जाता है, यही दिखाने का सकल्प किया था। इससे, और भाग १, साध्य २१ से, और अन्य साध्यों से यह स्पष्ट है कि हमारा मन, जिस अंश में यह समझता है, चिन्तन का एक अनादि आकार है जो एक अन्य अनादि आकार से निर्णीत होता है, और यह आकार फिर एक अन्य आकार से, और यह क्रम अनन्त काल तक चलता है; इस तरह वे सब एक साथ ईश्वर की अनादि और अनन्त बुद्धि का अंश होते हैं।

नहीं, यह निश्चय कर ले कि वह मन के बिना ही जियेगा। मुझे यह सब इतना अर्थ-हीन प्रतीत होता है कि खंडित होने का पात्र ही नहीं।

साध्य ४२—आप्तकामता श्रेष्ठ आचार का प्रतिफल नहीं, अपितु श्रेष्ठ आचार ही है। हमें इसमें इसलिए आनन्द मनाना नहीं चाहिए कि वह काम-वासना के रोकने का फल है, परन्तु, इसके विपरीत, चूँकि हम इसमें आनन्द मनाते हैं; हम अपनी कामवासनाओं को रोक सकते हैं।

उपपत्ति—आप्तकामता ईश्वर के प्रति प्रेम ही है (भाग ५, साध्य १६, और इसकी टिप्पणी), और यह प्रेम तीसरे प्रकार के ज्ञान से उदित होता है (भाग ५, साध्य ३२, उपप्रमेय)। और इसलिए यह प्रेम (भाग ३, साध्य ५९ और ३) मन की ओर निर्दिष्ट होना चाहिए, जिस अंश में कि मन क्रियाशील है, और इसलिए यह श्रेष्ठ आचार ही है (भाग ४, परि० ८), यह पहला विचारांश है। फिर जितना अधिक मन इस दैवी प्रेम या आप्तकामता में आनन्द मनाता है, उतना ही अधिक यह समझता है (भाग ५, साध्य ३२), अर्थात् (भाग ५, साध्य ३, उप-प्रमेय) उतना ही अधिक इसे उद्वेगों पर अधिकार होता है, और (भाग ५, साध्य ३८) उतना ही कम यह अशुभ उद्वेगों के वशीभूत होता है। और इसलिए चूँकि मन इस दैवी प्रेम या आप्तकामता में आनन्द मनाता है, यह कामवासनाओं को रोकने की शक्ति रखता है, क्योंकि कामवासनाओं को रोकने की मानव-शक्ति बुद्धि ही है। इसलिए कोई मनुष्य आप्तकामता में इसलिए आनन्द नहीं मानता कि उसने कामवासनाओं को रोक लिया है, अपितु इसके विपरीत, वासनाओं को रोकने की शक्ति स्वयं आप्तकामता से उदित होती है। **इ० सि०**

टिप्पणी—इस तरह जो कुछ मुझे उद्वेगों पर मन के अधिकार की बाबत या मन की स्वाधीनता की बाबत बताना था, उसे मैं समाप्त कर चुका हूँ। इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि बुद्धिमान् पुरुष अज्ञानी पुरुष से, जो वासनाओं के मार्ग-प्रदर्शन में ही चलता है, कितना आगे और कितना बलवान् है। क्योंकि अज्ञानी पुरुष बाह्य कारणों से अनेक रूपों में व्याकुल होने के अतिरिक्त, कभी मन की एक यथार्थ तुष्टि का भी उपभोग नहीं करता, और वह अपनी बाबत, ईश्वर और अन्य वस्तुओं की बाबत लगभग अबोध ही जीवन व्यतीत करता है, और ज्यों ही उसकी वशीभूतता का अन्त होता है, उसका अन्त भी हो जाता है। इसके विपरीत, ज्ञानी पुरुष, जहाँ तक उसे ज्ञानी समझा जाता है, शायद ही कभी आत्मा में व्याकुल होता हो; उसे अपना, ईश्वर का और पदार्थों का एक विशेष अनिवार्यता से

ज्ञान होता है; वह कभी समाप्त नहीं होता, और मन की तुष्टि का उपभोग करता है। यदि वह मार्ग, जिसे मैंने इस गतव्य की ओर जाता दर्शाया है, बहुत जटिल है, तो भी इसका पता लग सकता है। और स्पष्टतः जब यह मार्ग बिरले को ही मिलता है, तो इसे बहुत कठिन होना ही चाहिए। क्योंकि यदि मुक्ति निकट और सुलभ होती, तो लगभग सभी इसकी ओर से उदासीन क्यों होते? क्योंकि सभी श्रेष्ठ पदार्थ जितने कम प्राप्य है, उतनी ही कठिनता से प्राप्त होनेवाले है।

पर्यायवाची शब्द

अंग्रेजी-हिन्दी

रेखागणित संबंधी

Definition	परिभाषा
Axiom	स्वयतथ्य
Postulate	स्वीकृत पक्ष
Proposition	साध्य
Proof	उपपत्ति
Q. E. D.	इदम् सिद्धम् (इ० सि०)
Corollary	उपप्रमेय
Lemma	प्रमेयिका
Note	टिप्पणी
Explanation	टीका

सामान्य

Absolute	निरपेक्ष
Adequate	पर्याप्त
Appearance	आभास
Appendix	परिशिष्ट
Aspect	पक्ष, पहलू
Attribute	गुण
Blessedness	आप्तकामता, कृतार्थता
Body	भौतिक पदार्थ, शरीर
Cause	कारण, हेतु
Causa Sin	स्वकारण
Conception	विचार, प्रत्यय
Consciousness	चेतना

Consciousness, State of	चेतना-अवस्था
Contingent	आकस्मिक
Contrary	विपरीत
Determined	निर्णीत
Determinism	अनिवार्यतावाद
Duration	अवधि
Effect	फल, परिणाम
Evd	उद्देश्य
Emotion	उद्वेग
Essence	सार, तत्त्व
Eternity	नित्यता
Ethics	नीति
Evil	अशुभ, अभद्र
Existence	अस्तित्व
Experience	अनुभव
Extension	विस्तार
Falsity	मिथ्यात्व
Finite	ससीम, सीमित
Formal	आकारात्मक
Freedom	स्वाधीनता
General	सामान्य
Good	शुभ, भद्र
Good, Highest	नि श्रेयस
Idea	प्रत्यय
Image	चित्र, प्रतिबिम्ब
Imagination	कल्पना
Inadequate	अपर्याप्त
Individual	व्यक्ति
Infinite	असीम, अनन्त
Infinity	अनन्तता
Intellect	बुद्धि
Intuition	अन्तर्ज्योति

Mind	मन
Mode	आकार
Modification	रूपभेद
Motion	गति
Nature	प्रकृति, सर्ग
Natura Naturans	सर्जक सर्ग
Natura Naturata	सर्जित सर्ग
Necessity	अनिवार्यता
Negative	अभावात्मक
Object	विषय
Opinion	सम्मति
Order	व्यवस्था
Passion	बहिर्जति उद्वेग
Passivity	वशीभूतता, आक्रान्तता
Perfection	पूर्णता
Positive	भावात्मक
Preface	प्राक्कथन
Privation	अभाव, वंचित होना
Property	गुण
Purpose	प्रयोजन
Reality	सत्ता
Reason	बुद्धि
Rest	अगति
Space	देश
Thought	चिन्तन
Time	काल
Universal	सामान्य
Virtue	वृत्त, सदाचार
Volition	संकल्प
Will	संकल्प-शक्ति

